'संस्कृत रूपकों में पूर्वरङ्ग-विधान-
एक समीक्षात्मक अध्ययन'

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

कीर्ति शुक्ला

एम.ए.(नेट) संस्कृत

✡

शोध-निर्देशिका

प्रो. मृदुला त्रिपाठी

विभागाध्यक्ष संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

✡

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२००४

प्राक्कथन

साहित्य में भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति एवं भारतीय शास्त्र के चिन्तन का चक्र घूमता रहता है। संस्कृत-साहित्य किसी एक व्यक्ति की, किसी समय विशेष की परिकल्पना मात्र नहीं है अपितु नाना शास्त्रों से तथ्यों को ग्रहण कर ही साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का समारम्भ हुआ। फलस्वरूप राजशेखर ने साहित्य को 'सकलविद्या स्थानैकायतनः' तथा 'चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः' कहा है। साहित्य की प्रवृत्ति रसानुभूति के रूप में विद्यमान है जिसे 'सकल प्रयोजन मौलिभूतम्' कहा गया है। काव्यशास्त्रियों ने रस सम्बन्धी समस्त समस्याओं का समाधान दार्शनिक पृष्ठभूमि पर किया तथा काव्य को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्ति के रूप में पुरुष कहा।

संस्कृत-साहित्य में दृश्यकाव्य के चिन्तन की परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है जो दृश्यकाव्य की प्रधानता को वृहत् आयाम देती है।

संस्कृत-साहित्य के दृश्यकाव्यों में नाट्य सरसता, स्वाभाविकता, सरलता का एवं जन संस्कृति का जैसा सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण नाट्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सृजनशीलता एवं सौन्दर्यबोध मेरे अध्ययन के प्रिय विषय रहे हैं जिसका केन्द्र बिन्दु नाट्य साहित्य है। साहित्य के प्रति मेरा लगाव बचपन से ही था किन्तु एम०ए० में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करते हुए यह लगाव अधिक पल्लवित और पुष्पित हुआ जिसके फलस्वरूप मैंने अपने शोध का विषय संस्कृत नाट्य साहित्य ही रखा।

भारतीय वाङ्मय के विशाल इतिहास में संस्कृत नाट्यशास्त्र का अपना स्वतन्त्र स्थान है। जितना गम्भीर एवं तात्विक विश्लेषण संस्कृत नाट्यशास्त्र का हमारे प्राचीन मनीषी विद्वानों ने किया वैसा कुछ विद्वानों को छोड़कर कोई नहीं कर सका। नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि को काव्यशास्त्र का आदि प्रवर्तक कहा जाता है।

नाट्य साहित्य में संस्कृति के समावेश का स्पष्टीकरण 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ' के द्वारा होता है। समाज में जो कुछ भी हो रहा है उन सबका समावेश अवस्था के अन्तर्गत होता है। समाज के यही क्रियाकलाप संस्कृति के घटक तत्त्व हैं। इस प्रकार अवस्था के अनुकरण से संस्कृति का समावेश नाट्य में स्वतः ही हो जाता है। नाट्यशास्त्र में भी नाट्य में लोक के समावेश पर आग्रह किया गया है।

भरतमुनि के अनुसार 'लोकवृत्तानुकरणम् नाट्यम्' अर्थात् स्पष्ट है कि साहित्य में लोक का अनुकरण भी होता है और उसका सृजन भी लोकोपदेश के लिए ही होता है। नाट्य काव्य में संस्कृति का समावेश इसलिए होता है कि समाज उससे शिक्षा व प्रेरणा प्राप्त कर सके। अतः नाट्यशास्त्र ने 'लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद्भविष्यति' कहा है।

इस नाट्य रूप संस्कृत रूपकों का रचना विधान विशिष्ट प्रकार का होता है। प्रायः सभी रूपकों में नाटक की परिचयात्मक पृष्ठभूमि का परिचय देने के लिए आरम्भ में पूर्वरङ्ग का विधान प्राप्त होता है। पूर्वरङ्ग का प्रयोग प्रत्येक नाटककार ने अलग-अलग प्रकार से किया। यद्यपि नाट्यशास्त्र मे भरतमुनि तथा अन्य नाट्यशास्त्र के लक्षणकारों ने पूर्वरङ्ग का विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन किया तथापि लक्षणकारो के विवेचन के भी विविध रूप हैं। विचारणीय है कि रूपककारों ने उसका पालन किस प्रकार किया? साहित्यिक पृष्ठभूमि ने पूर्वरङ्ग विधान के प्रायोगिक पक्ष को कितना प्रभावित किया? तथा रूपक भेदों की संघटना ने भी पूर्वरङ्ग-विधान को किस अंश तक प्रभावित किया? यह समस्त प्रश्न विचार सापेक्ष है।

अतः प्रत्येक रूपक के प्रारम्भ में प्रयुक्त पूर्वरङ्ग का समीक्षात्मक अध्ययन रोचक तथ्य है। साथ हीपूर्वरङ्गगत विषयों का वास्तविक स्वरूप अन्वेषणीय है। अत—एव समुपलब्ध संस्कृत रूपकों का पूर्वरङ्गगत अध्ययन शोध-प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में समस्त पूर्वरङ्ग की जो परिचर्चा की है वह संस्कृत-साहित्य के किसी एक अङ्ग पर केन्द्रित न होकर समस्त साहित्य को अपने परिकर में समेटती है।

संस्कृत-साहित्य के नाट्य के विविध भेदों मे प्रमुख नाटक में पूर्वरङ्ग का सर्वाधिक प्रकट रूप दिखाई देता है साथही अन्य रूपक भेदों में कुछ न्यून भाव से इसका प्रचलन प्रतीत होता है। नाटक में अधिक स्पष्ट होने का कारण यह है कि ये जन-जीवन के अधिक समीप होते हैं परन्तु अन्य भी भिन्न नही है क्योंकि नाट्य भेदों की दृश्यात्मकता उन्हे समाज से दूर नहीं होने देती।

नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग एक विशाल एवं जटिलविषय है। इसके अनेक आयाम अनेक अङ्ग एवं अनेक पक्ष हैं। संस्कृत में भरतमुनि से लेकर धनञ्जय एवं विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी इसके विविध पक्षों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है।

इसी क्रम में मेरे द्वारा भी संस्कृत रूपकों में पूर्वरङ्ग की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न शोध-प्रबन्ध में किया गया। जिसके प्रणयन में मैंने अनेक संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वानों के ग्रन्थों से तथा नाटक आदि से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहायता ली जिसके विशद ज्ञान से लाभान्वित होने का सुयोग प्राप्त हुआ, इसके लिए मैं उन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अपनी शोध निर्देशिका प्रो. मृदुला त्रिपाठी के प्रति मैं अपनी प्रणति निवेदित करती हूँ जिन्होंने न केवल अपना अमूल्य समय देकर इस शोध को लिखने में मेरा मार्ग दर्शन किया अपितु शोध कार्य करने के लिए सदैव प्रोत्साहित भी किया। साथ ही डॉ. हरिदत्त शर्मा के प्रेरणा, सहयोग एवं प्रोत्साहन का स्मरण करती हूँ क्योंकि इनके शुभ आशीर्वादों एवं विद्वत्तापूर्ण परामर्शों से ही यह शोध प्रस्तुत रूप को प्राप्त हुआ है। गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के आचार्य डॉ० गोपराजू रामा, डॉ० विश्वम्भर नाथ गिरि जी ने भी इस शोध के लेखन में पथ-प्रदर्शन किया अतः इनके सुझावों के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

अपने इस शोधकार्य के मूल प्रेरणा स्रोत एवं आरम्भ से अन्त तक इसकी पूर्णता में सक्रिय सहयोग देने वाले अपने संस्कृत-विभाग के समस्त गुरूजनों के प्रति मैं श्रद्धावनत् हूँ। इस प्रकार जिन विद्वानों एवं कृतियो ने शोध-प्रबन्ध मे प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। सम्पूर्ण नाट्य भेदों में जिस प्रकार पूर्वरङ्ग-विधान के दर्शन हुए उनके विवेचन का प्रयास इस शोध में किया गया।

'आपरितोषाद् विदुषां, न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' कालिदास की इस उक्ति के अनुसार सुधी विद्वज्जनों की अनुकूल प्रतिक्रिया ही मेरे इस प्रयास की सार्थकता होगी।

२६ अगस्त २००४ श्रद्धावनत्

कीर्ति शुक्ला
कीर्ति शुक्ला

अनुक्रमणिका

संस्कृत रूपकों व उपरूपकों का स्वरूप एवं रङ्गमञ्च विधान

१. रूपकों का स्वरूप

(i) नाटक

(ii) प्रकरण

(iii) भाण

(iv) प्रहसन

(v) डिम

(vi) व्यायोग

(vii) समवकार

(viii) वीथी

(ix) ईहामृग

(x) उत्सृष्टिकाङ्क या अङ्क

२. उपरूपकों का स्वरूप

(i) नाटिका

(ii) प्रकरणिका

(iii) भाणिका

(iv) डोम्बी

(v) गोष्ठी

(vi) नाट्यरासक

(vii) काव्य

(viii) प्रेक्षण या प्रेङ्खण

(ix) रासक

(x) श्रीगदित

(xi) विलासिका

पूर्वरङ्ग का अनुपालन

१. **प्रकरण**

(i) मृच्छकटिकम् प्रकरण

२. **प्रहसन**

(i) भगवद्ज्जुकीयम् प्रहसन

(ii) मत्तविलास प्रहसन

(iii) हास्यचूड़ामणि प्रहसन

(iv) स्नुषाविजय प्रहसन आदि

३. **भाण**

(i) कर्पूरमञ्जरी भाण

(ii) मुकुन्दानन्द भाण

(iii) शृंगार भूषण भाण

(iv) शृङ्गारतिलक भाण

(v) रससदन भाण

४. **व्यायोग**

(i) किरातार्जुनीयम् व्यायोग

(ii) सौगन्धिकाहरण व्यायोग

(iii) कैलाशमाथविजय व्यायोग

५. **ईहामृग**

(i) रूक्मिणीहरण ईहामृग

६. **समवकार**

(i) समुद्रमंथन समवकार

उपरूपकों में पूर्वरङ्ग

७. **नाटिका**

(i) प्रियदर्शिका नाटिका

"प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मैं अपने पूजनीय

माता-पिता

के चरणों में अर्पित करती हूँ"

कीर्ति शुक्ला

प्रथम अध्याय

संस्कृत रूपकों की अवधारणा

संस्कृत-साहित्य की सभी विधाओं और ललित कलाओ से पूर्ण तथा लोकरञ्जन की अद्भुत शक्ति से ओत-प्रोत नाट्य विश्व वाङ्मय के गर्भ से कब और कैसे आविर्भूत हो गया, यह कहना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार अकस्मात् हिरण्यगर्भ से यह नामरूपात्मक जगत् कब और कैसे प्रस्फुटित हुआ।

अनुमानतः सर्वप्रथम मानव ने जब अपने हृदयगत भावो को सङ्केतों व विभिन्न मुद्राओं द्वारा दूसरों के सम्मुख प्रकट किया और किसी व्यक्ति अथवा भौतिक जगत् की क्रिया-प्रक्रिया को किसी अन्य के सामने अपने अङ्गसञ्चालन, विमोचन आदि से स्पष्ट करने का प्रथम प्रयास किया, उसी दिन अभिनय का सूत्रपात और नाट्य का जन्म हुआ।

कठोपनिषद् में जीवन-यापन के लिए श्रेयमार्ग एवं प्रेयमार्ग का निर्देश है, ये दोनों मार्ग सत्य के आयाम हैं। विश्व में इन मार्गों की अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों से होती है, किन्तु कुछ केवल श्रेय सापेक्ष्य, कुछ प्रेय सापेक्ष्य होते हैं परन्तु काव्य या साहित्य उभय सापेक्ष हैं। इसी कारण 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के प्रतिष्ठापक काव्य को श्रेष्ठ मानते हुए 'सद्यः परिनिर्वृति' काव्य दो प्रकार का कहा गया है[१] - (क) दृश्यकाव्य, (ख) श्रव्यकाव्य।

श्रव्यकाव्य की प्रधान सम्पदा वर्णन है एवं श्रव्यकाव्य का आनन्द लेने में श्रवणेन्द्रिय सहायक है। श्रव्यकाव्य की परिधि में गीतिकाव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य की परिगणना होती है। दृश्यकाव्य की परिधि में उन काव्य रूपों की गणना होती है जो अभिनेय हों। दृश्यकाव्य का आनन्द लेने में श्रवणेन्द्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी

---

[१] दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम् । (साहित्यदर्पण-परिच्छेद-६)

सहायक होती है। श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य मे तत्त्वतः अन्तर नहीं है, दोनों मे शब्द तथा अर्थ का सहभाव, रसात्मकता, गुणोत्कर्ष, अलंकार प्रभृत्ति का प्राधान्य रहता है। प्रायः इन दोनो काव्यों में अभिनेयता, अनभिनेयता का अन्तर है।[१] दृश्यकाव्यो मे अभिनय की प्रधानता रहती है।[२] इसलिए नाट्य काव्य समस्त काव्य विधाओं में सर्वविशिष्ट एवं रम्यातिरम्य है क्योंकि इसमे जीवन और जगत् का साक्षात् जीवन्त रूप प्रतिबिम्बित होता है।

नाट्य का स्वरूप- दृश्यकाव्य रूप नाट्य के स्वरूप संदर्भ मे नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने वेद और इतिहास के समन्वय से नाट्य रचना स्वीकार की है।[३] भरतमुनि के अनुसार जिसमें सातों द्वीपो के निवासियों, देवताओ, असुरो, राजाओं, ऋषियो, गृहस्थो के कार्यों व चरित्रों के अनुकरण या प्रदर्शन[४] तथा लोकरञ्जन में नाना अवस्थाओं से युक्त है, अङ्गादि अभिनयों के माध्यम से उसकी नाट्य संज्ञा होती है।[५]

नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने नाट्य के स्वरूप को प्रदर्शित किया तथा 'त्रैलोक्यस्यास्यसर्वस्यं नाट्यं भावानुकीर्तनम्'[६] इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इस सिद्धान्तानुसार नाट्य न केवल किसी व्यक्ति विशेष के चरित्रादि का अनुभावन अर्थात् प्रत्यक्ष कराने वाला है न मात्र अनुकरण रूप है अपितु वह साधारणीकरण व्यापार द्वारा

---

१ तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम् (हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृष्ठ- १४९)

२ दृश्यं तत्राभिनेयम् (साहित्यदर्पण-६ परिच्छेद ९)

३ वेदेतिहाससंयोगाद्ब्रह्मणा नाट्यभाविष्कृतमिति भरतः।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र १/११७)

४ देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शनकम् ।। (नाट्यशास्त्र-अध्याय १/११८)

५ योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सोऽङ्गाद्याभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते।। (नाट्यशास्त्र-अध्याय १९/१४४)

६ नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।। (नाट्यशास्त्र १/१०६)

साधारणीकृत रूप के सारे संसार के भावों का अनुकीर्तन रूप है। अनुकीर्तन का तात्पर्य है शब्द द्वारा कथन क्योंकि बिना शब्दों के साधारणीकरण का व्यापार सम्भव नही है।

अत एव अनुभावन नहीं अनुकीर्तन ही नाट्य है, इसी के समर्थक अभिनवगुप्त भी हैं। ये अनुकीर्तन को नाट्य का रूप स्वीकार करते हैं, परन्तु अपने से पूर्व के आचार्यों के केवल अनुकरण रूप समझने के विपक्ष में हैं।

इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा होती है कि यदि नाट्य सम्पूर्ण संसार के भावों का अनुकीर्तन रूप है तो उसमें सारे संसार के भावों का अनुकीर्तन होना चाहिए। इस विषय में आचार्य भरत का कथन है कि रूपक के दस भेदों को मिलाकर सम्मिलित रूप से नाट्य कहा जाता है और उसमे संसार के सारे भावो का दर्शन हो जाता है, अथवा रूपक के अलग-अलग भेदो को नाट्य कहा जाय तो उसमें भी संसार के भावों का समावेश मिल सकता है। तात्पर्य यह है कि एक ही नाटक में भिन्न-भिन्न भावों का समावेश पाया जाता है क्योंकि नाटक में कही धर्म, क्रीड़ा, अर्थ, शम, कही युद्ध का दृश्य दिखाया जाता है।[1]

यह नाट्य धर्म क्रीड़ा से युक्त होने के साथ-साथ नानाभावो से युक्त लोक व्यवहार का अनुकरण कराने वाला है। यह त्रिलोक के भावों का अनुकरण है, इससे अभिनव का आशय यह है कि नाट्यावलोकन से प्रेक्षक का चित्त निर्मल होता है और वह संस्कारों को ग्रहण करता है।

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने नाट्य की परिभाषा देते हुए 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ' कहा अर्थात् अवस्था का अनुकरण ही नाट्य है। धनिक ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा कि काव्योपनिबद्ध धीरोदात्तादि नायको के चतुर्विध अभिनय के द्वारा अनेकानेक अवस्थाओं का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि

---

[1] क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः।। (नाट्यशास्त्र १/१०८)

उससे नटों[1] एवं पात्रों की तादात्म्यापत्ति सम्भव हो जाती है[2] अर्थात् अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि चाल-ढ़ाल, वेश-भूषा, आलाप आदि के द्वारा पात्रो की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस तरह किया जाय कि नटों में तादात्म्यापत्ति हो जाय, यथा- नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करें कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। अभिनय के समय दुष्यन्त और नट मे भेद न रहे अभेद हो जाय।[3]

भरत ने असंदिग्ध रूप से नाट्य का सम्बन्ध सुख-दुःखात्मक जगत् से माना है अर्थात् आङ्गिक वाचिक, सात्विक, आहार्य, चतुर्विध अभिनय ही नाट्य का रूप ले लेता है। यदि भरत ही नाट्य को अन्यत्र 'लोकवृत्तानुकरण'[4] कहते हैं तो वस्तुतः यहाँ उनके अनुकरण का सम्बन्ध स्वकृत निरूपण से है न कि नाट्य रचना की प्रक्रिया से। अभिनयकला का नाट्य मञ्च से घनिष्ट सम्बन्ध है। नट यदि नाटकों में निबद्ध रामादि पात्रों के जीवन की अवस्थाओं की अनुकृति नही करेगा तो उसकी कला सफल नही हो सकती। दूसरे शब्दों में अभिनय का मूल अनुकरण है। अनुकरण रहित अभिनय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः हमारे आचार्य जब नाट्य को अनुकरण बताते हैं तो उसका स्पष्ट सङ्केत चतुर्विध अभिनय की ओर होता है, जिसके माध्यम से कवि निबद्ध लोकवृत्त की अनुकृति प्रस्तुत की जाती है।

नाट्य जहाँ एक ओर चतुर्विध अभिनयों से युक्त होता है वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। इसी क्रम में नाट्य एक ओर तो

---

१ नट-नटः रंङ्गावतारी अनुकार्यानुकरणकर्त्ता, नट इति धात्वर्थभूतं नाटयति लोकवृत्तानाम् । रसभावसत्त्वयुक्त यस्मात्तस्मान्नटो भवति। (नाट्यशास्त्र ३५/२७)

२ काव्योपनिबद्ध धीरोदात्ताद्यवस्थानुकारः चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् । (दशरूपक १/७ धनिक की वृत्ति)।

३ हिन्दी दशरूपक-भोलाशंकर व्यास-पृष्ठ-४

४ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥
(नाट्यशास्त्र १/११२ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा)।

उससे नटों[१] एवं पात्रों की तादात्म्यापत्ति सम्भव हो जाती है[२] अर्थात् अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि चाल-ढ़ाल, वेश-भूषा, आलाप आदि के द्वारा पात्रो की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस तरह किया जाय कि नटों में तादात्म्यापत्ति हो जाय, यथा- नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करें कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। अभिनय के समय दुष्यन्त और नट में भेद न रहे अभेद हो जाय।[३]

भरत ने असंदिग्ध रूप से नाट्य का सम्बन्ध सुख-दुःखात्मक जगत् से माना है अर्थात् आङ्गिक वाचिक, सात्विक, आहार्य, चतुर्विध अभिनय ही नाट्य का रूप ले लेता है। यदि भरत ही नाट्य को अन्यत्र 'लोकवृत्तानुकरण[४]' कहते हैं तो वस्तुतः यहाँ उनके अनुकरण का सम्बन्ध स्वकृत निरूपण से है न कि नाट्य रचना की प्रक्रिया से। अभिनयकला का नाट्य मञ्च से घनिष्ट सम्बन्ध है। नट यदि नाटकों मे निबद्ध रामादि पात्रों के जीवन की अवस्थाओं की अनुकृति नहीं करेगा तो उसकी कला सफल नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में अभिनय का मूल अनुकरण है। अनुकरण रहित अभिनय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः हमारे आचार्य जब नाट्य को अनुकरण बताते हैं तो उसका स्पष्ट सङ्केत चतुर्विध अभिनय की ओर होता है, जिसके माध्यम से कवि निबद्ध लोकवृत्त की अनुकृति प्रस्तुत की जाती है।

नाट्य जहाँ एक ओर चतुर्विध अभिनयो से युक्त होता है वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। इसी क्रम में नाट्य एक ओर तो

---

१ नट-नटः रंङ्गावतारी अनुकार्यानुकरणकर्त्ता, नट इति धात्वर्थभूतं नाटयति लोकवृत्तानाम् । रसभावसत्वयुक्त यस्मात्तस्मान्नटो भवति। (नाट्यशास्त्र ३५/२७)

२ काव्योपनिबद्ध धीरोदात्ताद्यवस्थानुकारः चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् । (दशरूपक १/७ धनिक की वृत्ति)।

३ हिन्दी दशरूपक-भोलाशंकर व्यास-पृष्ठ-४

४ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥
(नाट्यशास्त्र १/११२ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा)।

रसभावादि समन्वित साहित्यिक शैली का प्रारूप है और दूसरी ओर तो समाज का जीवन्त प्रतिबिम्ब है।

दूसरे शब्दों में वर्णन प्रधान तथा अन्य साहित्यिक विधाओ की तुलना में अपने दृश्यात्मक वैशिष्ट्य के कारण अवस्थानुकरणात्मक नाट्य या रूपक सदैव जन जीवन के सर्वाधिक निकट रहा है चाहे वह ख्यातवृत्त नाटक हो या कल्पनाश्रित इतिवृत्तसमन्वित प्रकरणादि अन्य रूपक भेद। नाट्य समाज के अधिक निकट इसलिए भी है क्योंकि इसमें समसामयिक परिवेश अधिक जीवन्त रूप में अभिव्यक्त होता है। यह नैकट्य तब और प्रगाढ़ हो जाता है तब लोक की अविरल धारा नाट्य मे सतत प्रवाहशील होती है।

हम नाटक के विस्तृत अर्थ में किसी भी अनुकरणात्मक विधा को नाटक कह सकते हैं। मूकनाट्य, आदिकालिक धार्मिक कृत्य सभी नाटक की श्रेणी में आ जाते है किन्तु विशिष्ट अर्थ में नाटक उस रूपक के लिए प्रयुक्त होता है जो अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जा सके, अर्थात् जिसमें आदिकालिक, मध्यकालिक, एवं आधुनिककालिक, किसी भी चरित्र का रूप धारण करके जनसमूह के सम्मुख उसका अनुकरण प्रदर्शित कर सके तथा दर्शक उसके रसास्वादन से आह्लादित हो सकें।

मानव में स्वाभाविक रूप से अनुकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस अनुकरण की प्रवृत्ति का एक मात्र लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति, मनोरञ्जन करना ही माना जा सकता है। इस अनुकरण की प्रवृत्ति काव्य या कला में भी मानी गई। सम्भवतः अरस्तू ने कला को अनुकरण ही माना है।[१] इस अनुकरण का अनूठा दिग्दर्शन नाटकों मे परिलक्षित होता है।

अरस्तू ने भरत जैसी ही नाट्य की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है कि ट्रेजेडी उस व्यापार विशेष का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता व पूर्णता हो, जिसकी भाषा

---

१ Art is imitation- Aristotle, उद्धृत हिन्दी नाटक उद्भव और विकास दशरथ ओझा, पृष्ठ- ३०

अलङ्कारों से सज्जित हो, जिसकी शैली वर्णात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करूणा एवं भय का प्रदर्शन करके मनोविकारों का परिष्कार करे वही नाट्य है।

'प्लेटो की दृष्टि में कवि वास्तविक जगत् का अनुकरण करता है किन्तु अरस्तू के अनुसार कवि वास्तविक जगत् का अनुकरण न करके वस्तु जगत् से प्रेरणा प्राप्त करता है और कल्पना शक्ति उत्तेजित होती है तथा वह अपनी आन्तरिक प्रेरणा का अनुकरण करता है।'[१] भट्टनायक के अनुसार ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ने जिसको उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया वह नाट्य है तात्पर्य यह है कि अविद्या कल्पित जगद्रूप भेद को ग्रहण करने में जिसको उदाहरण बनाया वही नाट्य है।[२]

भट्टतौत के मत से नाट्य अनुकरणादि दस प्रकार की लौकिक प्रतीतियो से भिन्न आस्वादरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ग्राह्य रसात्मक अलौकिक वस्तु है। सामान्य रूप से भट्टतौत व अभिनवगुप्त की दृष्टि में नाट्य को अनुकरण नहीं अनुव्यवसाय के समान विशिष्ट व्यापार माना जाना चाहिए था, उसे 'अनुव्यवसायात्मक कीर्तन' भी कह सकते है। अभिनवगुप्त अनुकरण शब्द पर टिप्पणी करते हैं कि नाट्य लौकिक व्यापारानुसार होता है इस दृष्टि से उसे अनुकरण भी कह सकते हैं।[३]

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वर का यह अभिमत है कि ऐसी कथा अभिनय के माध्यम से नाट्य की श्रेणी में आती है जो पौराणिक, प्राचीन एवं लोकविश्रुत या सम्पूज्य हो[४] किन्तु महिमभट्ट के अनुसार अनुभाव-विभावादिक से आनन्द निःसृत कृति काव्य है जो गीतादि से अनुप्राणित तथा नटो द्वारा प्रयुक्त होने पर नाट्य कहलाती है।[५]

---

१ नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधा वल्लभ त्रिपाठी, भाग-२, पृष्ठ- २७९

२ अभिनवभारती- डा. नगेन्द्र- पृष्ठ- ३५

३ अभिनवभारती- भाग-१, पृठ- ३७

४ नाटयं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम् । (अभिनयदर्पण - कारिका- ५)

५ 'अनुभावविवानां वर्णनां काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ।।'
(व्यक्तिविवेक-प्रथम-विवर्श-पृष्ठ- १५२)

नटों का धर्म एवं कर्म ही नाट्य है इस प्रसङ्ग के विषय में अमरकोश में कहा गया है 'तौर्यत्रिकं नृत्य गीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्'[1] अर्थात् नट का जो कर्म नाचना, गाना, बजाना है वह तौर्यत्रिक ही नाट्य है। परवर्ती आचार्यो ने भी नाट्य परम्परा में गीत, नृत्य की प्रधानता के कारण 'तौर्यत्रिक' शब्द का प्रयोग किया है।[2] आचार्य भरत ने यह भी निर्देश दिया है कि गीत, वाद्य, नृत्य की नाट्य में जितनी अविभाज्यता अपेक्षित हो उतनी ही की जाय।

मेदिनीकोश मे तौर्यत्रिक तथा लास्य को नाट्य का पर्याय माना गया है[3] तथा हलायुधकोश में भी गीत, वाद्य, नृत्य त्रितय को नाट्य कहा गया है[4] क्योंकि ये तीनों नाट्य में अलातचक्रवत गूथें रहते हैं। वैयाकरणिक दृष्टि से नटों के समूह को भी नाट्य कहा जाता है। शारदातनय ने नट के द्वारा अनुष्ठित सम्पूर्ण कर्म को नाट्य कहा है।[5]

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में प्रथम अध्याय के प्रारम्भ मे बताया कि नाट्य सभी लौकिक वस्तुओ से विलक्षण आस्वादन रूप संवेदन सवेद्य वस्तु एवं रसस्वभाव वस्तु है।[6] यह नाट्य केवल अभिधात्मक काव्य नहीं अपितु व्यञ्जनात्मक भी है। इस नाट्य के प्रसङ्ग में भरतमुनि ने कहा है कि नाट्य खेल है, देखने की वस्तु और श्रव्य भी है- 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्'।[7] प्रश्न यह है कि यदि नाट्य मानव जीवन से ग्रहण कर सम्प्रेषित किया जाता है तो मानव उसे देखना क्यों चाहता है? इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि वह अतीत को देखना चाहता है और दृश्य

---

१ अमरकोश १-७-१०

२ संगीत दामोदर- पृष्ठ- १६, तथा नाट्यशास्त्र विश्वकोश -राधावल्लभ त्रिपाठी भाग - ३

३ नाट्यं तौर्यत्रिकलास्ये- मेदिनीकोश २६-३४ (उद्धृत नाट्यशास्त्र विश्वकोश- भाग-३)

४ हलायुध कोश- ९३, (उद्धृत नाट्यशास्त्र विश्वकोश भाग-३)

५ नटकमैर्व नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम् (भावप्रकाश-शारदातनय २/४६, पृष्ठ- २९६)

६ तत्र नाट्यं नाम लौकिक पदार्थव्यतिरिक्तं . ... स्वादनरूप संवेदनसंवेद्य वस्तु रसस्वभावम् (अभिनवभारती, भाग-१)

७ नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय /११, उद्धृत अभिनवभारती- नगेन्द्र, पृष्ठ- ७५

से तादात्म्य स्थापित कर प्रसन्न होता है। इसप्रकार नाट्य मानव के द्वारा मानव के लिए की जाने वाली जीवन्त कला है।

कालिदास ने कहा कि नाट्य देवताओं की आँखो को प्यारा लगने वाला 'चाक्षुष यज्ञ' है।[1] नाट्य में सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों का समावेश है। प्रायः भिन्न-भिन्न रूचि वाले लोगों के लिए नाट्य ही ऐसा साधन है जिसमें सबको आन्रद मिलता है 'नाट्यं भिन्न रूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्[2]। आचार्य नन्दिकेश्वर ने नाट्य को ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर कहा है।[3]

नाट्य, नृत्य व नृत्त- संस्कृत साहित्य में नाट्य, नृत्य और नृत्त ये तीनों रूपक के विकास की प्रथम तीन भूमिकाओं के द्योतक हैं। अत एव रूपक या रूप की व्याख्या के पूर्व इनकी व्याख्या अति आवश्यक है क्योंकि इसके बिना रूपक व उसके भेद-प्रभेद का ज्ञान कठिन है।

संस्कृत में नट्, नृत् व नाट् तीन धातुयें हैं जिनसे क्रमशः नाट्य, नृत्य एवं नृत्त बनते हैं तथा इन तीनों शब्दों का अर्थ भी पृथक-पृथक है क्योंकि वाक्यार्थ को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करने को 'नाट्य' कहते हैं- 'वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं नाट्यम्[4]' तथा केवल एक शब्द के अर्थ का अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करने को 'नृत्य' कहते हैं- 'पदार्थाभिनयं भावाश्रयं नृत्यम्[5]', इसीप्रकार 'नृत्तं ताललयाश्रयम्[6]' अर्थात् ताल और लय के साथ हॉथ पैर चलाने को 'नृत्त' कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नाट्य में रस की, नृत्य में भावों की तथा नृत्त में अङ्गविक्षेपण की प्रमुखता

---

१ दैवानां भिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रंत चाक्षुष। रूद्रेण क्षमुमा कृतं व्यतिरेक स्वांगे विभक्तं द्विधा। (मालविकाग्निमित्रम्-प्रथम अङ्क (नाट्याचार्य गणदास)

२ मालविकाग्निमित्रम् (अङ्क १)

३ अभिनवभारती - डॉ नगेन्द्र पृष्ठ- ५ से उद्धृत।

४ दशरूपक- धनञ्जयकृत- प्रथमप्रकाश - पृष्ठ- १०, वृत्तिभाग

५ दशरूपक- धनञ्जयकृत- प्रथमप्रकाश - पृष्ठ- १०, वृत्तिभाग

६ दशरूपक- धनञ्जयकृत- प्रथमप्रकाश - पृष्ठ- १०, १३ वीं पंक्ति

रहती है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में नाट्य शब्द धर्म अथवा आम्नाय अर्थ में निर्दिष्ट है जो नट् शब्द पूर्वक ञ्यः प्रत्यय से निष्पन्न होता है।[1]

नृत्त शब्द नृत् धातु से निष्पन्न है इसका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है।[2] भरत की दृष्टि में नृत्त आङ्गिक अभिनय के प्रकारों में एक है तथा स्वतन्त्र प्रयोजन से रहित नाट्य की शोभावर्धक अंगहार विनिष्पन्न करणाश्रित प्रस्तुति ही नृत्त है। शारदातनय के अनुसार नृत्त में अङ्गों का विक्षेप होता है अभिनय नहीं होता।[3] नृत्तरत्नावली में नृत्त को पूर्वरङ्ग का अङ्ग होने से नाट्य का उपकारक कहा गया है- 'पूर्वरङ्ग प्रयोज्यत्वान्नाट्यस्योपकारकम्[4]।'

भारतीय वाङ्मय में काव्य की दो धाराओं में दृश्यकाव्य जो नाट्य शब्द से अभिषिक्त है वह दृश्य एवं श्रव्य दोनों होता है और वह आङ्गिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य चारों अभिनयोंके माध्यम से राम या सीता की अवस्था के अनुकरण या सुख-दुःखात्मक लौकिक संवेदनाओं के प्रतिफलन आदि के द्वारा नाट्य रूप को प्राप्त करता है[5], किन्तु नाट्य द्वारा किसी नायक या नायिका का रूप ही रूपायित नहीं होता अपितु उसका सम्पूर्ण जीवन रस आत्मलीनता की स्थिति में आस्वाद्य या अनुभवगम्य होता है। यह रस ही सौन्दर्य या चरम आनन्द है जो नाट्य के माध्यम से आस्वाद्य होता है। यह नाट्य सुख-दुःखात्मक लोकचरित की बहुविधता का संवेदात्मक प्रतिफलन होने के कारण ही मानव के जीवन सागर में एक हिलोरे उत्पन्न करता है।

---

[1] छान्दोगौविथकयाज्ञिक वंहवृचनटाञ्यः- अष्टाध्यायी- ४/३/१२९

[2] अष्टाध्यायी- ४/३/१२९

[3] भावप्रकाश- शारदातनय - १० वा प्रकाश

[4] नृत्तरत्नावली १/६/१०, उद्धृत नाट्यशास्त्र विश्वकोश - भाग ३, पृष्ठ- ९२०

[5] 'योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितमः।
सोऽऽगाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते।। (नाट्यशास्त्र- १/११९)

इसी क्रम में अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाट्य वह दृश्य विधा है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बनकर सत्य और असत्य से विलक्षण रूप धारण करके जन सामान्य को आनन्द प्रदान कराता है।[1]

सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाट्य की उत्पत्ति के विषय में कहा जा सकता है कि नृत्त व नृत्य, नाट्य की प्रथम दो भूमिकायें हैं। नाट्य मे संगीत एक प्रमुख अङ्ग है तथा संगीत मे नृत्य एक मुख्य अङ्ग होता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि नाट्य में नृत्य के समाविष्ट होने से ही नाट्य की पूर्णता मानी जाती है। जिस प्रकार रसों का सञ्चार करने में अनुभावादि सहायक होते हैं उसी प्रकार नाटकीय रस की परिपुष्टि में नृत्य व नृत्त सहायक होते है परन्तु इन दोनों की अपेक्षा नाट्य का क्षेत्र विस्तृत है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि नाट्य और नृत्य में प्रथमतः किसका अस्तित्व प्रकाश में आया? इसका अस्तित्व नाट्यशास्त्र में स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सर्वप्रथम त्रिपुरदाह डिम व समुद्रमंथन समवकार का अभिनय किया गया तत्पश्चात् उसमें नृत्य आदि का समावेश किया गया। इस आधार पर कहा जा सकता है कि नृत्य को नाट्य (अभिनय) के पश्चात् स्थान मिला।[2]

दृश्यात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति के तीनो आयामो में नाट्य ही लोकप्रिय शिल्प रहा है क्योंकि इसमें चारों अभिनयों की बहुलता होती है। नाट्य विशारद नट व नृत्य विशारद नर्तक कहे जाते हैं। नृत्य केवल दृश्य होता है[3] इसमें कथोपकथन का अभाव होता है तथा लौकिक व्यवहार के लिए 'अत्र प्रेक्षणीयम् ' ऐसा प्रयोग होता है,

---

१ प्रत्यक्षकल्पनानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेनभाव्यमानश्चर्य-माणोऽर्थोनाट्यम्। (अभिनवभारती) भाग-१

२ भारतीय नाट्यशास्त्र वं रंगमंच-गोविन्द बल्लभ पन्त- संस्करण-१९५१ पृष्ठ-९

३ अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् - दशरूपक, प्रथम संस्करण- पृष्ठ- ७

जबकि नाट्य कोरे भाव पर आश्रित न होकर रसाश्रित होता है। नटों का धर्म तथा कर्म होने से नाट्य कहा जाता है, परन्तु क्या केवल नट का ही कर्म नाट्य है? इस संदर्भ को स्वीकार करते हुए आचार्यो ने नाट्य की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकृत की है।

पाणिनि[1] ने नाट्य की व्युत्पत्ति नट् धातु से मानकर नट् को 'अवस्यन्दने' अर्थ में लिया है तथा अवस्यन्दन को ही नाट्य की संज्ञा दी है- 'अवस्यन्दने अवस्यन्दनं नाट्यम् ।'[2] सिद्धान्तकौमुदी के तिङन्त रूप भ्वादि प्रकरण में नाट्य की उत्पत्ति इसप्रकार वर्णित है- 'नट नृतौ। इत्थमेवपूर्वमपि पठितम्। तत्राङ्गविक्षेपः। पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषः नट व्यपदेशः। गात्रविक्षेप मात्र नृतम्'।।[3]

यद्यपि विद्वानों ने नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् , नाट् आदि धातुओ से मानी है परन्तु आज नट् से ही नाट्य का विकास माना जाता है किन्तु विद्वानों मे नट शब्द के सम्बन्ध में भी मतभेद है। मोनियर विलियम्स तथा वेबर ने नट् को नृत्त का प्राकृत रूप स्वीकार किया है[4] जबकि प्रो. मनकड[5] तथा डॉ. गुप्त[6] नट् को नृत् की अपेक्षा बाद का मानते हैं किन्तु त्रिगुणायत[7] नट् तथा नृत् दोनों को ऋग्वेद में प्रयुक्त मानकर समान रूप से प्राचीन मानते हुए नट् से ही नाट्य का विकास मानते हैं किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है क्योंकि सर्वप्रथम ऋग्वेद में नट् का अस्तित्व आने से ही नट् से नाट्य या नाटक का विकास नहीं माना जा सकता है। मूलतः ऋग्वेद में नट् नहीं अभिनट्

---

१ नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम् - अष्टाध्यायी- ४/३/१२९

२ सिद्धान्तकौमुदी- सूत्र- ३३९९, पृष्ठ- ४३३

३ सिद्धान्तकौमुदी- तत्त्वबोधिनी व्याख्योपेत- ४३८, गणसूत्र ३/३६

४ संस्कृत इग्लिंश डिक्शनरी- पृष्ठ- ५२५, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिक्ट्रेचर पृष्ठ- १९७

५ टाइप्स आफ दि संस्कृत ड्रामा- मनकड पृष्ठ- ६-७

६ दि इंडियन थियेटर- पृष्ठ- १३६

७ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त- पृष्ठ- १९७, तथा भारतीय नाट्य साहित्य मे उनका लेख और दशरूपक की भूमिका।

शब्द है तथा सायण ने इस अभिनट् को व्याप्तर्थक नश् से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ 'अभिव्याप्नोतु'[1] लिखा है। वस्तुतः अभिनय का तात्पर्य नट्न से है अर्थात् नृत् से नट् और नट् से नाट्य का विकास हुआ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र[2] ने इसकी व्युत्पत्ति नाट् धातु से तथा अभिनवगुप्त ने नट् धातु से स्वीकार की है। इसमें पात्र अपने भाव को परभाव में परिणत करता है अर्थात् दूसरे की अनुकृति करता है यही नाट्य है। इस विषय में मार्कंड का विचार है कि नृत् धातु प्राचीन है किन्तु नट् की अपेक्षा कम प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के उत्तरकाल में नट् और नृत् धातुयें समानार्थक होती गई किन्तु बाद में नट् धातु अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगी इसमें नृत् के अर्थ के साथ अभिनय का अर्थ भी सिमटता गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नट् धातु का अर्थ गात्र विक्षेप व अभिनय दोनों था किन्तु कालान्तर में नृत् धातु का प्रयोग गात्र विक्षेप अर्थ में तथा नट् का प्रयोग अभिनय अर्थ में होने लगा। इसके अतिरिक्त निष्कर्ष की सिद्धि का एक तथ्य यह भी है कि कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम व द्वितीय अङ्कों में नाट्य शब्द का प्रयोग नृत्य और अभिनय दोनों के लिए किया है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नाट्य की व्युत्पत्ति नट् धातु से कही गयी है तथा 'नट् अवस्यन्दने' इस धातु का अर्थ है 'कुछ चलना।' अतः नाट्य में आङ्गिक क्रिया की न्यूनता और सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता होती है इसलिए नाट्य करने वालों के लिए नट शब्द का प्रयोग होता है नर्तक शब्द का नही।

सम्पूर्ण तथ्यों के विश्लेषण के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि नाट्य व नाटक शब्दों को अभिनयार्थक नट् धातु से व्युत्पन्न मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती तथा लोकजीवन में प्रचलित नृत्य व नृत्त को साहित्यिक नाटकों में कालान्तर

---

१ मा अभिनटः मा अभिव्याप्नोतु नश्यतेर्व्याप्तिकर्मणोर्लुङि ऋग्वेद, सायण भाष्य ७/१०५/२३

२ नाट्यदर्पण- गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा, पृष्ठ-, २८, सूत्र, ५ की टीका

में ही स्थान प्राप्त हुआ। आज तो नाट्य शब्द में अर्थतः नृत्य तथा नाटक दोनों ही समाविष्ट रहते है। यह नाट्य प्रेक्षकों को रसानुभूति कराता है। अत एव परिचारिकावत् सहायक नृत्य व नृत्त की अपेक्षा नाट्य उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित है।

नाट्य अथवा रूपक- नाट्य के लिए दशरूपक, अनुकृति, अनुकरण आदि शब्दों का प्रयोग उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार संस्कृत साहित्य मे नाट्य के लिए रूपक, रूप्य, रूप और नाटक शब्द प्रचलित है।

रूपक शब्द रूप् धातु मे पवालु प्रत्यय जोड़ने से उत्पन्न हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने दृश्य होने के कारण नाट्य को 'रूप' कहा है। रूप शब्द मूलतः नेत्रों के विषय का द्योतन कराता है इसलिए दृश्य काव्य के लिए प्रयुक्त जातिवाचक नाम रूप या रूपक है।

विद्वत परम्परा में इस नामकरण के अन्यान्य समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्य काव्य को 'रूपक' कहते हैं क्योंकि इसमें अभिनेता मूल पात्रों का रूप धारण करते हैं अर्थात् रूपक का मूल 'रूप' है। रूप का अर्थ आकार नहीं है जिसे English मे फार्म कहते हैं अपितु रूप का तात्पर्य है 'सम्पूर्ण'।[१] स्टेनकोनो ने इसे छाया नृत्य से सम्बन्धित माना है तथा डॉ. कीथ भी इससे सहमत हैं[२] परन्तु एस. के. डे का मत है कि रूप का तात्पर्य चक्षुग्राह्य प्रदर्शन (विजिवल रिप्रजेण्टेशन) है।[३] ऋग्वेद संहिता में रूप शब्द वेश बदलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ[४], तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण, थेरगाथा, मिलिन्दप्रकाशन आदि में इसका प्रयोग विवाद का विषय बना हुआ है, परन्तु नाट्यशास्त्र[५] में इसका प्रयोग निर्विवाद सिद्ध होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि

---

१ रङ्गभूमि भारतीय नाट्य सौन्दर्य - लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ- ६२

२ टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा- द्वितीय अध्याय

३ टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा- द्वितीय अध्याय

४ ऋग्वेद - ६/४६/१८

५ दशरूप विधानेतुं पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तिभिः- नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर, पृष्ठ- ५

रूपक शब्द प्राचीन काल से चला आ रहा है किन्तु रूपक शब्द के इन प्रयोगों के प्राप्त होने पर भी इसका अधिक सर्वप्रचलित प्रयोग दशरूपककार आचार्य धनञ्जय के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ। यद्यपि पार्वती-परिणय नामक नाटक में रूपक शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु काल निर्धारित न होने के कारण रूपक शब्द के प्रचलन का श्रेय आचार्य धनञ्जय को ही प्राप्त है।

मनुष्य की प्रारम्भिक शिक्षा का आधार अनुकरण है। मानव जीवन के सभी व्यापार इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके अनुकरण एक निर्दिष्ट रूप धारण कर लेता है। दृश्य काव्य के द्वारा ही नाट्याभिव्यक्ति होती है, इसी दृश्य काव्य को आचार्यों ने रूपक नाम दिया। रूपक में अभिनय करने वाला व्यक्ति किसी दूसरे का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव-भाव प्रस्तुत करता है। अतः एक व्यक्ति या उसके रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति में होता है इसलिए इसे रूपक कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है और दृश्य काव्य के आस्वादन मे इन्द्रिय के सहायक होने के कारण रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त भी है।

इसप्रकार यह नाट्य चक्षुसंवेदनात्मक ज्ञान का विषय है इसलिए 'रूप' तथा नटादि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप होने से इसी रूप को 'रूपक' की संज्ञा दी जाती है। रूपकों का उद्देश्य प्रेक्षकों के अन्तःकरण में स्थित स्थाई भाव को रस स्थिति तक पहुँचा देना है।

दशरूपक के व्याख्याकार धनिक ने वृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि- 'रूपं दृश्यतयोच्यते' एवं 'रूपक तत्समारोपात्'[१] अर्थात् दृश्य होने से 'रूप' एवं नटादि में रामादि की अवस्था का आरोप होने से 'रूपक' भी कहा जाता है।[२] इस विषय में शारदातनय का कथन यह है कि जिस प्रकार मुख पर चन्द्रमा का आरोप किये जाने से उसे मुखचन्द्र एवं मुख पर कमल को आरोपित किये जाने से मुखकमल कहते हैं उसी

---

[१] दशरूपक प्रथम प्रकाश पृष्ठ- १०

[२] दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तुरूपकम् - साहित्यदर्पण ६, पृष्ठ- ३१६

प्रकार नट पर रामादि पात्रो का आरोप होने से नाट्य को 'रूपक' कहा जाता है।[1] धनञ्जय ने रूप शब्द की व्युत्पत्ति 'रूप्यते दृश्यत इति' एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'रूप्यन्ते अभिनीयन्त इति रूपाणि नाटकादीनि' से मानी है।[2]

वस्तुतः नाट्य में मानवीय सुख दुःखात्मक संवेदनाओं का पुनरूद्भावन होता है तथा रूपक के द्वारा ही नट रामादि की सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं का अनुभावन करते हैं।

इसप्रकार रूपक और नाट्य दोनों परस्पर अति निकट हैं। दशरूपक के अनुसार इनका प्रयोग शक्र, इन्द्र व पुरन्दर की भाँति पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है।[3] अतः रूप, रूपक, नाट्य और अभिनयादि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में दृश्यकाव्यों के लिए होता है।

धनञ्जय के अनुसार नाट्य सिर्फ श्रव्य न होकर रङ्गमञ्च पर अभिनीत भी होता है अतः दृश्य है। सामान्य रूप से रूपक शब्द रूप धातु में 'ण्वुल' प्रत्यय जोड़ने से बनता है।[4] रूपक और नाट्य दोनों पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर वाले हैं। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् अवस्था की अनुकृति एवं रूपानुकृति मिश्रित रूप ही रूपक कहलाने का अधिकारी बनता है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' के तृतीय अङ्क के आरम्भ मे रूप के आरोप को सरस्वती

---

१ रूपकत्वं तदारोपात्कमलारोपवन्मुखे - भावप्रकाश ७/२

२ दशरूपक - अवलोक टीका - पृष्ठ- १२, नाट्यदर्पण- पृष्ठ- १२-१४

३ नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुख चन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः इतिप्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः। दशरूपक, पृष्ठ- ४

४ रूप्यत्यत्र रूपि ण्वुल। अभिनयप्रदर्शके काव्यप्रभेदे रूपाणोपात्तु रूपकम् - वाचस्पत्यम्, पृष्ठ- ४८१२

विरचित 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक रूपक के अभिनय की चर्चा करते हुए स्वीकार किया है।[1] अतः नट में रामादि के रूप का आरोप ही रूपक की प्रवृत्ति का निमित्त है।

दृश्यकाव्य के लिए नाट्य या नाटक आदि शब्द प्रचलित है और श्रव्यकाव्य के लिए काव्य शब्द का प्रचलन है। नाटक प्रयोग प्रधान होता है तथा इसमें वर्ण्य वस्तु को प्रायोगिक रूप से व्यक्त किया जाता है। संस्कृत साहित्य में प्रायः रूपक, रूप नाट्य आदि शब्द नाटक के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इनमें शाब्दिक असमानार्थकता होने पर भी सभी परस्पर पर्याय अर्थों के द्योतक है। भारतीय वाङ्मय में रूपक शब्द अनेक अर्थो का द्योतक रहा है किन्तु साहित्य में यह नाट्य या नाटक का ही बोधक है।

महिमभट्ट के अनुसार जब विभावादि का गीतादि से अनुरञ्जित प्रयोग किया जाता है तब वह नाटक कहलाता है।[2] सागरनन्दी ने इस लोक के सुख-दुःख से उत्पन्न अवस्था के अभिनय को नाट्य कहा है-

"अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।

तस्यास्त्वभिनय प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते।।"[3]

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त ने णट् के स्थान पर 'नट् नतौ' मानकर नति अर्थात् नमनार्थक नट् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो इनके विचार से 'मितां ह्रस्वः'[4] सूत्र से णिच् परे रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से, नटक शब्द घटक के समान बनता है। इस व्युत्पत्ति की आलोचना रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने की किन्तु यह उपयुक्त नहीं है क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक धातु से भी नाटक की

---

[1] विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क- ३, पृष्ठ- ९३, रामचन्द्रमिश्र द्वारा सम्पादित।

[2] अनुभावविभावनां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ।
(महिमभट्ट व्यक्तिविवेक प्रथम विमर्श, पृष्ठ- १५२)

[3] नाट्यसमीक्षा- दशरथ ओझा, पृष्ठ- ३०

[4] अष्टाध्यायी ६.४.९२

सिद्धि की है।[१] अभिनवगुप्त के अनुसार- 'नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं शरीरं च नर्तयति नाट्कम् '।[२] इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में 'नर्तनार्थक नट् ' धातु से नाटक को व्युत्पन्न माना है - नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जना प्रवेशने सम्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम् ।[३] रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह मत सर्वमान्य है तथा इनके विचार से जिस नाट्य मे पौराणिक एवं एतिहासिक, आर्य, राजचरित का वर्णन हो वही नाटक है।

नाटक के संदर्भ में जार्ज वर्नार्डशा[४] के विचारों के आधार पर नाटक को धार्मिक प्रवचन कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उपदेश दिया जाता है और साथ ही एक उद्देश्य भी छिपा रहता है। चीन, जापान, इग्लैंण्ड आदि के प्रारम्भिक नाटक धार्मिक कथावस्तु पर आधारित मिलते हैं तथा इग्लैण्ड के मिस्ट्री और मिरेकिल नाटक धर्म प्रचार से ही सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार रङ्गमञ्च के संदर्भ में शा महोदय का यह विचार है कि आधुनिक जीवन में नाट्यशाला का जो स्थान है वही प्राचीन समय मे चर्च का था। इस प्रकार नाटक व रूपक की व्युत्पत्ति की व्याख्या के पश्चात् नाटको के उत्स पर विचार करना आवश्यक है।

नाट्य की उत्पत्ति- संस्कृत रूपकों (नाट्यो) का उत्स किस प्रकार एवं किस काल में हुआ इस पर प्रामाणिक ढंग से कहना कठिन है किन्तु किञ्चिद् उपलब्ध सामग्री के आधार पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये और उन्हें सत्य के अत्यधिक निकटसिद्ध करने का प्रयास भी किया। संस्कृत वाङ्मय का मूल स्तम्भ वेद है, जो भारतीय विचारो का स्रोत भी है। वेदों में उल्लिखित अभिनीत नाट्य के

---

१ नाट्यदर्पण हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ- २३

२ हिन्दी नाट्यदर्पण-रामचन्द्र-गुणचन्द्र- डॉ. नगेन्द्र व्याख्याकार पृष्ठ- ९३

३ नाट्यदर्पण-प्रथम विवेक/५, पृष्ठ- १०० तथा कालिदास का नाट्यकल्प डॉ श्यामरमणपाण्डेय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ- ८२

४ भास की भाषा सम्बन्धी नाटकीय विशेषताये- जगदीश चन्द्र दीक्षित,प्रथम संस्करण-१९६७, पृष्ठ- १४३

अस्तित्व के विषय में आचार्यो में परस्पर मतभेद है किन्तु रूपको की उत्पत्ति के विकास तक की व्यवस्था को देखने से प्रतीत होता है कि इसके बीज ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, महाभारत आदि में भी बिखरे हुए है। सामान्य रूप से नाटकों के कई तत्त्व होते हैं किन्तु इन तत्त्वों में दो तत्त्व विशेष है- (क) अभिनय (ख) संवाद।

ऋग्वेद के पन्द्रह संवाद सूक्तों में संवाद तत्त्व मिलते है। इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर एवं सिल्वाँ लेवी के मत इस विषय की पुष्टि करते है कि ऋग्वेद में अभिनय की स्थिति विद्यमान थी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि संवाद सूक्तों का अभिनय यज्ञ के समान उपस्थित जनसमाज के मनोरंजन के लिए किया जाता रहा होगा, किन्तु जहाँ तक अभिनेय नाट्य का प्रश्न है यह ऋग्वेद मे उपलब्ध नही होता परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि लोग इसके मनोरम अंश से अवश्य परिचित थे। नृवंशविद्या से भी यह ज्ञात होता है कि नृत्य, गीत, संगीत आदि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अवश्य ही आदिम जातियों में वर्तमान थे।

भारतीय नाट्यपरम्परानुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि सतयुग में लोगों को किसी मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता नहीं थी किन्तु त्रेतायुग में ऐसी स्थिति नहीं थी। इसलिए इस युग में देवता ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की, कि वे ऐसे वेद की रचना करें जो समस्त मानव जाति के मनोरंजन तथा आनन्द प्राप्ति का साधन हो। समस्त देवताओं के आग्रह पर ब्रह्मा ने चारों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का सार लेकर पञ्चम नाट्यवेद की रचना की।[2] इस पञ्चम वेद मे चार अङ्ग पाठ्य, अभिनय, गीत, रस पाये जाते हैं तथा इन चारों को ब्रह्मा ने चतुर्वेदों से गृहीत किया।[3] अतः चारों वेदों से नाटकों की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा त्रेतायुग में मानने

---

[1] संस्कृत ड्रामा कीथ पृष्ठ- १५-१६ उद्धृत-संस्कृत साहित्य में प्रहसन- राधावल्लभ, प्रथम संस्करण १९९२, पृष्ठ- १०

[2] ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ।
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पङ्कजः। (अभिनयदर्पण नन्दिकेश्वर ६/१०)

[3] जग्राहं पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।

में कोई आपत्ति नहीं है। इस पञ्चम नाट्यवेद में शिव ने ताण्डव नृत्य और पार्वती के सुकुमार लास्य नृत्य का समावेश किया। अतः चारों वेदों से नाट्य के प्रधान चार अङ्गों, चार वृत्तियों तथा गान-वाद्य की सहायता से नाट्य का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

यदि हम पीछे मुड़कर देखे तो स्पष्ट होताहै कि नाटकों का प्रचलन अतिप्राचीनकाल से ही हो चुका था क्योंकि रामायण और महाभारत के वनपर्व मे 'रामायण' एवं 'कौबेररम्भाभिसार' नामक नाटको का अभिनय तथा ऋग्वेद के यज्ञ मे 'सोमविक्रम' का अनुष्ठान अभिनय के रूप में हुआ था। आगे चलकर सतयुग के बाद जनसमाज काम, क्रोध, लोभादि में लिप्त हो गया, इसे देखकर देवताओं ने जम्बू द्वीप का हाल ब्रह्मा से कहा। ब्रह्मा ने रक्षार्थ अप्सराओं एवं देवताओं की नियुक्ति की तत्पश्चात् 'असुरपराजय', 'अमृतमंथन', 'त्रिपुरदाह', नाटकों का अभिनय हुआ परन्तु नाटकों की उत्पत्ति सम्बन्धी भरत के मत से अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान संतुष्ट नहीं हुए। इसलिए भारतीय नाटकों के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यताये प्रस्तुत कीं।

भावप्रकाशकार शारदातनय ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो कथायें कही हैं[1] पहली कथानुसार नन्दिकेश्वर ब्रह्म के पास गये। ब्रह्म ने नाट्य वेद एवं उसके प्रयोग की शिक्षा दी और कहा कि इसकी व्यवस्था भरत कर सकते हैं ऐसा कहकर ब्रह्मा अन्तर्ध्यान हो गए तथा देवताप्रसन्न हुए और 'त्रिपुरदाह' डिम का अभिनय किया गया। दूसरी कथानुसार शिव के परामर्श से एक मुनि पाँच शिष्यों के साथ ब्रह्म के पास गये। ब्रह्म ने उन्हें नाट्यवेद सिखाया और उन्होंने इसका अभिनय किया, ये भरत तथा उनके शिष्य कहलाये। इन्होंने नाट्यवेद का प्रचार किया इससे नाटक की दैवी उत्पत्ति सिद्ध होती है।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथवर्णादपि।।
(नाट्यशास्त्र १/१७ गायकवाड, ओरियण्टल सीरीज बडौदा)

[1] संस्कृत नाट्य समीक्षा - डॉ. इन्द्रपाल सिंह, पृष्ठ-३

जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने ऋग्वेद के मरुत सूक्त में यह मत दिया है कि नाट्य की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड से हुई है।[1] इस मत के समर्थक सिल्वाँ लेवी, एडेर, हेर्टल हैं। सिल्वाँ ने कहा कि बहुत से ऐसे संवाद वैदिक साहित्य मे हैं जो गाये जाते हैं और जिन्हें भारतीय नाटक का मूलस्रोत समझना चाहिए। इसी का समर्थन हर्टेल ने भी किया है। सिल्वाँ लेवी का यह मत था कि संवाद केवल कवियो या ऋषियों की कल्पना मात्र नहीं है। इस मत का एक आधार यह है कि इन्होंने वैदिक यज्ञो में इन संवादों को प्रत्यक्ष नाटकीय रूप में कहे जाते हुए देखा होगा इनके इस विचार से जर्मन विद्वान योहान्स हर्टेल भी सहमत हैं। श्री फौन श्रौ एडेर ने यह भी कहा कि अत्यन्त प्राचीन काल में नृत्य गीत, वाद्य साथ-साथ चलते थे उसी से प्रभावित होकर ऋग्वेद के ऋषियों ने वैदिक मन्त्रो के संवाद को गायन और नर्तन के साथ अभिनय करना प्रारम्भ कर दिया था। श्री हर्टेल ने इस विषय में यह भी कहा है कि वैदिक संवादात्मक सूक्त गाये भी जाते थे। संवादों का गान एक ही गायक से होना असम्भव था क्योंकि ऐसा करने से संवाद करने वाले दो व्यक्तियों में भेद प्रतीत नहीं हो सकता। अतः वैदिक संवादों में नाट्य का बीज अवश्य है किन्तु ए. बी. कीथ ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि इन संवादों को नाटकीय संवाद नहीं समझना चाहिये क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञों में जो कर्मकाण्डीय संवाद होते थे वे नाटकीय नहीं अपितु पौरोहित कर्म मात्र होते थे। श्री हर्टेल एवं एडेर का यह मत भी ठीक नहीं है कि ऋग्वेद के संवाद गाये जाते थे क्योंकि गान के लिए तो सामवेद के मन्त्र रचे गये थे।

विंटरनित्स ने भी इन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए इतना संशोधन किया कि इस प्रकार के सूक्तों को नाटक तो नहीं परन्तु नाटक का दूसरा रूप कह सकते हैं। कीथ ने खण्डन करते हुए कहा कि नाट्य तो स्वतः एक यज्ञ है। नाट्य का प्रयोजन ही यह है कि वह प्रयोग करके दिखाया जाय। यह लक्षण वेद के लिए नही है इसलिए

---

[1] वैदिक कर्मकाण्डान्नाट्योत्पत्तिरित्यपरे।
(उद्धृत-अभिनव नाट्यशास्त्र,सीताराम चतुर्वेदी-प्रथम खण्ड) पृष्ठ- १६

नाट्य का बीज या स्वरूप वेद में खोजना असंगत है। डॉ. विण्डिश, ओल्डेनवर्ग, पिशेल आदि संवाद सूक्तो को गद्य-पद्यात्मक मानते हैं। गद्यभाग वर्णात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। कीथ ने संवाद को आख्यान कहा है। उसी प्रकार पिशेल, ओल्डेनवर्ग ने भी आख्यान माना। इनके मत मे ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक आख्यान, शुनः शेष, पुरुरवा-उर्वशी, आदि उसी के अवशिष्ट अंश हैं। ये संवाद सूक्त ही नाटक के मूल हैं। कीथ संवाद सूक्तों को अभिनय नहीं अपितु शंसन मात्र मानते हैं फिर इस बात को स्वीकार करते हैं कि इन संवाद सूक्तों में नाटकों का बीज ढूढ़ा जा सकता है। इनके मतानुसार प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के समक्ष मूर्त रूप में प्रदर्शित करने की अभिलाषा से नाटक का जन्म हुआ[१], अपने इस बात की पुष्टि हेतु 'कंसवध' नामक नाटक का दृष्टान्त देते हैं जिसका उद्देश्य हेमन्त ऋतु पर बसन्त की विजय प्रदर्शित करना है। मैक्डोनल का मत है कि नाच ही नाट्य का पहला स्वरूप है। इनका मत है कि अभिनेता और रूपक के लिए प्रयुक्त होने वाले नट और नाटक शब्द नट् धातु से निकले हैं जो संस्कृत की नृत (नाचना) का प्रकृति या देशी रूप है जिसका वर्तमान रूप नाच है। यही नाच सम्भवतः भारतीय नाटक के प्रारम्भ का द्योतक है। जिसमें पहले मोटे रूप से नाच या शरीर सञ्चालन के साथ-साथ हाथ, मुख, भावों, चेष्टाओं द्वारा मूक अनुकरण होता रहा होगा बाद में गीत जुड़ गए होंगे। इस प्रकार मैक्डोनल ने नाच से ही नाट्य की उत्पत्ति बताई।[२] डॉ. एस. पी. खत्री ने नृत्य को नाटक का आदि स्वरूप कहा है किन्तु यह भी पूर्णतः उचित नहीं है क्योंकि अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं और नृत्य में भावों का अनुकरण प्रधान होता है तथा नृत्त में अङ्गविक्षेपण केवल ताल और लय पर आश्रित होता है। नाट्य रसाश्रित होने के कारण वाक्यार्थ के अभिनय की अपेक्षा करता है तो नृत्य में केवल शब्द के अर्थ का अभिनय करके इसका भाव प्रदर्शित किया जाता है। इसीकारण प्रथम मे कथोपकथन

---

१ Theory of Veqitalion spirit, Dr. Keith- Sanskrit Drana पृष्ठ- ४५-४८

२ अभिनव नाट्यशास्त्र- सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-२४

प्राणतत्त्व हैं और दूसरे में इसका अभाव है यही दोनों में (नाट्य एवं नृत्य) अन्तर है क्योंकि नाट्य श्रवणेन्द्रिय व चक्षुरेन्द्रिय का और नृत्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार मैक्डोनल के मत को भ्रामक मानते हुए डा. वी. राघवन का कथन है कि नाट्य शब्द में अर्थतः नृत्य और नाटक दोनों समाविष्ट रहते है किन्तु नाट्य नृत्त, व नृत्य को पर्याय नहीं मानना चाहिए, अतः मैक्डोनल का नाच से नाट्य की उत्पत्ति का मत निराकृत हो जाता है।

भारतीय नाटकों की प्राचीनता सिद्ध करने के पूर्व नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मत देने वाले विद्वानों की कल्पनाओं व धारणाओ की ओर ध्यान देते हुए डां. रिजवे ने अपने मत को प्रस्तुत किया कि नाटक की उत्पत्ति मृत वीरों की पूजा व उनके प्रति प्रदर्शित आदर भावना से हुई।[१] जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में नाटक वीरपूजा से उत्पन्न हुए। इस प्रकार इन्होंने इस मत का प्रतिपादन यूनानी त्रासदी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किया। बाद में इसी मत को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के लिए स्वीकार किया गया। किन्तु भारतीय नाट्य परम्परा में यह मत स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ पौराणिक महापुरुष राम और कृष्ण में वीरों की संज्ञा की अपेक्षा देवत्व भाव की प्रतिष्ठा ही की जाती है इसलिए विद्वान इस मत को कोरी कल्पना ही मानते हैं परन्तु कुछ लोग राम लीला व कृष्ण लीला को इस प्रवृत्ति व सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले अधिक उज्जवल दृष्टान्त मानते हैं।[२]

डॉ. कीथ ने इनके मत को कोरी कल्पना बताते हुए एक नवीन मत की उद्भावना की कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के मूल में प्राकृतिक परिवर्तनों को

---

१ Prof Ridgeway, Dramas and Dramatic Danees of non europ ean Races, page २११, Cembridge- १९१८ उद्धृत- भारतीय भाषाओ का नाट्यसाहित्य-शांति मलिक, पृष्ठ- १

२ Dramas aud Dramatic Dance of non europen Races, Dr. Ridgeway.

भावात्मक रूप में जनसाधारण के सम्मुख मूर्त रूप में प्रदर्शित करने की भावना है।[१] यह मत वास्तविकता से अत्यधिक दूर है तथा इसकी न्यूनता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि बाद में स्वयं इस मत के उद्भावक कीथ ने भी इसका खण्डन कर दिया।

कुछ विद्वानों ने इन्द्रध्वज उत्सव से नाटक की उत्पत्ति मानी है।[२] उनका यह मत पाश्चात्य विद्वानों के 'में पोल नृत्य' पर आश्रित है। पश्चिमी देशों मे मई का महीना काफी आनन्द एवं उल्लास का होता है उस महीने में एक स्थान पर लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है और उसके नीचे स्त्री-पुरुष साथ-साथ नृत्य किया करते हैं। इस तरह आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोकनृत्य का एक नमूना है। पाश्चात्य विद्वान नाटक की उत्पत्ति 'मे पोल नृत्य' से मानते हैं तथा भारतवर्ष में होने वाला इन्द्रध्वज उत्सव ठीक इसी प्रकार का समझा जाता है। आज भी इन्द्रध्वज महोत्सव नेपाल में प्रचलित है। किन्तु यह मत विद्वानों को मान्य नही हुआ क्योंकि 'इन्द्रध्वज उत्सव' और 'मे पोल नृत्य' में भाव, उद्देश्य, समय, क्रिया की कोई समता नहीं है[३] अर्थात् इनके उद्देश्य, भाव, समय, रूढ़ि सभी इस मत के विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

डॉ. स्टेनक्रोनो ने स्वॉग से नाट्य की उत्पत्ति मानी है।[४] इनके समर्थकों में प्रो. रिजवे और ग्रे के नाम उल्लेखनीय हैं। क्रोनो के अनुसार नाटकों से पूर्व लोकप्रिय स्वॉगों का प्रचलन था, बाद में रामायण और महाभारत की कथाओं ने स्वॉगों के साथ मिलकर रूपक को जन्म दिया। किन्तु डां. कीथ ने इस मत का खण्डन किया कि

---

१ G. Norwood (Greek Tragedy page-2, Keeth page १४०, ३३५ उद्धृत भारतीय भाषओं का नाट्य साहित्य-शांतिमलिक, पृष्ठ- १

२ Harprasad Shastri in J.P.A.S.B.V. १९०९ page ३५१-३६१

३ अभिनव नाट्यशास्त्र-सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ- ३४

४ sten Konow Dance and Drama- Barlin १९२०' page ४३-४६

स्वाँगों के प्रचलित होने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है[१] इस प्रकार नाट्य का उत्पत्ति सम्बन्धी यह मत अस्वीकृत हो गया।

कुछ विद्वान भारत में नाट्य का उद्गम आर्येतर जातियों से सिद्ध करने के लिए अकारान्त 'नहुष' शब्द को न+हुर=हवन न करने वाला समझकर प्रमाण उपस्थित करते हैं। इसका समर्थन डॉ. शेखर ने नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति की कथा में 'नहुष' के उल्लेख को प्रमाण स्वरूप देकर किया।[२]

यद्यपि संस्कृत के नाट्य ग्रन्थों में छाया नाटकों का उल्लेख नहीं है फिर भी डॉ. पिशेल ने छाया नाटकों से नाट्योत्पित्ति को स्वीकृत किया[३] इस मत के समर्थकों मे लूडर्स तथा कोनी को परिगणित किया गया है।[४] ये विद्वान अपने मत की पुष्टि में 'दूताङ्गद' नामक छाया नाटक का उल्लेख करते हैं इससे यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता कि छायानाटकों से ही नाटक की उत्पत्ति हुई क्योंकि प्रथम तो यह छाया नाटक तेरहवी शताब्दी का है जो संस्कृत में अवश्य ही प्रसिद्ध है किन्तु न तो यह उतना प्राचीन है न ही महत्वपूर्ण। अतः इस प्रकार के सामान्य छायानाटक से, जो वाह्य साधनों से वंचित हो नाट्य का उदय नहीं माना जा सकता। दूसरा कारण यह है कि भरत ने छाया शब्द का अर्थ केवल प्रकाश पड़ने से वस्तु के पीछे पड़ने वाली आकार कालिमा से न मानकर प्रतिरूप अथवा समानता के अर्थ में किया।[५] डा. पिशेल ने कहा है कि छाया नाटक का अर्थ सम्भवतः अर्द्धनाटक होगा, किन्तु एक लेख में यह दिखाया कि छाया नाटक का शुद्ध अर्थ छाया द्वारा नाटक दिखाना है।[६] श्री विल्सन ने

---

१ A.B. Keith Sanskrit Drama page ५०, उद्धृत- भारतीय भाषाओ का नाट्य साहित्य-शान्ति मलिक, पृष्ठ-२

२ नाट्यशास्त्र- विश्वकोश-भाग-४ राधा वल्लभ- प्रथम संस्करण १९९९

३ भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य- शांतिमलिक, पृष्ठ- २

४ अभिनव नाट्यशास्त्र -सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ- ३१

५ अभिनव नाट्यशास्त्र -सीताराम चतुर्वेदी, पृठ- ३१

६ अभिनव नाट्यशास्त्र -सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ- ३१

यह कल्पना की है कि छाया नाटक, नाटक की रूपरेखा को कहते होंगे और दूताङ्गद छाया नाटक को सम्भवतः किसी उत्सव यात्रा के दृश्य की प्रस्तावना के लिए रचा गया होगा नहीं तो इतना छोटा नाटक क्यो रचा जाता? अतः ठोस प्रमाणों के अभाव में यह मत भी अमान्य हो गया।

जर्मन विद्वान पिशेल ने भारतीय नाटक की उत्पत्ति का मूल स्रोत 'पुत्तलिका नृत्य' माना है।[१] अपने मत की पुष्टि मे गुणाढ्य की 'वृहत् कथा' और राजशेखर की 'बालरामायण' में हुए पुत्तलिका से सम्बन्धित उल्लेखों द्वारा पुत्तलियों के द्योतक कतिपय तत्सम शब्दों जैसे- 'सूत्रधार' एवं 'स्थापक' के आधार पर यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि भारत में प्राचीन समय में पुत्तलियाँ रङ्गमञ्च पर आती थीं और उनका नृत्य करवाया जाता था। सूत्रधार शब्द के आधार पर वे कहते हैं कि यही व्यक्ति सूत्र पकड़कर पुत्तलियों को नचाता था तथा नाटक की प्रस्तावना करने वाला स्थापक कहलाता था किन्तु इस मत को कोई भी स्वीकार नहीं करता।[२] प्रो. जागीरदार ने सूत्रधार को लेकर एक नये मत की स्थापना करते हुए नाट्योत्पत्ति को पुत्तलिका नृत्य के सूत्रधार से न मानकर महाकाव्यों के श्रावक 'सूतकुल' से मानी[३] परन्तु कालान्तर में नाट्योत्पत्ति का यह मत भी अमान्य हो गया।

पाश्चात्य विद्वान वेबर और विण्डिश आदि भारतीय नाटकों का उद्भव यूनानी नाटकों से स्वीकार करते हैं।[४] इस मत में वे कहते हैं कि भारतीय नाटकों पर यूनानी नाटकों का प्रभाव अवश्य पड़ा। प्रो. विण्डिश ने भारतीय रङ्गमञ्च पर प्रयुक्त होने वाले शब्द यवनिका से यूनानी प्रभाव माना है परन्तु यह मत निराधार ही प्रतीत होता है

---

१ prof Reschel, Die heimat Das pupperspiels halle, १९०२, उद्धृत भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य, शान्तिमलिक, पृष्ठ- ३

२ अभिनव नाट्यशास्त्र- सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ- २९-३०

३ R V.Jagirdar - Drama in Sanskrit lite atrue page ४१-४२ उद्धृत भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य- शांतिमलिक, पृष्ठ- ३

४ भारतीय भाषाओं कानाट्य साहित्य- शांति मलिक, प्रथम संस्करण १९९३, पृष्ठ- ६

क्योंकि यूनानी रङ्गमञ्च पर यवनिका शब्द का प्रयोग ही नहीं मिलता तथा शुद्ध शब्द 'जवनिका' है जिसे भ्रमवश यवनिका मान लिया गया है। जयशंकर प्रसाद ने जवनिका को शीघ्रता एवं त्वरा का द्योतक माना है। यह यूनानी नाटक खुले आकाश के नीचे एक वेदिका पर अभिनीत होता था जब कि भारतीय नाटकों का अभिनय रङ्गशाला में होता था। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव नही पड़ा, साथ ही एक अन्य कारण यह भी है कि यूनानी नाटक प्रायः दुःखान्त होते हैं तथा संस्कृत नाटक सुखान्त। अत एव यूनानी नाटकों से संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

नाट्यविकास की परम्परा- नाट्योत्पत्ति के विषय मे दिये गये मतों के विवादास्पद होने के कारण इसमें उद्गम के संदर्भ में कोई निश्चित निर्णय देना दुष्कर है किन्तु यह तो अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति वेदमूलक है तथा नाटकों की उत्पत्ति भारत में ही हुई। पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, पिशेल, लेबी, कीथ, मैक्डोनल आदि विद्वान भी इस मत से सहमत है कि सर्वप्रथम नाट्य की उत्पत्ति भारत में हुई। भारतीय नाट्य के उद्भव एवं विकास के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं पर विचार करने के पश्चात् , एक दूसरे प्रकार के प्रमाणों पर भी विचार करना आवश्यक है अर्थात् जिसमें नाट्य या नाटक के किसी अंश का सादृश्य मिलता हो तथा नाट्य सम्बन्धी विषयों का किसी न किसी प्रसङ्ग में निर्देश मिलता हो। इन प्रमाणो में नाट्य के विकास का आधार ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, जैन-बौद्ध धर्म ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ शिलालेख, जातक कथायें आदि है। इस प्रकार ये सभी प्रमाण नाट्योत्पत्ति के प्रमुख प्रमाण हैं।

रामायण महाभारत के अध्ययन से यह पता चलता है कि उस समय नाटकों का विकास प्रगति पर था। नाटकों में रसपरिपाक हास्यादि पर ध्यान दिया जाता था।

वाल्मीकि रामायण मे नट, नर्तक, नाटक, नृत्य का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है।[१] शैलूष और उनकी स्त्रियों से पता चलता है कि अभिनेता व अभिनेत्रियॉ दोनों थे। आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि ने बताया है कि वहॉ नाटक की मंडलियाँ तथा वेश्यायें थी- 'वधूनाटकसधैश्च संयुक्ताम् '। राम के अभिषेक के समय भी रामायण में नटों नर्तकों का उपस्थित होना तथा अपनी कुशलता से लोगों को प्रसन्न करना लिखा है-

'नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम् ।

यतः कर्णसुखा वाचः सुश्राव जनता ततः'।। (वाल्मीकि रामायण)

इसी प्रकार महाभारत में भी सूत्रधार, नट, नर्तक आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

वैयाकरणिक पाणिनि ने भी अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में दो नट सूत्रों का उल्लेख किया कि 'कृशाश्व' और 'शिलालिन्' दो नट सूत्रकार इस युग तक हो चुके थे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व नाट्यशास्त्र अपनी पूर्णावस्था प्राप्त कर चुका था। पाणिनि ने केवल अष्टाध्यायी की ही रचना नहीं की अपितु 'जामवन्तीजय' नामक नाटक भी लिखा।[३] अष्टाध्यायी मे नट् नटाचार्य, प्रेक्षा प्रभृति शब्द भी प्राप्त होते है। अतः तत्कालीन समाज में नाटको का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

पतञ्जलि द्वारा की गई पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या नाट्योत्पत्ति के विषय मे और अधिक प्रकाश डालती है। पतञ्जलि ने (१५०ई.पू.) महाभारत में 'कंसवध' और

---

[१] संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास कपिलदेव, पृष्ठ- २६९ नाराजके जनपदे प्रकृष्ट नटनर्तकाः - रामायण २/६९/१५ वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे। नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च। रामायण २/६९/४

[२] इत्यब्रबीत सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तथा- महाभारत १/५१/१५

[३] स्वस्ति पाणिनयै तस्मै येन रुद्रप्रसादतः। आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो जाम्बवतीजय।

'बालिवध' नामक नाटक के खेले जाने का उल्लेख किया है- ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।[1]

नाटकों व नटों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी प्राप्त होता है। चाणक्य ने शत्रुराजा के वध में नाट्यशाला के उपयोग की ओर सङ्केत किया है। उनका विचार है कि जिस देश में राजा नाट्यशाला में जाकर अभिनय देखता है, उसका तीक्ष्ण पुरुषों द्वारा बध करवा दिया जाय। नटों का उपदेश है कि वे अग्नि, विष, का खेल राजा को न दिखायें तथा उन्होने नटों को अपने रूप को छिपाकर कार्य करने में कुशल बताया। इन सभी तथ्यों से चाणक्य के काल मे नटों, नाटकों व नाट्यशालाओं का अस्तित्व अवश्य ही प्रमाणित होता है।

अर्थशास्त्र के समान ही बौद्धकाल में नाटको की सूचना 'अविदानशतक' से प्राप्त होती है।[2] इसी प्रकार जैन ग्रन्थों व वात्स्यायन के कामसूत्रों में भी नाटकों व नटो का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन ने लिखा है कि नट लोगों को नाटक दिखावें और दूसरे दिन नागरिक चाहें तो नाटक देखें नहीं तो दर्शकों को विदा कर दें।[3] 'कुशीलवाश्चागन्तवः'[4] इस सूक्त में आये कुशीलव शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम अभिनय का कार्य लव-कुश ने कया था। अतः इनके अनुकरण एवं स्मृति में अभिनेता के लिये कुशीलव नाम प्रचलित हो गया। इससे स्पष्ट है कि नाटकों का उद्भव जितना प्राचीन है उतने ही समय से उसके विकास की परम्परा भी प्रवाहित हो रही है।

---

१ महाभाष्य- पतञ्जलि ३/२/१११

२ Avatem Calkas Sanskrit Drama by A.B. Keith II Chapter IIIrd Part पृष्ठ- ३६-५७

३ संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास कपिलदेव, पृष्ठ- २६८-२७१

४ कुशीलवाश्चागन्तवःप्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यःपूजां नियतं लभेरन् । यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। कामसूत्र- वात्स्यायन १/४/२८-३१

वेदों में भी ऐसे सङ्केत मिलते हैं जिनसे वैदिक काल में नाटकों की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तों में सोमविक्रय के समय होने वाले अभिनय का पता चलता है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के तीसवें अध्याय की छठवीं कण्डिका में 'शैलूष' शब्द आया है जिसका अर्थ अभिनेता कहा गया तथा यह भी कहा जाता है कि सूत को नृत्य के लिए तथा शैलूष को गान के लिए नियुक्त करना चाहिए। कैशीतकी ब्राह्मण मे भी यज्ञ के पुरोहित नृत्य करते हुए वर्णित है तथा इसी गान मे संगीत (गान, नृत्य, एवं वाद्य) यज्ञ-यागादि का ही एक भाग कहा गया है। इन सभी तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक युग में वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे जो नाटक के लिए अपेक्षित हैं। रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि ग्रन्थ नाटकों के अस्तित्व के साक्षी है।

भारतीय नाटक भारतभूमि पर अति प्राचीनकाल से ही अभिनीत होते रहे हैं। इसलिए विद्वान यहाँ के पुरातन नाटकों व नाट्यशालाओं पर यूनानी प्रभाव सिद्ध करने के प्रयास में असफल हो गये। विदेशियों ने भी संस्कृत नाटकों को भारत की अपनी वस्तु कहा है।[1] डॉ. कीथ ने नाटकों की परम्परा का विवेचन किया और इनकीप्रेरणा का स्रोत महाकाव्यों के गायन तथा कृष्ण के जीवन की उन नाटकीय घटनाओं को माना जिसमें श्रीकृष्ण अपने शत्रुओं से संघर्ष कर विजय प्राप्त करते है।

यद्यपि भारतीय नाटकों के उद्गम के विषय में कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है तथापि इस सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति वेद मूलक है। वैदिक कर्मकाण्डों एवं संवाद सूक्तों मे नाटक के बीज विद्यमान है। भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति भरतों द्वारा इन्हीं वैदिक अनुष्ठानों मे पाये जाने वाले नाटकीय तत्त्वों के आधारपर हुई। आर. वी जागीरदार ने भरतों के सम्बन्ध में स्वीकार किया है कि भरत और शिष्यों के नाट्यकला के उद्गम एवं विकास में अत्यधिक

---

[1] संस्कृत ड्रामा-कीथ, पृष्ठ- ४५

सहायता की।[1] कदाचित् यज्ञों के अवसर पर नृत्य, गीत, वाद्य के सम्मिश्रण से अभिनय का प्रचलन रहा होगा। इसकी सिद्धि नाट्यशास्त्र मे नाट्योत्पत्ति के 'जग्राहं पाठ्यं ऋग्वेदात् ' से होती है। यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि नाटक के विभिन्न तत्त्व वेदों में थे। अतः इसी से नाट्यवेद की रचना की गई। आचार्य श्यामसुन्दर दास का भी यही मत है कि आदि ग्रन्थो में पाये जाने वाले नाटकों के मूल तत्त्व- संगीत व अभिनय समय पाकर धीरे-धीरे नाटक के रूप में विकसित हुए किन्तु उनके विकास तथा प्रोत्साहन के मुख्य साधन महाकाव्य और गीतिकाव्य ही रहे।[2] नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रस्तुत तर्क भारतीय नाटको की उत्पत्ति का कारण निर्धारित न कर सके तथापि वैदिक युग में भारतीय नाटकों के अस्तित्व का भली प्रकार परिचय अवश्य मिलता है।

वाल्मीकि रामायण, महाभारत, व्याकरण आदि ग्रन्थ नाटक तथा रङ्गमञ्च के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही नाट्यकला पर्याप्त विकसित एवं उन्नत थी। नाटक नाट्यकला के उच्चतर रूप का स्वाभाविक आदर्श रहा है। नाटक की मूलभूत प्रवृत्तियो, भारतीय नाटक के उदय, एवं उत्पत्ति के विभिन्न मतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक उतना ही प्राचीन है जितना मानव जीवन। भारतीय नाटकों की उत्पत्ति वेदमूलक कही गई तथा वेदमे नाटक के सभी तत्त्व विकसित अवस्था में प्राप्त होते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि नाटक का जन्म मानव विकास की उस आरम्भिक अवस्था में हुआ होगा जब मानव असभ्य जीवन व्यतीत कर रहा था।

नाटकीय विकास की दूसरी स्थिति में देवताओं के प्रसन्नार्थ सामूहिक नृत्य की परिपाटी चली होगी क्योंकि सामूहिक नृत्य आदिम मनुष्यों की प्रसन्नता के साधन थे।

---

१ Drama in Sanskrit literatue- page ३१, Ed- १९४७ उद्धृत-भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य- शांति मलिक, पृष्ठ-८

२ रूपक रहस्य-श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ- ४,९

आगे चलकर मानव के उस प्राकृतिक नर्तन ने ताल लय आश्रित नृत्त और नृत्य का रूप धारण किया तथा उससे गान जुड़ा होगा।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि नृत्य, गान, वाद्य, कथानक संवादों के एकीकरण होने के अनन्तर ही नाटक का अस्तित्व आया। पाणिनि के 'कृशाश्व' एवं 'शिलालिन्' के नट सूत्रों के उल्लेख इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि भारतीय नाट्य परम्परा अति प्राचीन है तभी तो वैदिक काल के नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय हेतु सूत्रग्रन्थों की रचना होने लगी थी। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' एक प्राचीन एवं अनुभवसिद्ध तथ्य है। अत एव नाटक साहित्य का प्रमुख एवं मनोहर अङ्ग है। यह कवित्व की चरम सीमा माना जाता है। नाटक की दृश्यात्मकता और अभिनयशीलता इसकी उत्पत्ति से ही स्पष्ट है, कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन में अभिनय की प्रधानता प्राचीनकाल से चली आ रही है तथा वैदिक साहित्य इसका उत्कृष्टतम् प्रमाण है।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्योत्पत्ति का इतिहास सम्भवतः विश्व साहित्य में प्राप्त नाट्य के उद्भव का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। इसकी समीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल मे भारतीय नाट्य के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ तथा नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के बीज इन वेदों मे उपलब्ध थे। ऋक् के सम्वाद, यजुर के कर्मकाण्ड व अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्व से प्राण रूप रस का संग्रह हुआ जिससे भारतीय नाट्य अपने आदि रूप में पल्लवित हुआ। भरत के इस सिद्धान्त का समर्थन प्रायः सभी प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों ने किया है।

अत एव भारतीय नाट्य के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यतायें प्रस्तुत की तथा इन मान्यताओं की समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि अनेक आधुनिक विद्वान भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य की देव व वेद धर्म मूलकता का विभिन्न स्तर पर समर्थन करते हैं तथा दूसरे अन्य विद्वान

नाट्योद्भव के स्रोत रूप में वेद और धर्म को अङ्गीकार न करते हुए मुख्य रूप से लोकभावना व लोकसंस्कारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।

संस्कृत साहित्य में नाट्य साहित्य का क्षेत्र समृद्ध एवं व्यापक है तथापि समग्र या पर्याप्त सामग्री के अभाव में अब तक नाट्य परम्परा के उद्भव विकास का समुचित अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं किया जा सका है।

वर्तमान संदर्भ में नाटक व रूपक- नाटक संस्कृत-साहित्य का एक गौरवपूर्ण अङ्ग है। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में ही नहीं अपितु पूरे भारतीय साहित्य में नाटक शब्द इतनी व्यापकता से फैल गया है कि इसने मूलरूप 'रूपक' को तिरोहित कर दिया है।

यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि रूपक के भेदों में नाटक की ही प्रमुखता क्यों है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह रूपक के दस भेदों में प्रमुख स्थान रखता है तात्पर्य यह है कि प्रकरण हो या प्रहसन, व्यायोग हो या समवकार प्रेक्षक उसके लिए नाटक शब्द का ही प्रयोग करते हैं क्योंकि नाटक शब्द समाज में इतना प्रचलित हो गया है कि अन्य भेदो के नाम लेने पर वे अपरिचित लगते हैं। साथ ही इसकी प्रमुखता का एक अन्य कारण यह भी है कि काव्य का प्राणतत्त्व वीर या शृंगार रस ही इसका अङ्गी रस होता है तथा रूपक के अन्य सभी भेदो के प्रायः सभी लक्षण नाटक में मिलते हैं। अत एव नाटक अन्य रूपक भेदो की अपेक्षा व्यापक और प्रमुख है। काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदैव रही है क्योंकि काव्य के आनन्द से वञ्चित रहने वाले व्यक्ति भी नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। नाटक नेत्र मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा अधिक ही होता है तथा नाटक में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना आवश्यक नहीं होता।

आज नाटक रूपक का पर्याय बन गया है। वास्तव में शास्त्रीय दृष्टि से नाटक रूपक का एक भेद मात्र है। शास्त्रीय नियमों से अवगत विद्वान तो इस भेद को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं परन्तु आधुनिक आलोचक तो इसे नाटक का प्राचीन नाम

तक कह देते हैं।[१] अत एव वर्तमान समय मे रूपक शब्द नाटक के रूप में तथा सभी प्रकार के नाट्य भेदों को अन्तर्निहित रखने वाले शास्त्रीय शब्दों के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।[२] नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि कभी अप्रधान अर्थ में नाट्यसामान्य व रूपक सामान्य के लिए नाटक शब्द प्रयुक्त होता है।[३] अभिनवगुप्त के अनुसार कभी नाटक रूपक तथा कभी रूपक के भेदों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है- नाटकशब्दो रूपकमात्र वृत्तिः।[४] संस्कृत साहित्य में नाट्य एक प्रमुख स्थान रखता है। संस्कृत में नाट्य के लिए रूपक शब्द का प्रयोग प्रचलित है किन्तु आधुनिक युग में रूपक की अपेक्षा नाटक शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है तथा सभी प्रकार के रूपकों के निमित्त इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। नाटक संस्कृत साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है इसलिए इस नाटक के कारण संस्कृत साहित्य को समस्त विश्व में जो स्थान व महत्त्व प्राप्त हुआ वह प्रशंसनीय व गेय है।

नाटक को रूपक और रूपक को नाटक इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह उस भाषा व उस रङ्ग में प्रस्तुत किया जाता है जो देखा और सुना (दृश्य और श्रव्य) जाता है। नाटक की गुणवत्ता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रूपकत्व के आधार पर नाटकत्व निश्चित होता है जिसमें जितना रूपकत्व होता है वह उतनी ही नाटक है तथा जिसमें रूपकत्व का अनुपात कम है वह रूपक के अन्य भेद भाण, प्रकरण आदि है।

रूपक की सम्पूर्णता नाटक और प्रकरण में ही है, शेष आठ रूपकों में क्यों नहीं? इस प्रश्न में रूपकत्व और नाटकत्व का रहस्य भेद छिपा है क्योंकि जिसमें रूपकत्व का सम्पूर्ण वृत्तिवृत्यांग निहित है वह स्वभावतः नाटक है।

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ- ६७०

२ वास्तव में नाटक अब एक ही अर्थ का बोधक नहीं रहा अपितु दो भिन्न अर्थ देने लगा- नाटक रूपक व नाटक रूपक भेद (रूपक रहस्य, पृष्ठ- ५०८)

३ प्रयोगो द्विविधश्चैव विज्ञेयो नाटकाश्रयः। (नाट्यशास्त्र- १३/५८)

४ अभिनवभारती भाग-१, पृष्ठ- पृष्ठ- २१६

संस्कृत आचार्यों ने नाटक को रूपक की संज्ञा दी क्योंकि इसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे का रूप धारण करता है। वास्तव में रूप धारण करना ही सब कुछ नहीं है, यहीं नाटक या रूपक की इति श्री नहीं होती अपितु जो व्यक्ति किसी का रूप धारण करता है वह उसी के समान हाव-भाव करता है। इसप्रकार अनुकरण करने वाला व्यक्ति अपने ऊपर दूसरे व्यक्ति के रूपादि का यथा-सम्भव पूर्ण-रूपेण समारोपण करके यही दिखाने का प्रयत्न करता है कि वह वही व्यक्ति है जिसका रूप धारण किये हुए है। इसी कारण इस प्रकार के अभिनय को रूप कहते है तथा जिस कारण इसे नाटक नाम दिया गया वह यह है कि इसमे नाट्य भी प्रधान रूप से रहता है।

भरत के नाट्य मे उत्तम, मध्यम, अधम सभी श्रेणी के व्यक्तियों के कर्म को संश्रय मिलता है।[१] इसी प्रकार इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ विनोद का मिश्रण भी माना गया है।[२] शारदातनय ने कहा है कि जन समुदाय की रुचि भिन्न-भिन्न होती है। इन्हीं भिन्न स्वभावो के आधार पर नाट्य की रचना की जाती है यही कारण है कि व्यक्ति अपने शिल्प, शृंगार, कर्म और वचनानुसार रचित नाटक को प्रिय मानते हैं।

जन सामान्य के अतिसामीप्य के कारण रूपकों के अन्य भेदों की अपेक्षा नाटकों की उत्कृष्ट स्थिति ने नाट्य को नाटक का पर्याय बना दिया। जिसके फलस्वरुप सामान्य और विशेष सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हुए भी नाट्य और नाटक अभिन्न से प्रतीत होने लगे, जबकि नाटक तो नाट्य के दस भेदों में से एक है, जो वस्तु, नेता, रस की स्थिति के अनुसार अन्य नाट्य रूपो से भिन्न होता है। इसके अतिरिक्त

---

१ 'उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादि कृत॥
(नाट्यशास्त्र १/११३) गायकवाड आरियण्टल सीरीज बड़ौदा

२ श्रुतिस्मृतिसदाचार परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोद जननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
(नाट्यशास्त्र १/११९) गायकवाड आरियण्टल सीरीज बड़ौदा

नाट्यशास्त्र में यह भी कहा गया है कि नाट्य के तत्त्व न केवल, गीत, अभिनय तथा रस हैं अपितु बोधा तत्त्व पाठ्य भी हैं।[1] जिसके साथ इतिहास, वेद, धर्म, अर्थ, उपदेश एवं संग्रह का सम्बन्ध होने के कारण वह नाट्य नाटक से कुछ पृथक सा हो जाता है।[2]

संस्कृत साहित्यकारों ने रूपक के अन्तर्गत जिन दस भेदो को स्वीकार किया है, उन दस भेदों में नाटक सर्वश्रेष्ठ काव्य रूप में इसलिए गिना जाता है क्योंकि इसमें सभी वृत्तियों एवं सभी गुणों का समन्वय किया जाता है। भरतमुनि ने कहा है कि देवताओं मनुष्यों राजाओं तथा लोकोत्तर पुरुषों के अतीत में किये हुए सत्कार्यों का अनुकरणात्मक प्रदर्शन ही नाटक कहलाता है।[3] कालिदास ने विक्रमोर्वशीय[4] के आरम्भ में नाटक के लिए 'प्रयोगबन्ध' शब्द प्रयुक्त किया है तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में नाट्य के लिए 'प्रयोग विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है।

इसप्रकार वर्तमान संदर्भ में नाटक व रूपक का विस्तृत अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि नाटक एक श्रेष्ठ रचना विधान है क्योकि इसमें कथ्य के दृश्य बनकर मूर्त हो सकने की आन्तरिक क्षमता विद्यमान होती है। अत एव नाटक व रूपक एक दूसरे के पूरक व पर्यायवाची ही नहीं अपितु दोनो एक ही है। इसप्रकार अपनी सर्वव्यापकता के कारण आज नाटक ही रूपक के सम्पूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया है।

नाट्य के आधार तत्त्व- नाट्य एक दृश्यकाव्य है इसकी सार्थकता इसके तत्त्वों पर ही निर्भर करती है। तत्त्व का तात्पर्य उन अंशों से है जो नाट्य को पूर्णता प्रदान करते हैं अर्थात् उसे रङ्गमञ्च पर अभिनीत करने के योग्य बनाते है। वस्तुतः

---

[1] 'जग्राहं पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान रसानाथवर्णादपि।। (नाट्यशास्त्र- १/१७)

[2] नाट्यशास्त्र १/१९

[3] देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र)

[4] विक्रमोर्वशीयम् २/१७

नाट्य के तात्त्विक भावों का विश्लेषण उसमें पिरोये गये भावो के आधार पर ही सम्भव है और उसके तत्त्व वे अङ्ग हैं जिनके बिना नाट्य की सत्ता का अस्तित्व नही है। आचार्य धनञ्जय ने रूपक के तीन भेदक तत्त्व माने हैं- वस्तु, नेता, रस (वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकाः)। ये भरत की नाट्यशास्त्रीय व्याख्या में समाहित नहीं हो सकते क्योंकि भरत ने अभिनय के चार भेद बताये हैं- आङ्गिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य। यदि इन चारों पर विचार किया जाय तो वस्तु, नेता, रस इनमें पूर्ण रूप से समाहित नहीं होते।

नाट्य की आत्मा तो कथा मे निहित है और नाट्य के वाचिक अभिनय के लिए संवाद तथा कथोपकथन की आवश्यकता होती है तथा आङ्गिक, सात्विक और आहार्य अभिनय के लिए एवं दृश्य प्रदर्शन हेतु रङ्गनिर्देश की आवश्यकता होती है अतएव कह सकते हैं कि नाट्य मे मूलतः कथा, संवाद और रङ्गनिर्देश तीन तत्त्व होते हैं। आङ्गिक, वाचिक,सात्विक, आहार्य अभिनयों की निर्भरता जीवन के विभिन्न क्रिया व्यापारों को दर्शाने के लिए अनिवार्य हैं। इन सभी को रङ्गनिर्देश की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने नाट्य में इसके अतिरिक्त भी तत्त्व स्वीकार किये हैं- यथा- भाषाशैली, रचनाकौशल, संगीत, पाठ्य, अभिनय एवं चरित्र-चित्रण। नाट्य की रचना को 'रस-कल्लोल सङ्कुल' होने के कारण कठिन कहा गया है किन्तु रस ही नाट्य या काव्य का प्राण तत्त्व है।[१]

आधुनिक विद्वानों ने दशरूपक के 'वस्तु नेतारसस्तेषां भेदकाः' के आधार पर इन्हें नाट्य का तत्त्व स्वीकार किया है जबकि धनञ्जय ने इसे रूपको का भेदक तत्त्व माना है। इनके अनुसार वस्तु नेता रस के आधार पर ही रूपको व उपरूपकों के भेद किये जाते हैं। अतः इन्हें नाट्य का तत्त्व न मानकर रूपकों का भेदकारक तत्त्व मानते हैं।

---

१ हिन्दी नाट्य दर्पण- रामचन्द्र- गुणचन्द्र- व्याख्या डॉ. नागेन्द्र पृष्ठ- ४५

रसतत्त्व को नाट्यतत्त्व माना जा सकता है क्योंकि काव्य का उद्देश्य रस प्राप्ति कराना है। साहित्य में काव्य से आस्वादन प्राप्त आनन्दानुभूति ही रस संज्ञा से विभूषित है तथा यह काव्यानन्द ही रस है। रस के बिना नाटक का अस्तित्व ही नहीं है। यह रस ही सम्पूर्ण काव्य का प्राण है इसलिए विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[१] की है अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस के आधार पर ही सुखान्त और दुःखान्त नाटकों के भेद किये जाते हैं।

नाट्य के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए आधुनिक विद्वान विष्णु कुमार त्रिपाठी राकेश ने रस को नाट्यतत्त्व न मानकर नाट्य की आत्मा माना है। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिसप्रकार रस काव्य की आत्मा है उसी प्रकार नाटकों की भी आत्मा है परन्तु वह नाटक का तत्त्व नहीं हो सकता।[२] पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय नाटकों से भिन्न नाट्यतत्त्वों को स्वीकारा है। अरस्तू ने कथावस्तु, देशकाल, संवाद, उद्देश्य इन सब को नाट्य के लिए आवश्यक बताया हैं।

रसहीन साहित्य अशोभनीय होता है। रस ही जीवन है तथा जीवन ही नाट्य व नाट्य ही सृष्टि है, सृष्टि ईश्वर की कला है। इसप्रकार रस का सम्बन्ध ईश्वर से है। महर्षियों ने 'रसो वै सः' कहकर रस को ईश्वर की संज्ञा दी है। नाट्य साहित्य एवं जीवन में रस प्रमुख व अनिवार्य तत्त्व है इसे उपेक्षित नही किया जा सकता। भरत की परम्परा में रस ही नाट्य का प्राण है रस के बिना नाट्य में कुछ भी घटित नहीं हो सकता- 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'।[३] रसास्वादन जीवन के पुरूषार्थों से अनिवार्यतया अनुषक्त है।

रस को ही नाट्य का प्राण तत्त्व कहा जाता है इसी कारण नाट्य में सहृदयसंवेद्यता, भावानुभूति की उत्कटता, एवं तादात्म्यानुभूति अधिक होती है। अत

---

[१] साहित्यदर्पण १/३२

[२] नाटक के तत्त्व सिद्धान्त और समीक्षा- दशरथ ओझा, पृष्ठ- ५९

[३] नाट्यशास्त्र अध्याय- ६

एव तन्मयीभाव, साधारणीकरण, विगलित वेदान्तरता की प्रक्रियायें नाट्य में ही घटित होती हैं।

अग्निपुराण में भी नाट्य को तीनों वर्गो का साधन कहा गया है- 'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् ।' शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में भी यह स्पष्ट किया है कि नाट्य का मुख्य अर्थ रस है किन्तु यह जिज्ञासा होती है कि नाट्य का अमुख्य अर्थ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाता है कि अमुख्य अर्थ नाट्य शब्द का नर्तन है क्योंकि कुछ विद्वानों ने लक्षणा के द्वारा चारों अभिनयों से रस की अभिव्यक्ति के साधन नर्तन को भी 'नाट्य' कहा है। वस्तुतः नर्तन अभिनय है अतः लक्षणा से नर्तन अभिनय नाट्य का अर्थ हो सकता है, अत"एव नाटय में नानाविध रसमयता रहती है।[१]

नटों के विशिष्ट कर्मों को नाट्य कहा गया है। नाट्य की उपादेयता रहस्य काव्य की रसात्मकता में निहित हैं जो नट या अभिनेता के अभिनय के अनन्तर सामाजिकों को आनन्दानुभूति के रूप में मिलती है। इसप्रकार नाट्य की उपादेयता का सम्बन्ध, नट, कवि, तथा सामाजिक इन तीनों व्यक्तियो से होता है। इसके अतिरिक्त नाट्य के स्वरूप द्वारा लोकचरित का अभिनय करने के लिए जिस कथा का अवलम्बन किया जाता है, वह उस भाव विशेष के मूर्त तथा जीवित रूप को सहृदय सामाजिकों के समक्ष उपस्थित कर देता है, जिससे उसके हृदय में रस की निष्पत्ति होती है। फलतः रस ही नाट्य की प्राणसत्ता है तथा नाट्य की उपादेयता इसी रस में ही निहित है।

भरतमुनि के अनुसार नाट्य का चरमोत्कर्ष उसके द्वारा रस तत्त्व की उपादेयता पर निर्भर करता है। आचार्य धनञ्जय ने नाट्य या रूपक के विभिन्न रसो पर आधारित होने के कारण दस भेदों में विभक्त किया। नाट्य एवं रस की महत्ता को प्रतिपादित

---

१ 'नाट्य शब्दो रसे रसाभिव्यक्तिकारणम् ।
चतुर्थाऽभिनयोपेत लक्षणा वृत्तितो बुधैः।।
(संगीतरत्नाकर-शाङ्गदेव- पृष्ठ- ७, भाग-४)

करते हुए 'सर्व खल्विदं ब्रह्म नाट्यम्'[१] कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मा का नाट्य है। दशरूपककार धनञ्जय ने ग्रन्थारम्भ में विष्णु की प्रार्थना करते हुए कहा है कि-

'दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः

नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च॥'[२]

अर्थात् जिनके दशरूपो की लीलाओं पर उनके भक्त मगन होते हैं उन नटवर विष्णु को प्रणाम करते है। भक्तों ने भगवान् के चरितों की लीला करना प्रारम्भ कर दिया और सभी लोग लीला में या नाट्य में इसी भावना से अधिकाधिक रस का पान करने लगे कि जब भगवान स्वयं लीला व अभिनय करते हैं जो मनुष्य क्यों न करें क्योंकि स्वयं भगवान ने गीता में कहा है कि-

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते॥'[३]

लोकव्यवहार में भी नाट्य का प्राधान्य होता हैं- 'लोकव्यवहारेऽपि नाट्यप्राधान्यम्।'[४] सभी कलाओं से पूर्ण यह नाट्य संसार में विनोद उत्पन्न करता है तथा मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करता है इसलिए यह लोकप्रिय भी है- 'सर्वकलासंयोगान्नाट्यस्य लोकप्रियत्वं सिद्धम् ।'[५]

इसप्रकार नाट्य का प्राणतत्त्व रस ही नाट्य की उत्कृष्टता एवं लोकप्रियता का परिचायक है।

---

१ अभिनव नाट्यशास्त्र भाग-१, सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ-१

२ दशरूपक- धनञ्जय, पृष्ठ-२

३ गीता ३/२१

४ अभिनवभारती नाट्यशास्त्र, प्रथमखण्ड- सीताराम चतुर्वेदी- पृष्ठ-४

५ अभिनव नाट्यशास्त्र- सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ- ४ से उद्धृत

नाट्य का प्रयोजन एवं महत्त्व- जिसप्रकार यह सर्वविदित है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है अर्थात् किसी कार्य का प्रादुर्भाव बिना कारण नहीं होता उसी प्रकार नाट्य के प्रादुर्भाव रूप कार्य का कारण भी अवश्य ही है जो नाट्य का प्रयोजन है। नाट्य अनेक अवस्थाओं से युक्त होते हुए तीनों प्रकार के मनुष्यों (उत्तम, मध्यम, अधम) के कर्म के आधार पर उनको हित का उपदेश देने वाला तथा धैर्य मनोरंजन सुख को प्रदान कराने वाला है।[१] साथ ही नाट्य का विस्तृत स्वरूप यह है कि यह दुःख से पीड़ित, शोकसन्तप्त व्यक्तियों को विश्रान्ति देता है।[२] यह नाट्य धर्म का जनक, यश का प्रदाता, आयु को बढ़ाने वाला कल्याणकारी तथा लोक को उपदेश देने वाला है।[३]

इस नाट्य में ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कार्य नहीं है जो प्रदर्शित नहीं किया जाता हो[४] अर्थात् सभी शास्त्र एवं अनेक प्रकार के कार्य संयोजित होते हैं। भरत ने कहा कि नाट्य सात द्वीपों वाले लोकों का अनुकरण है, इसमें देवों, असुरों, राजाओं, ऋषियों, गृहस्थों के वृत्तान्तों का प्रदर्शन भी होता है। लोक में सुख-दुःख से युक्त स्वभाव के ही विभिन्न अङ्गों द्वारा अभिनय किये जाने पर नाटक है तथा वेद, विद्या,इतिहास के कथाओं की अभिनय द्वारा परिकल्पना करने वाला नाटक लोक का मनोरजंन करने वाला है। अत-एव स्पष्ट है कि नाट्य असीमित स्वरूप वाला अवर्णनीय है।

---

१ उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत।। (नाट्यशास्त्र १/११३)

२ दुखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र १/११४)

३ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र १/११५)

४ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।। (नाट्यशास्त्र १/११६)

'उपदेशाय विश्रान्त्यै चापि नाट्यम्'[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि नाट्य लोकचित्त की शांति और शिक्षा का साधन है अर्थात् नाट्य कारण और शिक्षादि कार्य हैं। नाट्य का एक मुख्य प्रयोजन यह है कि यह 'सार्ववर्णिक' है अर्थात् परम्परानुसार वेद शूद्रों को नहीं सुनाया जा सकता था किन्तु इस पञ्चम नाट्यवेद की उत्पत्ति के बाद यह विधान समाप्त हो गया क्योंकि यह एक ऐसा नाट्यवेद है जो सभी को सुनाया जा सकता है। यह नाट्य विश्व जीवन की ऐसी विशाल रङ्गवेदिका है जिसमें सम्पूर्ण कला और कर्म का प्रदर्शन होता है।

नाट्यवेद का प्रार्दुभाव अवतरण लोक में वैदिक संस्कृति और सभ्यता के विस्तार हेतु हुआ है। यह जनसाधारण में वैदिक भावना को जागृत करता है। इसका मुख्य उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है।[२] इसके लिए दो विद्याओं का विधान किया गया है-

(क) पराविद्या

(ख) अपराविद्या।

इसमें परा ब्रह्म विद्या तथा अपरा में साहित्य या काव्य का परिगणन किया गया है।[३] इसी को राजशेखर ने चारों विद्याओं का 'निष्यन्द' कहा है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी नाट्य (काव्य) का प्रयोजन बताते हुए यह पंक्ति उद्धृत की है -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिर्वृतये कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे।।[४]

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में कालिदास ने भी कहा है -

---

[१] अभिनव नाट्यशास्त्र- सीताराम चतुर्वेदी- प्रथम खण्ड, पृष्ठ-५

[२] काव्यमीमांसा राजशेखर द्वितीय अध्याय, पृष्ठ-१२

[३] वेदविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र १/१२०)

[४] काव्यप्रकाश-मम्मट-प्रथम उल्लास- श्लोक-२, पृष्ठ-१०

'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

बलवदपि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः॥'[1]

नाट्य का उद्देश्य अत्यन्त प्रभावशाली माना जाता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी विशेष प्रकार की अभिरुचि वाले लोकों के ऊपर नहीं होता प्रत्युत यह सार्वजनिक मनोरञ्जन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय सीमित नही होता, इसमें तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन रहता है। यह नाट्य शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का सञ्चार, शूरवीरों के हृदय में उत्साह तथा अज्ञानियों को ज्ञान के साथ विद्वानों की विद्वत्ता का उत्कर्ष कराता है। नाटक के लोकवृत्तानुकरण से यह तात्पर्य है कि इस विश्व की सुख-दुःखादि जो प्रवृत्तियाँ मानव जीवन में सञ्चार करती हैं उन सबका चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अध्याय में कालिदास ने नाट्य को भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों को आनन्दित करने वाला कहा है अर्थात् भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए भी नाटक को एक सामान्य मनोरञ्जन साधन बताया। इस रूपक का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है इसलिए इसकी सीमा मे मर्त्य, स्वर्ग, पाताल तीनों लोक समाहित है साथ ही इन तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है तथा इसमें दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य त्रिलोक की संस्कृति का इतिहास बसा है। इस नाट्य को 'सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न'[2] कहा है इस कारण आनन्द के साथ चरित्र की उदारता को बढ़ाना, जीवन के स्तर को उदात्त एवं आदर्श बनाना यही नाट्य का उद्देश्य है।

भारतीय संस्कृति मे जहाँ नाट्य को 'विनोदजननं' कहा गया है वहीं इसे 'सर्वोपदेशजननं' कहकर नाटक द्वारा दर्शक पर पड़ने वाले वाह्य और अन्तः प्रभाव को

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तल-कालिदास १/२

[2] सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ (नाट्यशास्त्र-१/१५)

स्पष्ट किया गया। नाट्यशास्त्र में यह उपदेश है कि यह नाट्य भावी जगत् के लिए सभी कार्यों का पथप्रदर्शक तथा सभी शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण होगा। इस प्रकार नाट्य अनेकानेक प्रयोजनों से परिपूर्ण है। संगीत दामोदर में नाट्य को पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कराने वाला तथा इसके आयोजन को सभी दानों मे श्रेष्ठ बताते हुए चर्तुवर्ग से निष्पन्न कराने वाला 'सकलजनरंजक' कहा गया है।[१] रसार्णवसुधाकर में नाट्य को वेदों का सार, सर्ववर्णाधिकारिक, पञ्चमआम्नाय, धर्म्य, अर्थ तथा सर्वशिल्पप्रदर्शक कहा गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'नाट्यं सर्वे प्रतिष्ठितम्।'

नाट्यवेद के समान धर्मादि में प्रवृत्ति तथा अधर्म आदि से निर्वृति कराने वाला होने से वेद के समान ही माना जाता है इसलिए वेद के समान विधि निषेध की शिक्षा देने वाला 'नाट्य वेद' कहा जाता है। वेदादि से होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा नाट्य से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है, यह विचार सभी को मान्य हैं परन्तु प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष रूप में सदाचारभूत यज्ञादि को देखकर भी धर्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तो नाट्य की क्या आवश्यकता है तथा नाट्य से इसका क्या भेद है?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि इसे 'सर्वकर्मानुदर्शक' कहकर नाट्य को भी भरत ने 'सर्वकर्मानुदर्शक'[२] कहा । इसप्रकार इन दोनों (वेद एवं नाट्य) में अभेद है, किन्तु नाट्य की आवश्यकता के विषय में उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले यज्ञादि का फल उस समय प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु जन्मान्तर एवं कालान्तर मे मिलता है इसलिए उस कर्म तथा उसके फल का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध गृहीत नहीं होता परन्तु नाट्य में थोड़े समय के अनन्तर ही उन कर्मों का एवं उनके फलों का सम्बन्ध गृहीत हो जाता है इसलिए यह नाट्य यज्ञादि की अपेक्षा अधिक श्रद्धोत्पाद् एवं शिक्षाप्रद होता है। नाट्य दशरूपकों के साथ चतुर्भुज के अभिनय की शिक्षा देने वाला

---

१ संगीत दामोदर, पृष्ठ-७०

२ धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।। (नाट्यशास्त्र १/१४)

भी है। इसप्रकार यह सभी कर्मों मे प्रवृत्ति राजाज्ञा के समान नहीं अपितु सरसतापूर्वक कराता है।

अत एव नाटक जीवन का एकाङ्गी चित्रण प्रस्तुत न करके पूर्ण सार्वभौम चित्रण प्रस्तुत करते हुए अनेकानेक उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायक है।

नाट्य में सामाजिक चेतना- नाटक के वास्तविक स्वरूप के पर्यावेक्षण से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य निःसर्गतः एक अभिव्यञ्जनशील प्राणी है। स्वानुभूतियों को स्वेच्छित माध्यम से अभिव्यक्त करना उसका स्वभाव है। स्वानुभूतियों को दूसरों की अनुभूति बनाने के लिए वह अभिव्यक्ति का आश्रय लेता है वस्तुतः यह अभिव्यक्ति ही नाटक या नाट्यकला का आधार है।

लोकचेतना व धार्मिक चेतना ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की पोषक हैं क्योंकि लोकचेतना का आश्रय लेकर धार्मिक चेतना सार्थक रूप प्राप्त कर बलवती होती है। नाट्यशास्त्र में भी यह चेतना सार्थकप्रतीत होती है क्योंकि भारतीय नाट्य के उद्भव और विकास को लोक चेतना और धार्मिक चेतना दोनो ने समान रूप से प्रेरणा व गति प्रदान की। नाट्यशास्त्र में यह उल्लेख है कि दैत्यदानवनाशन का प्रयोग महेन्द्र विजयोत्सव पर हुआ तथा इन्द्र ध्वज द्वारा ही प्रथम नाट्य प्रयोग के अवसर पर इन्द्र ने दानवों को जर्जर किया था। इस आधार पर यदि जर्जर के प्रसङ्ग को विवेचित करें तो यह अनुमान किया जा सकता है कि नाट्य का प्रथम प्रयोग वहाँ हुआ होगा जहाँ बाँस की अधिकता हो। इस जर्जर उत्सव की महत्ता का उल्लेख महाभारत के आदि पर्व तथा जैनागमों में मिलता है। भरतमुनि तथा आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता है कि वेद, 'याज्ञिक-कर्मकाण्डों, आर्यों के लोकाचार नाट्योद्भव के प्रमुख स्रोत रहे हैं तथा नाट्योद्भव मे धर्म का तो महत्त्व अधिकाधिक है ही धर्मप्रेरित लोकोत्सव एवं लोकपरम्परायें उसके लिए कम उत्तरदायी नही रहे।

सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का आश्रय लेकर उत्पन्न हुए नाट्य में जीवन का सम्पूर्ण सार निहित है तथा इसमें ऐसे चरित्र को प्रदर्शित किया जाता है

जिससे जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़े अर्थात् अच्छे-बुरे दोनो चरित्रों को प्रस्तुत कर सुखमय परिणामों की श्रेष्ठता प्रदर्शित की जाती है। नाटक की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें अभिनय के माध्यम से जीवन और जगत् को सम्प्रेषित किया जाता है। इस कारण यह ग्रहण, वितरण, पुर्नग्रहण की प्रक्रिया है।

संस्कृत साहित्य में नाटकों की एक मुख्य परम्परा है, न केवल भारतीय अपितु विदेशी साहित्यिक सहृदयों ने भी संस्कृत नाटकों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है क्योंकि नाटक जीवन की गतिशील अवस्था है निष्क्रिय जीवन से नाटक नहीं होता। अत एव नाटक के लिए सक्रियता अनिवार्य है। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि नाट्य में लोक चेतना व धार्मिक चेतना का सदैव से प्रभावशाली स्थान रहा है।

इस प्रथम अध्यायक्रम में रूपकों की अवधारणा संदर्भ में नाट्य का स्वरूप, उत्पत्ति, तथा नाट्य में रस की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए इसकी उपादेयता को भी प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीय अध्याय

पूर्वरङ्ग-विधान-स्वरूप एवं परिचय

पूर्वरङ्ग का तात्पर्य -

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय मे पूर्वरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करते हुए सामाजिकों के अनुरञ्जन, प्रयोग परीक्षण, कवि-काव्य व कथावस्तु के उपक्षेपण की दृष्टि से नाट्यप्रयोग के शुभारम्भ के पूर्व अनेक माङ्गलिक एवं प्रायोगिक अनुष्ठानों का विधान किया है, जिसमें गीत, नृत्य,वाद्यादि का प्रयोग यवनिका के भीतर तथा बाहर किया जाता है।

नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने वाला नट गीत, वाद्य,नृत्य तथा अभिनय से अनुकार्य रामादि की अवस्था का अनुकरण इस प्रकार करता है कि उसके आनन्द से दर्शकों को नट में रामादि की तादात्म्यानुभूति होने लगती है और सभा गायक, वादन नट-नटी सभी परस्पर आनन्द से प्रसन्न होते हैं, यही रङ्गभूमि है जहाँ पूर्वरङ्ग का अभिनय अर्थात् नाट्य प्रयोग के पूर्व ही प्रयोग सम्पन्न होता है। अतः समष्टि रूप में इसे ही भरत[१] तथा विद्वज्जनों द्वारा पूर्वरङ्ग कहा जाता है।

नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने से पहले अभिनेता जन (नट) नाट्यमण्डप (रङ्ग) की विघ्न शान्ति के लिए मङ्गलाचरण करते हैं वह मङ्गलाचरण ही पूर्वरङ्ग कहलाता है। मङ्गलाचरण के विषय में पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे कहा है कि मङ्गलाचरण ग्रन्थ की प्रसिद्धि व पाठकों की सफलता के लिए होता है - 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च

---

१ यस्माद्रंगे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः। (नाट्यशास्त्र ५/७ गायकवाड ओरि.सी.)

सिद्धार्था यथा स्युरिति।' यह शिष्ट परम्परा है कि 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलम् आचरेत्'।

नाट्यप्रयोग के प्रस्तुतिकरण से पूर्व सर्वाधिक उपादेय कृत्यों में पूर्वरङ्गविधान है। यह शब्द पूर्व शब्दपूर्वक रञ्ज् धातु से अधिकरणार्थक घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ। इस पूर्वरङ्ग का प्रयोग प्रायः सभी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों ने स्वीकृत किया जिससे यह तथ्य पुष्ट होता है कि यह कोई नवीन चलन नहीं है। इस शब्द के स्थापित होने के अनन्तर एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रायः किसी भी शब्द के अनेकानेक अर्थ हो सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक मानव की दृष्टि भिन्न-भिन्न पथो का अनुगमन करती है, उसी प्रकार पूर्वरङ्ग शब्द का प्रयोग भी प्राचीनकाल से अनेक अर्थों में प्रचलित रहा। अत एव संस्कृत साहित्य के सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार पूर्वरङ्ग का स्वरूप विवेचन परिभाषित किया।

नाट्यशास्त्र की एक परम्परा में पूर्वरङ्ग का अर्थ 'नाट्यशाला' भी किया जाता रहा है। 'पूर्व रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला' (निर्णयसागर संस्करण दशरूपकावलोक में)[१]। किन्तु आड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित संस्करण में पूर्व रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्ग[२] मिलता है। पूर्वरङ्ग की व्युत्पत्ति के संदर्भ में दशरूपक के व्याख्याकार धनिक[३] ने 'पूर्वरज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता' यह वृत्ति दी है, इसका आशय है कि जहाँ गायक, नट, नटी का मनोरञ्जन किया जाय वह रङ्ग (नाट्यशाला) है अर्थात् सामाजिकों की पूर्व परितुष्टि के कारण ही इसे पूर्वरङ्ग माना। अतः पूर्वरङ्ग का अर्थ नाट्यशाला लेने की परम्परा प्राचीन है।

---

१ पूर्वरज्यतेऽस्मिन् इति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला।
तात्स्थ्यप्रयोगव्युत्थापनात् पूर्वरङ्गता। (दशरूपकावलोक)

२ पूर्वरज्यतेऽस्मिन्नितिपूर्वरङ्गः उत्थापनादि प्रयोगः। नाट्यशालायां तात्स्थ्यात् प्रथम प्रयोगे तद् उत्थापनादौ पूर्वरङ्गत्वम् । (आड्यार लाइब्रेरी)

३ दशरूपक ३/२ वृत्ति।

अभिनवगुप्त ने पूर्वरङ्ग[1] का यही व्युत्पत्तिजन्य अर्थ स्वीकृत करके नाट्यप्रयोग के पूर्व ही सफलतापूर्वक पूर्ण होने के लिए किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्यकलाप को पूर्वरङ्ग में समाविष्ट मानकर इसकी अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए एवं पूर्वरङ्ग की विधियों की तुलना तन्तु पट से करते हुए कहा कि जिसप्रकार एक-एक सूत्र के संयोग से पट की रचना होती है तथा उसी पट से सभ्यजन नग्नता को आवरण देते है। उसी प्रकार गीत, वाद्य, नृत्य पाठ्य रूप प्रदान करता है।[2] इसलिए गीत, नृत्य, वाद्य, पाठ्यादि का प्रयोग नाट्य के अङ्गरूप में अर्थात् अपरिहार्य रूप में माना जाता है।

नाट्यशाला बन जाने पर उसके भीतर नाट्य की प्रस्तुति का उपक्रम गान द्वारा होता है और नृत्यवाद्यादि के बिना गायनादि का उपक्रम तथा नाट्य प्रयोग भी सम्भव नहीं है। आचार्य भरत ने भी नाट्य मे गीत का प्रथम प्रयत्न स्वीकार किया क्योंकि यही नाट्य की शय्या या आधारभित्ति है।[3] अतः अभिनवगुप्त की दृष्टि मे रङ्गशाला में पूर्व प्रयोग के कारण यह पूर्वरङ्ग कहलाता है।[4]

पूर्वरङ्ग की व्याख्या वार्तिककार हर्ष ने की जिसे अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया कि हर्ष ने रङ्ग शब्द का अर्थ तौर्यत्रिक करते हुए 'पूर्वश्चासौरङ्गः' इस विग्रह के अनुसार पूर्व में अनुष्ठित होने वाले तौर्यत्रिक को पूर्वरङ्ग माना है।[5] तौर्यत्रिक का तात्पर्य है गीत, वाद्य, नृत्य इन तीनों का सम्मिश्रण, इसे नाट्य का पर्याय भी कहा जाता है।[6] अभिनवगुप्त ने 'पूर्वोरङ्गे इति पूर्वरङ्गः' इसी व्याख्या को उचित ठहराते हुए हर्ष के विग्रह पर आपत्ति प्रगट करके इसका खण्डन किया और कहा कि यह मंडप के

---

[1] तेन गीततालवाद्यानृत्तपाठ्यं व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमानं यन्नाट्याङ्गभूतं स पूर्वरङ्ग इत्युक्त भवति। (अभिनवभारती, भाग-१, पृष्ठ- २०९)

[2] प्रत्याहारादिकेन ह्यगेन बिना गायानादि सामाग्रयसंपत्तेः कथं नाट्य प्रयोगः। न ह्यहोतन्तु तुरीवेमादेः विना शक्यः पटः कर्तुम् । (अभिनवभारती-भाग-१, पृष्ठ- २०९)

[3] गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतिम् (भरतमुनि)

[4] तेन पूर्वे रङ्गो पूर्वरङ्गः (अभिनवभारती-भाग-१, पृष्ठ- २०९)

[5] नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधावल्लभत्रिपाठी, भाग-४, पृष्ठ- १११५ से उद्धृत

[6] तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम् (अमरकोश १.७.१०)

एकदेश जैसा भाग नहीं है अपितु देवता तुष्टि के समान लौकिक-अलौकिक फलशाली कार्य है।[1] पूर्वरङ्ग के विग्रह संदर्भ में अभिनवगुप्त का अनुगमन करते हुए मल्लिकनाथ[2] ने नाट्यारम्भ में करणीय कर्म विशेष को पूर्वरङ्ग कहा तथा वल्लभदेव[3] ने गेय, वाद्य, नृत्य से अन्वित देव स्तुति को पूर्वरङ्ग का स्वरूप माना है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ[4] की दृष्टि से नाट्यप्रयोग के पूर्व रङ्ग अथवा नाट्यमंडप की निर्विघ्नशान्ति के निमित्त नटों द्वारा माङ्गल्य सूचक गायनादि को पूर्वरङ्ग की संज्ञा दी जाती है। दशरूपककार की परम्परा का अनुपालन करते हुए शारदातनय[5] ने यह मत प्रस्तुत किया कि पूर्वरङ्ग की क्रिया द्वारा नटादि का पारस्परिक अनुरञ्जन तथा सामाजिकों के लिए यह आंशिक महत्त्वपूर्ण होते हुए पूर्व प्रकल्पित किये जाने के कारण पूर्वरङ्ग है,[6] किन्तु नाट्यदर्पणकार ने पूर्वरङ्ग के प्रयोग में रञ्जना को ही मुख्य हेतु माना और स्पष्ट किया कि वास्तव मे विघ्नोपशान्ति के लिए स्तुतिपाठ व मङ्गलाशंसा आदि तो श्रद्धालुओं की प्रतारणा के लिए ही है इसलिए उपेक्ष्य है।[7]

पूर्वरङ्ग विधान के परिप्रेक्ष्य में आचार्यों ने अपने-अपने मतो को प्रस्तुत किया किन्तु नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ रसार्णवसुधाकर व प्रतापरूद्रीय में पूर्वरङ्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। पूर्वरङ्ग के संदर्भ में जब हम संस्कृत-साहित्य के कोशों की ओर ध्यानाकर्षित करते हैं तो इनमें भी पूर्वरङ्ग का स्पष्ट लक्षण परिलक्षित होता है।

---

[1] रङ्गस्यपूर्वभाग इति त्वसत् , नायं मंडपस्यैकदेशः।
(अभिनवभारती-भाग-१, पृष्ठ- २०९)

[2] नाट्यशास्त्रविश्वकोष- राधावल्लभ-भाग-४, पृष्ठ- १११६ से उदृधृत।

[3] नाट्यशास्त्र विश्वकोष-राधावल्लभ भाग-४, पृष्ठ- १११६ से उद्धृत।

[4] यान्नाट्यवस्तुनःपूर्वरङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवा प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।
(साहित्यदर्पण-विमर्श टीका- ६/२२-२३)

[5] भावप्रकाश-७ अधिकार ९५

[6] सभापतिः सभा-पूर्वरङ्गोभवेदतः भावप्रकाश- ७/७९-८०

[7] पूर्व नाट्यात्प्रथमं गीत-ताल-वाद्य-नृत्तानिनाट्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं चप्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जना हेतौनाट्यशास्त्रलायां स पूर्वरङ्गः। (नाट्यदर्पण पृष्ठ- १३८)

हलायुधकोश में पूर्वरङ्ग का लक्षण इस प्रकार है- 'आदावेव तु यत्राट्यं पूर्वरङ्गः स उच्यते।'[१]

कल्पद्रुमकोश[२] में नाट्य के उपक्रम को पूर्वरङ्ग कहा गया तथा हेमचन्द्र[३] ने भी इन्हीं के मत का अनुसरण किया है। अमरकोश में पूर्वरङ्ग का उल्लेख ही नही किया गया किन्तु शब्दरत्नाकर में नान्दी आदि अनुष्ठानों को पूर्वरङ्ग कहा गया है। इन सभी पूर्व तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिकाधिक विद्वानो ने नाट्यप्रयोग के पूर्व पूर्वरङ्ग को विशिष्ट स्थान दिया है।यह पूर्वरङ्ग ही विद्वानों को सन्तुष्ट करने में समर्थ होने के कारण सफल नाट्यप्रयोग के पूर्व की चरम परीक्षास्थली है। महाकवि कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तल[४] में यह स्पष्ट किया कि बिना सामाजिक परितोष के नाट्य का प्रयोग सफल नहीं हो पाता क्योंकि शिक्षित प्रयोक्ताओं को भी अपनी सफलता पर सन्देह बना रहता है। वास्तव में यदि पूर्वरङ्ग के धार्मिक अनुष्ठानिक प्रश्न पर जोर नहीं भी दिया जाय तो भी इसका प्रयोग विशुद्ध नाट्यप्रयोग से सम्बद्ध है, इसलिए यवनिका के भीतर की जाने वाली प्रत्याहारादि क्रियाओ की उपेक्षा सम्भव नहीं है। अत एव नाट्यप्रयोग की सफलता को दृष्टिगत करते हुए इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना अति आवश्यक है।

पूर्वरङ्ग का स्वरूप निर्धारण हो जाने पर इसकी प्राचीनता एवं अस्तित्व के सम्बन्ध में सभी प्रश्नों का स्वतः ही निराकरण हो जाता है क्योंकि पूर्वरङ्ग का मूल आगम प्रमाण में है तथा रङ्गदैवत पूजन के समान ही इसके विषय में पक्ष प्रस्तुत किये

---

१ हलायुधकोश-९५, उद्धृत- नाट्यशास्त्रविश्वकोष- राधावल्लभ, भाग-४, पृष्ठ- १११३

२ कल्पद्रुमकोश, पृष्ठ ४२२ श्लोक-५०

३ हेमचन्द्र १०२/९६

४ शब्दरत्नाकर- १८९२, नाट्यशास्त्र विश्वकोष भाग-४, राधावल्लभ त्रिपाठी
आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।
अभिज्ञानशाकुन्तलम् अङ्क-१,श्लोक-२

जा सकते हैं। पूर्वरङ्ग का मूल वैदिक परम्परा में स्वीकृत किया गया क्योंकि पूर्वरङ्ग में जिन देवताओ का आह्वान किया जाता है वे अधिकांशतः वैदिक ही हैं विशेष रूप से इन्द्र और जर्जरपूजन तो वैदिक परम्परा से ही गृहीत किये गये तथा पूर्वरङ्ग के अङ्ग लोकनाट्य परम्पराओं की ही देन है।

इस विषय में यह भी कहना गलत नहीं होगा कि पूर्वरङ्ग संगीत तथा नृत्य से युक्त प्राचीन पारम्परिक नाट्य का अवशेष है। धार्मिक अनुष्ठान एवं संगीत, नृत्य के मिले-जुले रूप की भारतीय जनमानस के बीच अतिशय लोकप्रियता को देखते हुए आचार्य भरत भी नाट्यसिद्धान्तो की व्यवस्था के प्रसङ्ग में रङ्ग से पूर्व होने वाले आनुष्ठानिक कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं कर सके। पूर्वरङ्ग तत्त्वतः लोकप्रचलित उपासना पद्धति की द्योतक है इसका सूक्ष्मविस्तार सूत्रधार तथा उसके सहायकों एवं वादकों की सहायता से सम्पन्न होता रहा है। इस कौशलपूर्ण एवं सुन्दर युक्ति की उद्भावना प्रस्तावना के निर्वाह के लिए की गई थी जिससे वास्तविक नाटक का आरम्भ प्रभावशाली व सन्तोषपूर्ण हो सके।

अत एव प्रयोक्ताओं ने अपनी-अपनी परिकल्पना के साथ अनेक परम्पराओं के समन्वित प्रभाव के परिणाम स्वरूप पूर्वरङ्ग का अस्तित्व नाटकों से भी प्राचीन मानते हुए इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की।

पूर्वरङ्ग का प्रयोजन- अनादिकाल से सर्वस्वीकृतमत है कि प्रत्येक कार्य के पीछे कुछ न कुछ कारण एवं प्रयोजन अवश्य होता है क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि जन भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। अत एव नाट्य रचना रूप कार्य के पूर्व पूर्वरङ्ग विधि रूप कारण (प्रयोजन) है, जो अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवताओं की कृपा प्राप्त कराता है, जिससे पूर्वरङ्ग की प्रत्येक विधि का निश्चित फल भी प्राप्त होता है।

आचार्य भरत ने पूर्वरङ्ग का प्रयोजन रङ्ग के विघ्नो का उपशमन[1] मानते हुए उसे 'यशस्य और आयुष्य'[2] भी कहा है। इसके अनुष्ठान से नाट्यप्रयोग के लिए मांगलिकता की सिद्धि व प्रेक्षकों की नाट्यावलोकन के अनुरूप मनः स्थिति का निर्माण होता है। अतः भरत ने प्रेक्षको की तुष्टि को भी पूर्वरङ्ग का प्रयोजन माना है। इसके अतिरिक्त पूर्वरङ्ग के अनुष्ठान से नाट्यप्रयोग करने वाले नटों का भी प्रयोगानुकूल अभ्यास एवं प्रयोग के अनुरूप प्रेक्षकों के साथ संवाद की स्थिति बनती है। इस दृष्टि से भावप्रकाश[3] में नट-नटी तथा प्रेक्षक समुदाय का रङ्ग प्रयोग के पूर्व किया जाने वाला अन्योन्यानुरञ्जन पूर्वरङ्ग का प्रयोजन बताया गया जिसे पूर्वरङ्ग का लक्षण भी कहा गया है।

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वरङ्ग का मुख्य प्रयोजन विघ्नोपशमन को मानते हुए पूर्वरङ्ग के अङ्गों में वर्णित नान्दी अर्थात् देवस्तुति के अन्तर्गत स्वीकार किया है। पूर्वरङ्ग में देव स्तुति रूप नान्दी की अनिवार्यता प्रायः सभी आचार्यों को मान्य है किन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार प्रेक्षकों का अनुरञ्जन ही पूर्वरङ्गका प्रयोजन मानते हुए देवतादि की स्तुति को अनावश्यक[4] कहा गया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र[5] के अनुसार प्ररोचना को छोड़कर पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का विन्यास निष्फल है तथा पूर्वाचार्यो द्वारा निर्दिष्ट देवता परितोष रूपी प्रयोजनका फल श्रद्धालुओ के लिये प्रतारण मात्र है।

---

१ नाट्यशास्त्र ३६/१२

२ धन्यं यशस्यआयुष्यं पूर्वरङ्गप्रवर्तनम् । नाट्यशास्त्र ५/६५

३ सभापतिः सभा सभ्या गायकावादका अपि।
नटी नटाश्च मोदन्ते यजान्योन्यानुरञ्जनात् ।।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयःपूर्व यत्स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरूच्यते।। (भावप्रकाश ७/१९४/१९५)

४ नाट्यदर्पण-प्रथम विवेक।

५ नाट्यदर्पण-पृष्ठ- १३८

इस विषय में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि इनका प्रयोजन संगीतादि का पूर्वाभ्यास एवं अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करना है वास्तव मे पूर्वरङ्ग की इन समस्त संगीत, नृत्यादि मिश्रित क्रियाओं द्वारा नाटक की पुरानी परम्परा को जीवित रखा गया है, जो हमें पाठ्य और संगीत मिश्रित आरम्भिक नाट्य की संस्मृति दिलाती है।

पूर्वरङ्ग की महत्ता को स्पष्ट करते हुए शारदातनय[१] ने भावप्रकाश के सप्तम अधिकार में पूर्वरङ्ग के फल की ओर स्पष्ट सङ्केत किया है कि जो इस पूर्वरङ्ग की क्रिया को विधिपूर्वक करता है उसका इहलोक में कभी अमङ्गल नहीं होता एवं मृत्यु के पश्चात् वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है अर्थात् दृष्ट रूप से यश की प्राप्ति व अदृष्टरूप से स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है। अतः पूर्वरङ्ग का प्रयोजन लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति प्रदान करना है।

आचार्य वल्लभदेव[२] ने सन्देह विषौषधि की व्याख्या में कहा है कि पूर्वरङ्ग नाट्य प्रस्तुति को अवसर देने के लिए होता है। प्रस्तुति के उपक्रम में पूर्वरङ्ग विधान न करने से दोष होता है। नासदी[३] ने पूर्वरङ्ग के अनुष्ठान का त्याग करने पर कुछ दोष

---

[१] एवं यः पूर्वरङ्ग तु विधिना संप्रयोजयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयादन्न पश्चात् स्वर्ग च गच्छति।।
(भावप्रकाश-शारदातनय ७ अधिकार)

[२] राधावल्लभ त्रिपाठी नाट्यशास्त्र विश्वकोश-भाग-४, पृष्ठ- १११९

[३] पूर्वरङ्गमकृत्वैव यदाचरति नाटकम् ।
इच्छन्तो भूतिमारोग्यं न पश्येयुः कदाचन् ।
पूजामकृत्वा यत् पात्रमाचरेद् यदि नाटकम् ।
तत् पात्रं नीचमित्याहुर्नाट्यशास्त्रविदो जनाः।
नीच-पात्रकृतं नाट्यं ये च पश्यन्ति मानवाः।
अपुत्राः पशवश्चैव जायन्ते कीटयोनिषु।।
ना सदी हस्तलिखित प्रति. अ. ७ राधावल्लभ त्रिपाठी- भाग- ४ पृष्ठ- १११०

बताये हैं कि नाटक में पूर्वरङ्ग का विधान न करने पर व्यक्ति कभी आरोग्य नहीं हो सकता।

भारतीय दृष्टि में किसी भी कार्य का सम्यक् रीति से प्रतिपादन धार्मिक माना जाता है। पूर्वरङ्ग विधान को भी याज्ञिक अनुष्ठान माना गया है। इस विधि को सम्यक् रूप से कर लेने पर कोई अशुभ नहीं होता और स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[1] तथा त्रुटि पूर्ण विधान करने से व्यक्ति तिर्यक् योनि को प्राप्त हो जाता है।[2] इसके अतिरिक्त यह प्रयोक्ता को इतनी शीघ्रता से नष्ट कर देती है कि वायु से प्रेरित अग्नि भी किसी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकती।[3]

पूर्वरङ्ग के प्रयोग का प्रथम उद्देश्य यह है कि समस्त देवता इसकी प्रशंसा करते हैं और दूसरा इसमें देवताओं का पूजन सम्पादित होता है। इसप्रकार धर्म, यश, आयु की अभिवृद्धि करने वाले पूर्वरङ्ग के अङ्गों मे गीत, नृत्य वाद्ययन्त्रों की स्थापना, पाठ्यादि अनेक तत्त्वों का समावेश है। इस विधि मे गीत व नृत्य की अधिकता नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे प्रयोक्ता थक जायेंगे व दर्शक ऊब जायेंगे, अत एव पूर्वरङ्ग विधि को विधिवत् सम्पादित करने से प्रयोक्ता का कोई अशुभ नहीं होता और अभिनय में सफलता मिलती है।

संक्षेप मे यदि पूर्वरङ्ग के प्रयोजन की व्याख्या करें तो यह स्पष्ट होता है कि भरतकालीन इस पूर्वरङ्गीयविधान नें न केवल दैहिक, सांसारिक, अपितु धार्मिक आस्था को भी जीवित रखा है क्योंकि इससे शारीरिक एवं मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति हो जाती है जिससे रचनाकार एकाग्र हो अपने इष्ट देव की स्तुति करके विघ्न

---

[1] य इमं पूर्वरङ्ग तु विधिनैव प्रयोजयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति।। (नाट्यशास्त्र ५/१७०)

[2] यश्चापि विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत् ।
प्राप्नोप्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति।। (नाट्यशास्त्र ५/१७१)

[3] न तथा प्रदहत्यग्निः प्रभञ्जनसमीरितः
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ।। (नाट्यशास्त्र ५/१७२)

एवं आशंका से रहित होकर नाट्यरचना में प्रवृत्त होता है तथा गीत, नृत्य वाद्यादि के समावेश से नाट्य के मुख्य आधार बिन्दु दर्शक भी निश्चिन्त हो रसानुभूति का अनुभव करते है। साथ ही इसका मुख्य उद्देश्य यह भी है कि यही नाट्यारम्भ को सूचना व नाट्य की पीठिका तैयार हो जाती जो नाट्य को पूर्णरूपेण अभिनीत करने में सहायक होती है।

पूर्वरङ्ग के अङ्गों का वर्णन- आचार्यो द्वारा प्रतिपादित पूर्वरङ्ग के स्वरूप एवं प्रयोजन का विधिवत् अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि इस पूर्वरङ्ग विधि का प्रयोग कैसे किया जाता है, तथा इसके कितने अङ्ग होते हैं? प्रायः पूर्वरङ्ग के अङ्गों की संख्या के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है किन्तु आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों का विवेचन करते हुए उन्हें दो भागों मे विभाजित किया है। पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्ग निम्न हैं-

(क) प्रत्याहार (ख) अवतरण (ग) आरम्भ (घ) आश्रवणा (ङ) वक्त्रपाणि (च) परिघट्टना (छ) संघटना (ज) मार्गासारित (झ) आसारित (ञ) गीतक (ट) उत्थापन (ठ) परिवर्तन (ड) नान्दी (ढ) शुष्कावकृष्ट (ण) रङ्गद्वार (त) चारी (थ) महाचारी (द) त्रिगत (ध) प्ररोचना।

भरतानुसार प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त[1] प्रारम्भिक नौ अङ्गों काप्रयोग यवनिका[2] के भीतर सम्पादित होने के कारण इन्हें 'अन्तर्यवनिकासंस्थ' कहा गया है

---

[1] प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च।
आश्रवणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघिट्टना। (नाट्यशास्त्र ५/९ गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा)
संघोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च। (नाट्यशास्त्र ५/१०)
एतानि तु वहिर्गीत-यन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च। (नाट्यशास्त्र ५/११)

[2] यवनिका- नेपथ्यं स्याज्जश्वनिका रङ्गभूमिःप्रसाधनम्' नेपथ्य एवं यवनिका पर्याय हैं। (अभिज्ञानशाकुन्तल- काले सं पृष्ठ- ४)

क्योंकि इन अङ्गों के साथ जो गीत प्रस्तुत होते हैं वे गायकादि, प्रेक्षको के लिए दृश्य नहीं होते तथा अङ्गों के अनुष्ठान के समय यवनिका नट एवं प्रेक्षकों के बीच में रहती है और यवनिका के पीछे ही नट इसका अनुष्ठान करते है इसकारण 'अन्तर्यवनिकासंस्थ' कहा गया है। पूर्वरङ्ग की इन नौ विधियों का सम्बन्ध प्रयोक्ताओं से होता है क्योंकि सामाजिकों की तुष्टि के लिए ही प्रयोक्ता वाद्ययन्त्रों का परीक्षण अन्तिम रूप से करते हैं अतः इसमें प्रयोग पक्ष की प्रधानता होती है।[१]

पूर्वरङ्ग की अन्तर्यवनिकासंस्थ नौ विधियों के अतिरिक्त शेष दस विधियों का प्रयोग यवनिका के बाहर रंगपीठ पर अर्थात् यवनिका का उद्घाटन करके होता है इसलिए इन्हें 'बहिर्यवनिकासंस्थ' कहते हैं।[२] इन दस विधियों गीतक, उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्ट, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत, प्ररोचना में काव्यार्थसूचन, स्तुति, मंगलाशंसा आदि मुख्यरूप से होती है अर्थात् कुछ आशीर्वादात्मक, कुछ कवि-कीर्तन आदि से सम्बन्धित होती हैं।

अतः पूर्वरङ्ग नितान्त धार्मिक एवं मांगलिक अनुष्ठान मात्र नही है अपितु रङ्ग के पूर्व प्रयोज्य नाट्यवस्तु की प्रमुख भूमिका है। जो प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

---

१ अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा।। (नाट्यशास्त्र ५/८)

२ 'ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विधत्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु।। (नाट्यशास्त्र- ५/१२)
गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् ।
वर्धमानमथापीह ताण्डव यत्र युज्यते।।(नाट्यशास्त्र- ५/१३)
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव च।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वार तथैव च।। (नाट्यशास्त्र- ५/१४)
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिक प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि।।(नाट्यशास्त्र- ५/१५)

पूर्वरङ्ग के अङ्गों के संदर्भ में जिस प्रकार भरत ने उन्नीस अङ्गों को स्वीकार किया उसी प्रकार परवर्ती आचार्य शारदातनय ने भावप्रकाश में बाईस अङ्ग[1] स्वीकृत किये जिनमें उन्नीस भरत की भाँति है तथा ध्रुवा, त्रिसाम व वर्धमानक को जोड़ा गया है। इन बाईस अङ्गों में उल्लिखित त्रिसाम[2] का उल्लेख भरत ने संगीताध्याय में किया किन्तु पूर्वरङ्ग के अङ्गों में परिगणित नहीं किया। परवर्ती आचार्यो में शारदातनय व अमृतानन्दयोगी आदि ने पूर्वरङ्ग को निरुपित किया है किन्तु दशरूपककार धनञ्जय, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ व रामचन्द्र गुणचन्द्र ने पूर्वरङ्ग का नामोल्लेख मात्र किया है तथा भावप्रकाश के अनुसार ही साहित्यदर्पणकार ने पूर्वरङ्ग को 'द्वाविंशदङ्गात्मक' अर्थात् बाईस अङ्गों वाला कहा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3] ने पूर्वरङ्ग निरूपण न करने के सम्बन्ध में कहा कि पूर्वरङ्ग के अङ्गों में कुछ तो प्रसिद्ध व कुछ निरर्थक हो गये तथा कुछ का अनुष्ठान अनिवार्य नहीं है, इनमें से नान्दी एक ऐसा अनिवार्य अङ्ग है जो करणीय और पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का उपलक्षण से बोधक भी है। शारदातनय ने भी नान्दी की प्रधानता स्वीकृत की। नाट्योत्पत्ति के प्रसङ्ग में ब्रह्मा ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों में केवल नान्दी का उल्लेख किया और नाट्यशास्त्र में भी नान्दी के नित्य प्रयोग का स्पष्ट विधान किया गया है।

पूर्वरङ्ग के अङ्गों की संख्या वैमत्य में जायसेनापति ने पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग माने जिनमें बत्तीस अङ्गहार विनियुक्त होते हैं।[4] वल्लभदेव ने शिशुपालवध की टीका[5]

---

[1] तस्य द्वाविशंदङ्गानि...............सूरिभिः।। (भावप्रकाश- ७/८१)

[2] कुतप विन्यास के पश्चात् देवों के आह्वान के लिए किये जाने वाले गायन को त्रिसाम कहा गया है। शारदातनय के अनुसार त्रिविध लय, त्रिविधपाणि, तीन बार नृत्त त्रिसाम है (भावप्रकाश ७ अधिकार पृष्ठ- १८९)। त्रिमास के साथ पुष्पाञ्जलि दी जाती है, बाई ओर चन्द्रमा से सम्बद्ध साम प्रस्तुत किया जाता है जिससे सब देवता प्रसन्न होते हैं। उत्तर दिशा में आग्नेय सा होता है जिससे वृहत् देवता प्रसन्न होते हैं।

[3] नाट्यदर्पण पृष्ठ- १७१-१७२।

[4] नृत्तरत्नावली- ४/३५६-५७।

[5] शिशुपालवध का श्रीनगर संस्करण, पृष्ठ- ४७

में भिन्न क्रम से पूर्वरङ्ग के अङ्गों के नाम गिने हैं इनके अनुसार पूर्वरङ्ग के निम्न अङ्ग हैं- प्रत्याहार, मार्जना, गीतविधि, ताण्डव, योग, वाद्यचारी, प्ररोचना व नान्दी।

विप्र ने पूर्वरङ्ग के अठारह अङ्ग लक्षण सहित निरूपित किये हैं।[१] इनमें संघोटना के स्थान पर सङ्घटना, त्रिगत के स्थान पर त्रिक तथा प्ररोचना के स्थान पर प्रस्तावना का पाठ मिलता है। वर्धमानक व गीतक का उल्लेख नही है। इनके पूर्वरङ्गों का क्रम भी कुछ भिन्न है क्योंकि इन्होंने आरम्भ को आश्रवणा के बाद रखा है।

अत एव आचार्यों द्वारा प्राप्त पूर्वरङ्ग के अङ्गों की संख्या ज्ञात होने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्य रूप से सभी आचार्यों ने भरत द्वारा प्रतिपादित पूर्वरङ्ग के अङ्गों को स्वीकार किया है। अतः इन अङ्गो के विषय में विवेचन अतिआवश्यक है तथा भरत द्वारा वर्णित यवनिका के भीतर सम्पादित नौ विधियों में प्रत्याहार प्रथम है।

प्रत्याहार- आचार्य भरत द्वारा नाट्याभिनय एवं पूर्वरङ्ग विधि को सम्पादित करने से पहले नगाड़ा बजाकर इस बात की सूचना दी जाती है कि नाटक प्रारम्भ होने वाला है। तत्पश्चात् प्रत्याहार नामक पूर्वरङ्ग की विधि की जाती है। भरत ने 'कुतपस्यतुविन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः'[२] कहा है अर्थात् कुतपों का विधिवत् स्थापन ही 'प्रत्याहार' कहलाता है, जिसका तात्पर्य है वाद्ययन्त्रों का उचित स्थान पर विन्यास। शारदातनय ने भी भावप्रकाश[३] में प्रत्याहार का यही लक्षण स्वीकार किया है किन्तु अभिनवगुप्त[४] ने गायक वादकादि के बैठने की व्यवस्था को प्रत्याहार कहा तथा इनके अनुसार गायकादि के बैठाने की व्यवस्था का क्रम यह है कि नेपथ्यगृह के द्वार पर पूर्व की ओर मुख करके मादङ्गिक (मृदङ्गवादक), उसकी बाँयी ओर दो पणव (पाणिक),

---

१ नाट्यशास्त्र विश्वकोश, भाग-४ राधावल्लभ त्रिपाठी पृष्ठ- ११४०

२ नाट्यशास्त्र- ५/१७

३ भावप्रकाश- ७ अधिकार ८८वां।

४ अभिनवभारती भाग-१

ढोल आदि वाद्य के वादक, रङ्गपीठ के दाहिनी ओर मुँह करके गायिकायें तथा गायको के बाँयी ओर बासुरी वादक (वैणिक) बैठते है।

प्रत्याहार में प्रयुक्त कुतपों की नाट्य प्रयोग मे अत्यधिक अनिवार्यता एवं महत्व को समझकर ही परम्परा में इसके प्रति पूज्यता का भाव दृष्टिगोचर होता है क्योकि पूर्वरङ्ग के विधान में चतुर्थकार, कुतप, भाण्ड एवं सूत्रधार की पूजा करता है।[१] कुतप का साधारण अर्थ वाद्य यन्त्र है किन्तु विशिष्ट रूप से नाट्यशास्त्र में कुतप शब्द का प्रयोग नाट्य प्रयोग के समय बजाये जाने वाले वाद्य समूह तथा इन वाद्यों के वादक एवं उनके साथ गायन करने वाले नटों के समुदाय के लिए कहा गया है।

आधुनिक नाट्यप्रस्तुतियों मे जिसे वाद्यवृन्द तथा आर्केस्ट्रा कहा जाता है, नाट्यशास्त्र की परम्परा में कुतप इसी आशय को द्योतित करता है। परवर्ती आचार्यों में शारदातनय[२] ने प्रत्याहार के लक्षण में कुतप का उल्लेख मात्र किया है कि- 'कुतपो मुरजादीनां भाण्डादीनां चयः स्मृतः अर्थात् मुरज तथा भाण्डादि का समुदाय कुतप है तथा वैजयन्ती कोश[३] में भी कुतप विन्यास को प्रत्याहार व वाद्यवादक सामग्री को कुतप कहा गया है।

कुतप के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि नाट्य या नृत्त की प्रस्तुति के साथ बजाये जाने वाले वाद्य को पहले कुतप कहा जाता होगा, बाद मे गायकवादक व वाद्यसमूह से सम्बन्धित अर्थ को कुतप प्रकट करने लगा होगा। नाट्यास्त्र में वाद्यवृन्द के लिए तन्त्रीभाण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है।[४]

---

[१] यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु।
कुतपस्य च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि।। (नाट्यशास्त्र- ५/१००)

[२] भावप्रकाश- सप्तम अधिकार पृष्ठ- १९५।

[३] प्रत्याहारोऽत्र कुतपविन्यासे कुतपः पुनः।
वाद्यवादकासामग्र्याभारम्भो गीत्युपक्रमे।। (वैजन्तीकोश ९-३-१४०) (नाट्यशास्त्र भाग-४ राधावल्लभ त्रिपाठी पृष्ठ- ६६२)

[४] एतानि तु बहिर्गीतिन्यन्तर्यवनिकागतैः।

आप्टे ने कुतप शब्द का एक नवीन अर्थ पितरो के लिए यज्ञ सम्पादित करने का अनुकूल समय बताया है[1] किन्तु कुतप का सर्वाधिक प्रसिद्ध अर्थ वाद्ययन्त्र ही है।

अवतरण- पूर्वरङ्ग के अङ्गो में प्रत्याहार के अनन्तर दूसरा अङ्ग अवतरण होता है। नाट्यशास्त्र में अवतरण का लक्षण है- 'तथावतरणं प्रोक्तं गायकानां निवेशनम्'[2] अर्थात् गायक-गायिकाओं के बैठने की व्यवस्था को 'अवतरण' कहा गया है। कुछ अन्य आचार्यों ने उपवेशन का अर्थ बैठना न मानकर स्थान और स्वरों का संयोग या मिलाप ही अवतरण माना है। अवतरण मे स्त्री गायिकाओ के लिए यह निर्देश है कि बिना स्त्रियों के गायन का सुखद प्रयोग सम्भव नहीं है, इसलिए प्रत्याहार मे जहाँ उत्तर की ओर गायकों बैठने की व्यवस्था कही गई वहीं अवतरण में गायिकाओ के यथास्थान बैठने की व्यवस्था को कहा गया है। इस प्रकार प्रत्याहार से अवतरण तक वाद्यादि का विन्यास एवं गायक-गायिकाओं के बैठने के क्रम तक की व्यवस्था होती है।

कुतपविन्यास- कुतपों का विन्यास पूर्वरङ्ग के दो अङ्गों प्रत्याहार तथा अवतरण में किया जाता है। रङ्गमञ्च पर कुतप अर्थात् वाद्ययन्त्रों के साथ गायकों एवं वादको के बैठने की विधि ही 'कुतपविन्यास है। भरत[3] के अनुसार कुतपविन्यास नेपथ्यगृह के दोनों द्वारों के बीच रङ्गपीठ पर कराया जाता है। कुतपविन्यास के सन्दर्भ में भरत व अभिनव एकमत हैं।[4] अभिनव के अनुसार रङ्गपीठ की तीन दिशाओं में कुतप विन्यास होता है अर्थात् प्रेक्षकों की ओर पीठ करके बैठने की पश्चिम दिशा को छोड़कर शेष दिशाओं में गायक-वादक बैठ सकते हैं। जिनका क्रम पूर्वनिर्दिष्ट है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी कुतपविन्यास नाट्यशास्त्रानुरूप ही निरूपित है। पूर्वरङ्ग की नौ विधियों का प्रयोग

प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च।। (नाट्यशास्त्र- ५/११)

[1] नाट्यशास्त्रविश्वकोश- भाग-४, पृष्ठ- ६६८

[2] नाट्यशास्त्र ५/१७

[3] ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्व प्रकीर्तिते।
तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्य प्रयोक्तृभिः।। (नाट्यशास्त्र- १३/२)

[4] नाट्यशास्त्र- ३४/२१५ तथा अभिनवभारती भाग-१

यवनिका के पीछे तन्त्रीभाण्ड के साथ होता है और यवनिका के हटने पर प्रयोक्त शेष अङ्गों के साथ भी कुतप की संगति होती है।[१] पश्चिम मे कुतप के लिए आर्केस्ट्रा शब्द चलन में रहा है। एलिजावेथ काल के रङ्गमञ्च में संगीतकारों को नेपथ्यगृह में एक अलग गैलरी में बैठाया जाता था, बाद में उन्हें रङ्गमञ्च पर बैठाने का विधान किया गया। आधुनिक काल के नाटकों में संगीत देने वालो का समूह रङ्गमञ्च के सामने एक खाई जैसी बनाकर दर्शको की ओर पीठ करके बैठाया जाता है।[२]

भरत आदि ने कुतप विन्यास को स्पष्ट करने के पश्चात् नाट्य मे गायनादि को आवश्यक मानते हुए यह निर्देश दिया कि नाट्य प्रयोग में वादन, गायन तथा नाट्यप्रयोग इन तीनों के योग को अलातचक्र सदृश मानना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार अलात को परिधि में घुमाने पर लपट की पृथक-पृथक प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार गायन, वादन, नाट्यप्रयोग की भी पृथक-पृथक प्रतीति नहीं होती। अत एव इन तीनों के समन्वय से ही नाट्य प्रयोग की पूर्ण स्थिति प्रगट होती है।

आरम्भ- 'परिगीतक्रियारम्भः आरम्भः इति कीर्तितः'[३] भरत ने इस लक्षणानुसार परिगीत क्रिया (आलाप) के प्रारम्भ को 'आरम्भ' कहा है। आलाप में कण्ठस्वरों का प्रयोग होता है। पूर्वरङ्ग का विस्तृत प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुम्भ के 'आरम्भ के लक्षण में यह विशेषता है कि इसमें गायक, सप्तस्वरो का विग्रह करने के बाद ताल युक्त गीत और ध्रुवा की प्रस्तुति करते हैं।[४] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार गीत की प्रधानता तभी होती है जब रंजकवर्ग (स्वरो) को सर्वप्रथम आलाप रूप में प्रस्तुत करते

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/११ एवं ५/१२
'ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघत्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यंकृतानि तु।। (नाट्यशास्त्र- ५/१२)

२ दि आक्सफोर्ड कम्पेनियन टु थियेटर, पृष्ठ- ५९२
उद्धृत- (नाट्यशास्त्र विश्वकोश- भाग-४, पृष्ठ- ६६८)

३ नाट्यशास्त्र ५/१८ (गायकवाड़) ओरिएण्टल सीरिज बडौदा

४ नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधावल्लभ त्रिपाठी- भाग-४, पृष्ठ- ११४२ से उद्धृत

है क्योंकि स्वरो और गीतों का बिम्ब भाव होता है, इसलिए स्वरों का निश्चित क्रम में आलाप करना ही 'आरम्भ' कहलाता है।

इसप्रकार वाद्यवृन्दों के विन्यास एवं गायक-वादकादि के बैठने के पश्चात् वाद्यकादि से सम्यक् तालादि के मिलाप के लिए गीत आदि की प्रस्तुति की जाती हैं जिससे गायन और वादन की अलग-अलग प्रतीति न हो और प्रेक्षकों को आनन्द प्राप्ति हो सके।

आश्रवणा- यवनिका के भीतर सम्पादित की जाने वाली पूर्वरङ्ग की विधि आश्रवणा का 'आतोद्यरञ्जनार्थे तु भवेदाश्रवणाविधिः'[१] यह लक्षण नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में किया गया तथा उन्तीसवें अध्याय मे भी आश्रवणा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इनके अनुसार आश्रवणा का तात्पर्य है कि वाद्ययन्त्रों के बजाये जाने के पूर्व उनमें एकरूपता या सन्तुलन निर्धारित करना 'आश्रवणा' है अर्थात् आलाप का वाद्य-यन्त्रों के साथ संगत आश्रवणा है। अभिनवगुप्त के अनुसार वाद्य-यन्त्रों की ध्वनियों में ताल लय के विषय की दृष्टि से अवलोकन या सामञ्जस्य स्थापित करना आश्रवणा माना जाता है। आश्रवणा के सम्बन्ध में मनमोहन घोष भरत के विचार से सहमत हैं।

नाट्यशास्त्र के उन्तीसवें अध्याय में भरत ने आश्रवणा को तीन खण्डों में विभक्त करने का विधान किया है -

पहला खण्ड- इस खण्ड में बीस अक्षरों का निर्देश है। इसमें शुष्क (निरर्थक) गीत में एक, दो, ग्यारह, चौदह, पन्द्रह, चौबीस ये छः अक्षरगुरु व शेष अक्षर लघु होते हैं।

दूसरा खण्ड- इस खण्ड में प्रथम खण्डानुसार लघु गुरु मिलाकर चौबीस अक्षरों का निर्देश है।

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/१८

तीसरा खण्ड- इस खण्ड मे पच्चीस अक्षर होते हैं जिनमें तीन, आठ, पन्द्रह ये गुरु, शेष लघु होते हैं।

पहले दो खण्डों का ताल चञ्चत्पुट और तीसरे खण्ड का चाचपुट ताल होना चाहिए तथा प्रथम दो खण्डो का लय द्विकल एवं तीसरे खण्ड की एककल लय होती है। उन्तीसवें अध्याय में भरत ने यह उल्लेख किया कि आश्रवणा विधि के अनन्तर एक आरम्भ विधि भी होती है। इसमें वीणा का तीन खण्डों में वादन होता है।

वक्त्रपाणि- 'वाद्यवृत्तिविभागार्थे वक्त्रपाणिर्विधीयते'[१] आचार्य भरत ने वाद्य की विभिन्न वृत्तियों के विभाग के लिए वक्त्रपाणि का विधान स्वीकार किया है। शारदातनय ने भी भरत का अनुगमन करते हुए वक्त्रपाणि का यही लक्षण दिया है। वक्त्र अर्थात् आरम्भ एवं पाणि का तात्पर्य है हस्ताङ्गुलि का व्यापार जिसमे हाँथ की उगँलियों का वाद्यों के वादनार्थ सञ्चालन होता है वही 'वक्त्रपाणि' है। इसमें हाँथ की उगलियाँ तीन प्रकार की कही जाती हैं (क) सम्पूर्व (ख) उपपूर्व (ग) परिपूर्व। अभिनवगुप्त के अनुसार वक्त्रपाणि में आश्रवणा के द्वारा अनुगुंजित वेणु के स्वर के स्वरूप को दक्षिणावृत्ति विभाग के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।[२] आचार्य कुम्भ ने वक्त्रपाणि के अन्तर्गत गाथा (ध्रुवा), आलाप के साथ आतोद्यवादन भी स्वीकार किया।[३]

संगीतरत्नाकर के अनुसार वक्त्रपाणि विधि दो खण्डों की होती है। पहले खण्ड में अठारह अक्षर होते हैं जिसमें पॉच गुरु, छः लघु, छः गुरु दो लघु होते हैं तथा दूसरे खण्ड में सोलह अक्षर अर्थात् चार गुरु, तीन लघु, एक गुरु, आठ लघु होते हैं। इस विधि के अनन्तर परिघट्टना का प्रयोग किया जाता है।

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/१९

२ अभिनवगुप्त का अभिनवभारती- भाग-२, पृष्ठ- २१३

३ नाट्यास्त्र विश्वकोश-भाग-४, राधावल्लभ त्रिपाठी पृष्ठ- १११६

परिघट्टना- नाट्यशास्त्रकर्ता भरतमुनि पूर्वरङ्ग के अङ्ग परिघट्टना का स्वरूप वर्णित करते हैं कि 'तन्त्र्यौजःकरणार्थे तु भवेच्च परिघट्टना'[१] अर्थात् तन्त्री वाद्य यन्त्रों को ओजपूर्ण बनाने के लिए परिघट्टना का प्रयोग होता है। परिघट्टना का तात्पर्य है कि तन्त्री वाद्यों को स्वरों में निरूपित करने के लिए उगॅलियो का घट्टन या चलन आवश्यक है अतैव उसे गतिशील बनाने के लिए इस घट्टन को तीव्र कर देना ही 'परिघट्टना' है। शार्ङ्गदेव[२] का कथन है कि परिघट्टना में करण धातु के भेद, चित्रित, ललित, सकुमार, स्निग्ध, मिश्रित कर लाघव से वीणा के तार बजाये जाते हैं तथा इसके शुष्क गीतों में आठ गुरु, चौबीस लघु, दो गुरु, सोलह लघु, और अन्त में एक गुरु होता है।

संघटना- 'तथा पाणिविभागार्थे भवेत संघोटनाविधिः'[३] भरत प्रतिपादित संघटना के इस लक्षण का तात्पर्य है कि पाणि विभागों के प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न वाद्यों तथा गायन की व्यवस्था सम्बन्धी योजना के बाद संघटना विधि का विधान किया जाता है। इस विषय में अभिनवगुप्त का कथन है कि वीणागत विधि को वीणावाद्य में 'संघटना' जानना चाहिए अर्थात् संवादी स्वरो के अनुसंधान के लिए उस पर किये गये पञ्चप्रहारों[४] के योग को 'संघटना' कहते हैं। इन सभी मतों से भिन्न मत को मानते हुए मनमोहन घोष ने काल अर्थात् ताल की मात्राओं के नाप के लिए हॉथ की विविध चेष्टाओं को संघटना कहा है।

मार्गासारित- 'तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गासारितमिष्यते'[५] यह लक्षण भरतमुनि ने दिया है जिसका आशय यह है कि तन्त्री, भाण्ड अदि वाद्ययंत्रो का समवेत रूप से स्वर समन्वय ही 'मार्गासारित' है अर्थात् तन्त्री (वीणादि) वाद्यों के साथ पुष्कर भाण्ड

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/१९

२ नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधावल्लभ त्रिपाठी-भाग-४, पृष्ठ-११२०

३ नाट्यशास्त्र-५/२०। गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बडौदा

४ पञ्चप्रहारों पर विशेष विवरण नाट्यशास्त्र के २९वे, ३३वें अध्याय मे है।

५ नाट्यशास्त्र- ५/२० गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बडौदा।

आदि अनवद्य वाद्यों का प्रयोग या वादन 'मार्गासारित' कहा जाता है। इस अङ्ग की पूर्ण व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते है कि वाद्ययन्त्रों के सम्बन्धी मार्गों का पुष्कर आदि वाद्ययन्त्रों के द्वारा संगत या अनुसरण करना ही मार्गासारित है। संगीतरत्नाकर के अनुसार मार्गासारित विधि में शुष्काक्षर गीत होता है जो निम्न प्रकार से है-

चार गुरु, आठ लघु, दो गुरु, आठ लघु, एक गुरु, एक लघु, इस प्रकार के तीन खण्ड इसमें होते हैं अतएव संघटना के पश्चात् ही तन्त्री भाण्ड वाद्यों के संयोग रूप में मार्गासारित विधि सम्पादित होती है।

आसारित- पूर्वरङ्ग के 'अन्तर्यवनिकासंस्थ' सम्पादित नौ अङ्गो में आसारित अन्तिम है जो 'कलापातविभागार्थे भेवेदासारित क्रिया'[१] अर्थात् कलापात विभाग के लिए सम्पादित की जाती है। इसप्रकार ताल मे मुख्य रूप से प्रयोग की जाने वाली कला या मात्रा के विभाग हेतु वाद्य-वादन क्रिया ही 'आसारित' कहलाती है। आचार्य भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया कि कुतपों (वाद्ययंत्रों) की भलीभाँति व्यवस्था करने के पश्चात् ही नाट्य प्रयोग करने वालों को इस अङ्ग का सम्पादन करना चाहिए। इसमें नर्तकियों के पाद विन्यास की कला और लय का निर्धारण होता है। इस संदर्भ में अभिनवगुप्त का मत है कि शम्या आदि क्रियाओ के द्वारा कलाओं के पात (पतन काल) की गिनती करना (जिससे विभाग स्पष्ट हो जाय) ही आसारित है तथा कुम्भ[२] के अनुसार ताल, मृदङ्ग व तन्त्री कही पृथक-पृथक कही संगत में बजाये जाते हैं। भावप्रकाशकार शारदातनय ने 'आसारितं वहिर्गीतविधिरित्युच्यते बुद्धैः'[३] कहा अर्थात् विद्वान वहिर्गीत विधि को आसारित कहते हैं। भरत ने इसे ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का कहा है।[४]

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/२१

२ नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधावल्लभ त्रिपाठी भाग-४, पृष्ठ- ११४२

३ भावप्रकाश- ७/१०७

४ 'ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च'। नाट्यशास्त्र- ५/१०

इसप्रकार भरत द्वारा वर्णित पूर्वरङ्ग की प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त नौ विधियाँ दर्शकों के लिए अदृश्य व प्रयोक्ताओं को लक्ष्य करके मुख्य रूप से तन्त्री भाण्डादि वाद्यों से सम्बद्ध होती हुई यवनिका के भीतर सम्पादित की जाती हैं। इसके पश्चात् अन्य दस विधियों को यवनिका के बाहर सम्पादित किया जाता है जो प्रेक्षकों के लिए दृश्य होती हैं। इन अङ्गों में - गीतक, उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्ट, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत और प्ररोचना हैं।

गीतक- प्रारम्भिक नौ अङ्गो को सम्पन्न करने के पश्चात् यवनिका को हटाकर सभी कुतपों के साथ नृत्य, पाठ्य द्वारा पूर्वरङ्गीय अङ्गों का संयुक्त प्रयोग करते हुए (वहिर्गीत के अन्तर्गत) बाहर की ओर गीतविधि की योजना होनी चाहिए।[१] आचार्य भरत ने गीतविधि के लक्षण प्रसङ्ग में कहा है - 'कीर्तनाद देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा'[२] अर्थात् इस गीतविधि में देवताओं को प्रसन्नता प्रदान करने के लिए या कीर्तन करते हुए गान प्रस्तुत किये जाते हैं।

वहिर्गीत के अन्तर्गत मद्रक[३] आदि गीतों का किसी एक गीत के रूप में प्रयोग होता है वहाँ ताण्डव योजना के साथ वर्धमानक[४] का भी योग आवश्यक है।[५] गीतविधि में देवताओं के प्रशंसागान प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम तन्त्री वाद्य यंत्र पर गान के साथ[६] उपोहन[७] का सम्पादन करने के बाद भाण्ड वाद्यादि के बजाये जाने के साथ रङ्गभूमि पर

---

[१] ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघत्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु।। (नाट्यशास्त्र- ५/१२)

[२] नाट्यशास्त्र- ५/२१

[३] मद्रक- एक विशेष प्रकार का गीत होता है।

[४] वर्धमानक- यह गीतक है तथा यह गीत नृत्य के साथ गाया जाता है।

[५] गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् ।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते।। (नाट्यशास्त्र- ५/१३)

[६] प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च। (नाट्यशास्त्र- ५/११)

[७] उपोहन- वस्तु या गीत के प्रयोग के पूर्व या वस्तु और कलिका के बीच स्वर तथा कला के नियमन के लिए किया जाने वाला आलाप उपोहन है। यह उपोहन केवल शुष्काक्षरों

हाँथ में पुष्प लेकर नृत्य करते हुए नर्तकी का प्रवेश होता है जो गीत का प्रथम चरण गाती हुई उसके भाव का अभिनय करके पीछे चली जाती है तत्पश्चात् दूसरी नर्तकी भी हाँथ मे देवताओं को प्रणाम करते हुए गीत का दूसरा चरण गाते हुए और दोनों नर्तकी नृत्य करती हुई अभिनय करके पीछे चली जाती है तदनन्तर तीसरी नर्तकी भी पुष्प लेकर रङ्गमञ्च पर उपस्थित होती है और तीसरा चरण गाती है फिर तीनों नृत्य करते हुए पीछे हट जाती हैं, इसी क्रम मे चौथी नर्तकी भी पुष्प लिये हुए आती है और गीत का चौथा चरण गाती हुई नृत्य और अभिनय करके वापस चली जाती है। इसविधि में एक-एक नर्तकी बढ़ती जाती है और गीत का चरण तथा इनके नृत्य की लय भी क्रम से बढ़ती जाती हैं इसलिए इस बढ़ाने वाली विधि को 'वर्धमानविधि' कहते हैं।

इसमें जहाँ गीत का प्रयोग अभिनय के साथ किया जाता है वहाँ वाद्ययन्त्रों का प्रयोग नही करना चाहिए किन्तु अङ्गहारो के प्रयोग मे भाण्डवाद्यों का प्रयोग किया जाता है। इसप्रकार गीत वाद्यादि का प्रयोग हो जाने के बाद नर्तकी को बाहर चले जाना चाहिए। अतः इसी क्रम में गीतिविधि नामक अङ्ग को सम्पादित किया जाना चाहिए।

वहिर्गीत- गीतविधि मे प्रयुक्त वहिर्गीत के संदर्भ में यह कह सकते हैं कि नाट्य प्रयोग में यवनिका को हटाने के बाद जिनके गायक दृश्य न हों वे गीत या नाट्य एवं वस्तु के अन्तर्गत न आने वाले गीत 'वहिर्गीत' कहलाते हैं। ''भरत के अनुसार निर्गीत को ही वहिर्गीत भी कहते हैं तथा यह गाया जाता है''[१] किन्तु निर्गीत के अक्षरों से सार्थक पद नहीं बनते, तथा यह धातु वाद्याश्रित[२] होता है। निर्गीत के

द्वारा किया जाता है। इसमें गीत के सार्थक पदों का गान नही होता। आचार्य भरत ने 'उपोह्यन्ते स्वराः येन यस्माद् गीतं प्रवर्तते। तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम् ।। (नाट्यशास्त्र- ३१/१३८) यह लक्षण दिया है।

१ एवं निर्गीतमेत्तुं दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः।
देवानां बहुमानेन वहिर्गीतमिति स्मृतम् ।। (नाट्यशास्त्र- ५/४१)
निर्गीतं गीयते यस्मादपरं वर्णयोजनात् ।
असूयया च देवानां वहिर्गीतमिदं स्मृतम् ।। (नाट्यशास्त्र- ५/४३)

२ नाट्यशास्त्र- ५/३८

अक्षरों को 'स्तोभाक्षर' या 'शुष्काक्षर' एवं शुष्काक्षरों के गायन को 'स्तोभक्रिया कहा गया है। अभिनवगुप्त ने भी निरर्थक गीत को निर्गीत कहा है। नाट्यशास्त्र मे निर्गीत असुरों के लिए तुष्टिकर कहा गया है।[१] देवगण स्तुति रहित निर्गीत से अप्रसन्न थे और इसे समाप्त करने का विधान करने लगे तब यह कहा गया कि उपोहन से युक्त धातुवाद्याश्रित से विभूषित, सप्तरूपविधान[२] के कारण यह निर्गीत बना रहेगा इससे दानव क्षोभ नहीं करेंगे।[३] तब देवों के प्रति सम्मान के कारण निर्गीत ही वहिर्गीत कहा जाने लगा।[४] मनमोहन घोष ने भी स्वीकार किया है कि दैत्यों की स्पर्धा की तुष्टि करने के कारण इस गीत को 'निर्गीत' तथा देवताओं को सम्मानित करने के लिए इसे 'वहिर्गीत' कहा जाता है।

उत्थापन- गीतक में यवनिका हटने पर भी गायक दृश्य नही होते। अतः गीतविधि के अनन्तर उत्थापन विधि नान्दी पाठकों द्वारा सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर प्रयोग (अभिनय) का उत्थापन कराती है, अर्थात् उत्थापन सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर किया जाने वाला प्रयोग है इसलिए इसे 'उत्थापन' विधि कहते हैं।

''यस्मादुत्थापयन्त्यज प्रयोगं नान्दिपाठकाः।''

---

[१] नाट्यशास्त्र- ५/३४-३५

[२] सप्तविधान- विस्तार, व्यञ्जना, आविद्ध, करण, संज्ञा, वाद्य, धातु ये ताल के सात प्रभेद ही सप्तरूप है। दैत्यों ने वाद्य से समन्वित निर्गीत को तथा देवों ने इन सप्तरूपों से युक्त गीत को ग्रहण किया।

[३] एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः।
प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा मन्यते भवान् ॥ (नाट्यशास्त्र- ५/३७)
किंतुपोहनसंयुक्तं धातुवाद्यविभूषितम् ।
भविष्यतीदं निर्गीतं सप्तस्यविधानतः।। (नाट्यशास्त्र- ५/३९)
निर्गीततेनाववद्धाश्च दैत्यदानवराक्षसाः।
न क्षोभं न विघातं च करिष्यन्तीह तोषिताः। (नाट्यशास्त्र- ५/४०)

[४] नाट्यशास्त्र- ५/४१, ४३

पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ।।[१]

अभिनवगुप्त ने उत्थापना शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या को प्रस्तुत किया कि प्रत्याहार आदि अङ्ग जो प्रयोग किये गये उन्हें मञ्च पर फल स्वरूप के निरूपक पाठ्य आदि वाचिक अभिनय के द्वारा विकसित या प्रस्फुटित करना 'उत्थापना' है। अत एव यह वाचिक, आङ्गिक, अभिनय की अभिव्यक्ति का कारण है। उत्थापन में एक विशिष्ट वृत्त गीत चतुस्र तिस्रताल में और विलम्बित मध्य, द्रुत, लय में गायक वृन्दों द्वारा गाया जाता है।

उत्थापन के अन्तर्गत ही चार प्रकार के परिवर्तों का विधान है क्योंकि यही सूत्रधार आदि का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। आचार्य भरत[२] ने नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग के लक्षण में कहा है कि रङ्गभूमि में पादभाग, कला व परिर्वत का प्रयोग पूर्वरङ्ग में होता है। शारदातनय[३] ने भी समष्टि रूप में इसे ही पूर्वरङ्ग कहा है। जिसमें पादभाग का स्वरूप इसप्रकार है-

(क) पादभाग[४]- पादभाग मात्राओं से निर्मित होता है। संगीतरत्नाकर[५] ने चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण एवं शार्ङ्गदेव ने ध्रुव मार्ग भी कहा है इनमें क्रमशः एक, दो, चार, आठ मात्राओं से एक पादभाग का निर्माण बताया है। इसी आधार पर चित्रमार्ग में यथाक्षर एककल, वार्तिक मार्ग मे द्विकल और दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग किया जाता है।

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/२२

२ पूर्वरङ्ग महाभागा गदतो में निबोधत् ।
पादभागाः कलाश्चैव परिवर्तास्तथैव च।। (नाट्यशास्त्र- ५/६)

३ कलापाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः।
पूर्व क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भेदतः।। (भावप्रकाश- ७/८०)

४ पादभाग पर विशेष विवरण (नाट्यशास्त्र- ३१/३०८-३०९)।

५ संगीतरत्नाकर- ताण्डव लक्षण पृष्ठ- ५।

(ख) कला- पॉच निमेष के बराबर का समय कला[१] होता है (एक निमेष के बराबर के समय को नाट्य प्रयोग में कला नही माना जाता यह ज्योतिष आदि में मान्य है)।"अभिनवगुप्त[२] ने इसकी व्याख्या की है कि कला शब्द से निष्कामादि सात भेदों वाले ताल को कला जानना चाहिए अर्थात् ताल का मात्राकाल ही 'कला' है।" इस प्रकार गीत, वाद्य, नृत्य को लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निःशब्द क्रिया द्वारा परिमित करने वाला समय ताल कहलाता है इसे ही 'कला' कहते हैं।

(ग) परिवर्त- कुशल प्रयोक्ता द्वारा आठ कला वाले सन्निपात का प्रयोग किया जाना चाहिए क्योंकि भरत[३] के अनुसार चार सन्निपातों से एक 'परिवर्त' बनता है। अभिनवगुप्त ने गान क्रिया की (पाद भाग आदि से युक्त ताल की) आवृत्ति या दुहराने को 'परिवर्त' कहा है। शारदातनय[४] ने भी पादभागादि से युक्त ताल की आवृत्ति या उन्हीं का पुनः पुनः दुहराये जाते हुए प्रयोग परिवर्त माना है अर्थात् पैरों को गोलचक्कर में गतिशील रखना ही परिवर्त है। अतः चारो दिशाओं में घूम-घूम कर लोकपालों के लिए जो नमस्कार किया जाता है जिससे लोकपाल सन्तुष्ट होते हैं वह परिवर्त है। इस परिवर्त के पूरा होने पर ही चतुर्थकार का प्रवेश होता है। वास्तव में परिवर्त शब्द का प्रयोग परिवर्तन के स्थान पर मिलता है।

इस प्रकार पादभाग, कला व परिवर्त इन तीनों का पूर्वरङ्ग में प्रयोग अपेक्षित है।

इस परिवर्त के चार प्रकारों में से प्रथम परिवर्त का स्वरूप इसप्रकार होता है -

---

१ कला का लक्षण नाट्यशास्त्र- ३१/४, ५ पर दृष्टव्य।

२ 'अत्र कला शब्देन सप्तविधा तालकलानिष्कामादि रूच्यते।
तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीतः॥
(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र व्याख्या, भाग-१, पृष्ठ- २०९)

३ चत्वारः सन्निपाताश्च परिवर्त स उच्यते। (नाट्यशास्त्र ५/६३)

४ परिवर्तो भवेत्तालपरिवृत्तिः पुनः-पुनः (भावप्रकाश-७ अधिकार)

प्रथम परिवर्त - सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर अभिनय का प्रयोग कराने वाली उत्थापन विधि के अन्तर्गत ही प्रथम परिवर्त में गायक-वृन्दो द्वारा विलम्बित लय में गीत गाया जाता है तथा तीसरे सन्निपात[१] के समय अनवद्य वाद्य संभवतः मृदङ्ग का वादन किया जाता है।

द्वितीय परिवर्त - प्रथम परिवर्त की समाप्ति होने तथा द्वितीय परिवर्त के प्रारम्भ होने पर मध्यलय में गीत गाया जाता है।[२] तभी विघ्नों से रक्षा व मङ्गलकामना की दृष्टि से सूत्रधार अपने दो पारिपार्श्विकों के साथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है तथा इनकी हस्ताञ्जलियाँ[३] पुष्पों से आपूरित होती हैं। विघ्नो की समाप्ति एवं आत्मरक्षा के लिए रक्षासूत्र व शुद्ध वस्त्रों को धारण किये हुए श्वेतवर्ण, अद्भूतशक्ति, चेष्टा से युक्त, वैष्णव स्थान[४] की चेष्टा में दीक्षित एवं पवित्र इन तीनों का एकसाथ रङ्गमञ्च पर प्रवेश कराया जाता है।[५]

---

१ सन्निपात- दोनों हाथों से ताली बजाना सन्निपात है। इसका समयभी कला से नियमित होता है। (इसका विवरण नाट्यशास्त्र २९, ३१ अध्याय)

२ द्वितीय परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः। (नाट्यशास्त्र ५/७५)

३ हस्ताञ्जलियाँ - पूर्वरङ्ग में पुष्पाञ्जलि का विशिष्ट विधान है। 'अञ्जलिः हस्तयोः संयोगः यत्र तादृशेन मौलिनामस्तकेन नर्ति विधाय अधोमुखं शिरः कृत्वा प्रणम्य, लक्षणंनतु- पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषादिञ्जलि स्मृतः (नाट्यशास्त्र ९/१२१) नाट्यशास्त्र १२/१७०) के अनुसार इसमें आयत का प्रयोग होता है। सूत्रधार रङ्गमंच पर प्रवेश करते हुए हस्ताञ्जलियों मे पुष्प लिये रहता है और श्लोक पाठ के अनन्तर वह उसका विसर्जन करता है। विसर्जन के समय हस्त मुद्राओं का विशेष प्रयोग होता है। आमात्य, राजकुमार, वैश्य, शूद्र आदि के समीप भाग में देवता ब्राह्मण राजा के सामने हाँथ करके विसर्जन तथा दिक्पाल या देवो के लिए पुष्पाञ्जलि का संविधान अंगुष्ठ मूल के प्रयोग के साथ होता है (भरतार्णव १५/९६२-९६६)। शारदातनय के अनुसार पुष्पाञ्जलि को देशी भाषा मे 'घोण्डा' कहा जाता है। (भावप्रकाश-२, पृष्ठ- ४०) नन्दिकेश्वर ने कहा कि विघ्नों के नाश, प्राणियो की रक्षा, देवों की तृष्टि, नायक के कल्याण पात्रों के संरक्षण तथा आचार्य की शिक्षा सिद्धि के लिए पुष्पाञ्जलि अवश्य करनी चाहिए (अभिनयदर्पण पृष्ठ- ३३-३४)

४ वैष्णवस्थान- नाट्यशास्त्र ११/५०-५२

५ पुष्पाञ्जलि समादाय रक्षामंगलसंस्कृताः।
शुद्धवस्त्राः सुमनसस्तथा चाद्भुतदृष्टयः।। (नाट्यशास्त्र ५/६६)

इन दोनों पारिपाश्विको में एक भृङ्गार (सोने की सुराही) तथा दूसरा जर्जर लिये रहता है तथा अपनी क्रिया में सहयोगी सूत्रधार दोनों पारिपाश्विकों के साथ ब्रह्मा के पूजनार्थ पॉच कदम चलता है।[1] भरत के अनुसार इसके चलने की भी प्रक्रिया विशिष्ट है- सूत्रधार को तीन ताल के अनन्तर की दूरी पर धीरे धीरे कदम रखना चाहिए फिर दोनों पार्श्वो को उठाकर उठे हुएचरणों को उसके मध्य गिराना चाहिए। इसप्रकार सूत्रधार अपने सहयोगियों के साथ पॉच कदम चलकर बायें पैर से सूची (चारी) तथा दाहिने पैर द्वारा विक्षेप का प्रदर्शन करे।[2] इसके पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च के *मध्यभाग* में अधिष्ठित बाह्यमंडल पर पुष्पाञ्जलि करता हुआ ब्रह्मा की ललित हस्तमुद्रा से वन्दना करता है। यह वन्दना पृथ्वी को हाथों से तीन बार स्पर्श करते हुए की जाती है।

अतः द्वितीय परिवर्त सूत्रधार के प्रवेश से प्रारम्भ होकर ब्रह्मदेव की वन्दना से समाप्त होता है। इसके पश्चात् तृतीय परिवर्त का क्रम प्रारम्भ होता है।

तृतीयपरिवर्त - भरत के अनुसार इस परिवर्त में सर्वप्रथम सूत्रधार द्वारा वाह्यमंडल की प्रदक्षिणा एवं आचमन के पश्चात् जर्जर को धारण किया जाता है जो द्रुतलय मे होना चाहिए।[3] सूत्रधार शीघ्रता से उठकर अपने दाहिने पैर को उठाकर सूची का प्रदर्शन करे तथा बायें पैर से विक्षेप करे, फिर बाये पैर से सूची तथा दाहिने पैर से विक्षेप करे। अतः इस विधान से प्रदक्षिणा करने के पश्चात् भृङ्गार लिये हुए पारिपाश्विक

स्थानस्तु वैष्णवं कृत्वा सौंठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ।। (नाट्यशास्त्र ५/६७)

[1] भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिवाश्विकौ।
मध्ये तु सूत्रभृत्राभ्यां वृतः पञ्चपदीं व्रजेत।। (नाट्यशास्त्र ५/६८)

[2] निर्णय सागर संस्करण में एक पंक्ति स्वीकृत की है कि बायें पैर से सूची व दाहिने से विक्षेप करना चाहिए। (नाट्यशास्त्र ५/७६-८० गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा)।

[3] तृतीय परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये।
गृहीत्वा जर्जरं त्वष्टौ कला जप्यं प्रयोजयेत् ।। (नाट्यशास्त्र ५/८२)

को बुलाकर भृङ्गार जल से स्वयं को पवित्र करे पुनः शास्त्रोक्त विधि से आचमन क्रिया करे और जल से अपना प्रोक्षण करे।[१]

इसप्रकार पवित्र होकर सूत्रधार को विघ्न नष्ट करने वाले जर्जरको ग्रहण करना चाहिए। यह जर्जर ग्रहण तृतीय परिवर्त के अन्तिम सन्निपात के प्रारम्भ में ही कर लेना चाहिए।[२] इस जर्जर ग्रहण के पश्चात् सूत्रधार सङ्गीत वाद्यों के स्थान की ओर पाँच कदम चलता है।

चतुर्थ परिवर्त - तृतीय परिवर्त के प्रसङ्ग में सूत्रधार जर्जर ग्रहण करके आठ कला वाले जप का प्रयोग करे तदनन्तर बाये पैर से सूची तथा दाहिने पैर से विक्षेप का प्रदर्शन करे, फिर कुतप की ओर पॉच कदम चलकर पुनः यहाँ सूची और विक्षेप को पहले की तरह प्रदर्शित करे। यह चतुर्थ परिवर्त जर्जर ग्रहण से प्रारम्भ होकर कुतपाभिमुख गमन पर्यन्त द्रुत लय गति में ही होना चाहिए।[३] तत्पश्चात् हाथ से भूमि का स्पर्श करके तीन बार वन्दना करे। इस प्रकार चारों परिवर्त के साथ उत्थापन विधि समाप्त होती है। इसमें गीतको और वर्धमानक के पश्चात् उत्थायनी ध्रुवा गायी जाती है।[४]

---

१ भृङ्गारभृतमाहूय शौचं चापि समाचरेत् ।
यथान्यायं तु कर्तव्यातेन ह्याचमनक्रिया।। (नाट्यशास्त्र ५/७९)
आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम् । (नाट्यशास्त्र ५/८०)

२ सन्निपातसमं ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः।
प्रदक्षिणामाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः ।। (नाट्यशास्त्र ५/८१)

३ चतुर्थः परिवर्तस्तु कार्यो द्रुतलये पुनः।
करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश।। (नाट्यशास्त्र ५/८५)

४ प्रयुज्यगीतकविधिं वर्धमानमथापि च।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा।। (नाट्यशास्त्र ५/५८)

इस प्रकार चारों परिवर्त के साथ उत्थापन विधि के समाप्त होती है। इसमे गीतकों और वर्धमानक के पश्चात् उत्थापनी ध्रुवा गायी जाती है।[१]

ध्रुवाओं का परिचय- नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि ने पाँच प्रकार की ध्रुवाओं[२] का वर्णन किया है - (क) उत्थापनी ध्रुवा, (ख) परिवर्तिनीध्रुवा (ग) अवकृष्टा ध्रुवा (घ) अड्डिता ध्रुवा (ङ) विक्षिप्ता ध्रुवा। ये ध्रुवा गीतियाँ नाट्यप्रयोग में नेपथ्य या कुतप के साथ बैठे गायक गायिकाओं द्वारा गाई जाने वाले गीति हैं तथा उपोहन विधान से सम्बद्ध होती हुई एवं नाटक के प्रसङ्ग के विषय में साङ्केतिक सूचनॉए देती हुई पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त होती है। नाट्यशास्त्रानुसार सभी प्रकार के गीतो की मूलप्रकृति ध्रुवा है तथा नाट्यप्रयोग के समय गाया जाने वाला गीत है। ध्रुवागान का उपयोग पूर्वरङ्ग के अनुष्ठान के साथ नाटक प्रयोग के समय व पात्रों के प्रवेश व निष्क्रमण के प्रसङ्ग में किया जाता है किन्तु यदि कोई पात्र गाता हुआ, रोता हुआ, विस्मय तथा उत्पात इन परिस्थितियों में प्रवेश करे तो ध्रुवा गायन नहीं होना चाहिए।[३] इन पॉचों प्रकार की ध्रुवाओं के गाये जाने का विधान व स्वरूप भिन्न-भिन्न है जो इस प्रकार है -

(क) उत्थापनी ध्रुवा - इस ध्रुवा मे एकादश अक्षर व चार पाद होते हैं तथा यह चतुरस्त्र, चञ्चत्पुट ताल में गायी जाती है। इसमे चार सन्निपात, तीन प्रकार की द्रुत, मध्य व विलम्बित लय होती है तथा तीन यतियों से युक्त (समा, स्तोतावहा,गोपुच्छा) एवं चार परिवर्त व तीन पणि सम, अवर, उपरिपणि होती है।

(ख) परिवर्तिनीध्रुवा- परिवर्तन मे परिवर्तिनी ध्रुवा गायी जाती है। यह चतुस्त्र ताल, मध्यलय आठ सन्निपातो से युक्त एवं अति जगती छन्द से युक्त होती है जिसमें अन्तिम वर्ण गुरू तथा चारों पदो मे शेष सभी लघु रहते हैं। इस ध्रुवा में उपोहन का विधान छः कला के साथ करना चाहिए तथा तीन यति, चार परिवर्त व तीन पाणि होते

---

१ ध्रुवाओं का विवरण नाट्यशास्त्र ५, १९, २८ वे अध्याय में।

२ नाट्यशास्त्र- ३२/२

३ नाट्यशास्त्र ३२/३२७

हैं। इसप्रकार इस ध्रुवा को सन्निपातों तथा बत्तीस कलाओं के साथ पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त मानना चाहिए।

(ग) अवकृष्टा ध्रुवा - इस ध्रुवा में पाँच कलाओं के उपोहन का विधान होना चाहिए तथा प्रारम्भ में दिग्ले-दिग्ले व अन्त में झण्टु का प्रयोग होना चाहिए। इसके पादों में अडसठ पादभाग होते हैं। एकपाद में तीन छः नौ ग्यारह पन्द्रह, सोलह गुरु व मध्यवर्ती लघु आठ अक्षर होते है तथा अड़सठ पादभाग चार सन्निपात व तीनपाणि द्वारा किये जाते है। पातभाग का अर्थ सशब्दा क्रिया है तथा इसी मे सन्निपात काप्रयोग होता है। यह ध्रुवा चतुर्थकार के पूजा सम्पादन के पश्चात् गायी जाती है।

(घ) अड्डिता ध्रुवा - आचार्य भरत[1] ने इसके सम्बन्ध मे कहा कि इसके चारों पादों में बारह वर्ण होते है तथा एक, पॉच व अन्तिम गुरु तथा शेष ह्रस्व वर्ण होते हैं। भरत निरुपित स्वरूप अभिनव[2] के मत से भिन्न है क्योंकि भरत के अनुसार यह जाति है व अन्य आचार्य के मत से यह वृत्त है। आचार्य भरतानुसार इसका प्रयोग चारी के साथ माना गया किन्तु अभिनव के अनुसार कुछ आचार्य इसका प्रयोग रङ्गद्वार में चारी के साथ व अन्य रङ्गद्वार के सानिध्य के कारण रङ्गद्वार मे अवकृष्टा का प्रयोग मानते हैं। तीसरे विद्वान रङ्गद्वार में ध्रुवा का प्रयोग नहीं स्वीकार करते।

(ङ) विक्षिप्ता ध्रुवा- इस ध्रुवा के चरण में तीसरा, छठा, नवा, दशवॉ अक्षर गुरू व शेष ह्रस्व होते हैं। इसमें दिग्ले-दिग्ले प्रयोग के तीन गुणों से युक्त पात अर्थात् सशब्दाक्रिया का प्रयोग, तीन कलाओं के अनन्तर उपोहन का प्रयोग तथा अन्त में झण्टु जैसे शुष्काक्षरों का प्रयोग किया जाता है। इस ध्रुवा का उपोहन लघु अक्षरों से रहित होता है।

---

[1] आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु।
यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वडडिताबुधैः॥ (नाट्यशास्त्र ५/११९)

[2] अभिनवभारती भाग-१, पृष्ठ- २३९

परिवर्तन - उत्थापनी ध्रुवा के गान के अनन्तर यवनिका के बाहर प्रयोज्य होने वाले अङ्गों में परिवर्तन का स्थान है। आचार्य भरत[१] ने इसका लक्षण प्रस्तुत किया कि नाट्यकर्ता चारों दिशाओ में घूम-घूम कर जिस विधि से लोकपालों की वन्दना करते है वह परिवर्तन नामक अङ्ग है। इसका विधान करते हुए परिवर्तिनी ध्रुवा गायी जाती है। इस गान की बेला में सूत्रधार वाद्य से अनुगमन किया जाता हुआ वार्तिक मार्ग[२] से ललित पद विन्यास द्वारा चारी में पाँच कदम चलकर दिशाओं के अनुसार देवताओं का वन्दन करे। इनदेवताओं के अभिवादन का क्रम भी इस प्रकार का कहा गया है कि सर्वप्रथम इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा की, फिर यम द्वारा अधिष्ठित दक्षिण दिशा के पश्चात् वरूण द्वारा अधिष्ठित पश्चिम दिशा की तत्पश्चात् कुबेर द्वारा अधिष्ठित उत्तरदिशा की वन्दना करनी चाहिए।

दिशावन्दन के अनन्तर पाद विन्यास करते हुए सूत्रधार के चरणों की गति द्विकल होनी चाहिए। बायें पैर से सूची व दो ताल की दूरी पर दाहिना पैर रखते हुए विक्षेप करे और इसी से परिवर्तन ले। इसके पश्चात् पूर्वदिशान्मुख होकर पुरुष पाद (दाहिना) स्त्रीपाद (बॉया) व नपुंसकपाद (जो अधिक उठा न हो ऐसे दाहिने चरण) के न्यास के साथ त्रिपदी करके क्रमशः शिव, विष्णु व ब्रह्मा की वन्दना की जाती है।[३]

चतुर्थकार प्रवेश- इस परिवर्तिनी ध्रुवागान के अनन्तर पारिपाश्विक व स्थापक के अतिरिक्त एक नट चतुर्थकार रङ्गपीठ पर पुष्प लेकर प्रवेश करता है।[४] चतुर्थकार

---

१ यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम् ।
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च परिवर्तनम् । (नाट्यशास्त्र ५/२३)

२ वार्तिकमार्ग- तीन मार्गों में अन्यत्तम मार्ग इसमे एकपद भाग (कला) का चार मात्राओं में निर्माण होता है।

३ वन्देत् पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम् । (नाट्यशास्त्र ५/९८)
दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां प्रकीर्तितम् ।
पुनर्दक्षिणमेवस्यान्नात्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ।। (नाट्यशास्त्र ५/९७)

४ परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः।

जर्जर सभी वाद्य (कुतप) व सूत्रधार का भी विधिवत् पूजन करता है।[1] इस पूजन के समय गान नहीं होना चाहिए केवल वाद्य-वादन ही होना चाहिए तथा गान केवल स्तोभाक्षरो (शुष्काक्षरों) का ही करना चाहिए।[2] पूजा सम्पादन के पश्चात् चतुर्थकार के अन्तर्निहित हो जाने पर अवकृष्टा ध्रुवा के गान का विधान है।[3] इस ध्रुवा गान को चतुस्त्र ताल व विलम्बित लय में गाना चाहिए तथा उपोहन से सम्बद्ध होते हुए सभी वर्ण गुरु एवं अवरपणिक ताल[4] युक्त, स्थायी वर्णो पर आश्रित आठ कलाओ वाले होते हैं तथा गीत में चार पाद, दस अक्षर होते हैं। जिसमे पाँच, सात, आठ वर्ण लघु होते हैं।

जर्जर- आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में जर्जर का विस्तृत वर्णन करते हुए पूर्वरङ्ग के अङ्गों में विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया जो रङ्गदैवत पूजन के प्रसङ्ग में उल्लिखित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या देते हुए कहा कि 'जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम्। अतिशयेन जीर्णकृतो देहो येषां ते तथा। जर्जरेणेति यङ्लुग न्ताण्णिचि पुनः पचाद्यचि रूपम्।'[5] भरत के अनुसार समुद्रमंथन समवकार इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर सर्वप्रथम खेला गया। इसके प्रयोग में इन्द्रध्वज का प्रयोग हुआ तभी से नाटको में जर्जर का ग्रहण शामिल हुआ। अत एव संस्कृत नाट्यप्रयोग मे जर्जर इन्द्रध्वज का ही प्रतीक है। प्राचीन आचार्यो द्वारा भी जर्जर का

चतुर्थकारःपुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ।। (नाट्यशास्त्र ५/९९)

[1] यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु।
कुतपस्य च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि (नाट्यशास्त्र ५/१००)

[2] तस्य भण्डसमः कार्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमः।
न तत्र गानं कर्तव्यं तत्र स्तोभ क्रिया भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र ५/१०१)

[3] चतुर्थकारः पूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत् ।
ततो गेयावकृष्टा तु चतुरस्र स्थिता ध्रुवा।। (नाट्यशास्त्र ५/१०२)

[4] अवरपाणि, तथा अवपाणि ताल का एक प्रकार होता है।

[5] अभिनवभारती भाग १/७०

प्रयोग इन्द्रध्वज अर्थ में ही किया जाता है।[1] सागरनन्दी एवं भरत[2] के अनुसार इन्द्र ने अपने जर्जर से विघ्नों को नष्ट (जर्जर) कर दिया तभी से नाट्यारम्भ मे जर्जर स्तुति का प्रचलन हो गया। शारदातनय[3] के अनुसार जर्जर पूजा मे पिण्डीबन्धात्मक नृत्त का प्रयोग होता है।

जर्जर एक सौ आठ अङ्गुल का पाँच पोरों वाला बास का दण्ड होता है। नाट्यशास्त्र में पाँचों पोरों में पाँच रङ्गों के वस्त्र लपेटने का विधान है किन्तु जर्जर को पताकाओं से अलङ्कृत करने का विधान नही है। इसके शिरः पर्व पर सफेद, रौद्र पर्व मे नील, विष्णु पर्व मे पीला, स्कन्दपर्व में लाल, मृड पर्व में (चित्रमिश्रित) विभिन्न रङ्गों वाला वस्त्र लपेट कर धूप, माल्य, अनुलेपन से इसकी पूजा करनी चाहिए।[4] 'पूजा के पश्चात विघ्नों के जर्जरीकरण के लिए जर्जर को अभिमन्त्रित करके तथा जर्जर को सम्बोधित करके अलग-अलग पोरो की अलग-अलग देवताओं द्वारा रक्षा का आह्वान किया जाता है।'[5]

नान्दी- नान्दी को पूर्वरङ्ग विधि के अङ्गों में विशिष्ट एवं अपरिहार्य अङ्ग मानने के कारण पूर्वरङ्ग का पर्याय कहा जाता है। तत्कालीन सामाजिकों की धार्मिक चेतना का

---

[1] जर्जर इति शक्रध्वजस्यपूर्वाचार्यदर्शितः संज्ञा शब्दः। (नाटकलक्षणरत्नकोश सागरनन्दी- व्याख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्रथम संस्करण पृष्ठ- ११३)

[2] अत्र विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैस्सुरैः।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो व्रजसारो महातनुः। (नाट्यशास्त्र ३/७८)

[3] शारदातनय भावप्रकाश- १० प्रकाश,पृष्ठ- १९७

[4] श्वेतशिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रे च पर्वणि।
विष्णुपर्वणि वै पीतं रक्तं स्कन्दस्य ॥ (नाट्यशास्त्र ३/७४)
मृडपर्वणि चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना।
सदृशं च प्रदातव्यं धूपमाल्यानुलेपम् ॥ (नाट्यशास्त्र ३/७५)

[5] शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सवैर्देवगणैः सह।
द्वितीयं च हरः पर्व तृतीयं च जनार्दनः॥ (नाट्यशास्त्र ३/७९)
चतुर्थं च कुमारस्ते पञ्चमं पन्नगोतमः।
नित्यं सर्वेऽपियान्तु त्वां सुरार्थे च शिवो॥ (नाट्यशास्त्र३/८०)

अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि यह नान्दी वैदिक धर्म से प्रभावित थी जिसके फलस्वरूप प्रत्येक शुभ कार्य हेतु देवस्तुति की जाती थी। नाट्य भी एक कलात्मक कार्य है इसे सामाजिकों के समक्ष अभिनीत किया जाता है। इस कार्य में विघ्नादि की आशंका रहती है इसी के निवारण हेतु मङ्गलकामना व देव स्तुति की जाती है। परमतात्विक आनन्द एवं नाट्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु भरत ने ही सर्वप्रथम देवस्तुति की संस्तुति की जो परम कल्याण एवं मङ्गलकामना जैसे शुभ विचारो से युक्त है। पृथ्वी पर अन्य आदरणीयजनों मे गुरु, द्विज, नृप आदि माने गये हैं। अतः नाट्य में इनकी भी देवों के साथ स्तुति का विधान किया गया है। इसप्रकार आचार्य भरत[१] के अनुसार देव द्विज नृपादि की जो आशीर्वादात्मक स्तुति की जाती है वही 'नान्दी' है। इस परिभाषा के समर्थक साहित्यदर्पणकार भी हैं। आदिभरत[२] के मतानुसार आशीर्वादात्मक एवं नमस्कारात्मक श्लोक जिससे काव्यार्थ की भी सूचना दे दी जाती है वह 'नान्दी' है।

आचार्य भरत के पश्चात् नान्दी का लक्षण देने वाले आचार्यो में कोहल[३] ही सर्वप्रथम है। अग्निपुराण[४], भावप्रकाश एवं रसार्णवसुधाकर में नान्दी का विवेचन

---

१ आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।। (साहित्यदर्पण ६/२४)

२ आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः
नान्दीति कथ्यते। (आदिभरत उद्धृत अभिज्ञानशाकु. राघवभट्टटीका पृष्ठ- ५)

३ मङ्गल्या शङ्खचक्राब्जकोककैरवशंसिनी
यत्राष्टभिर्दादशभिरष्टादशभिरेव वा।
द्वाविंशतिपदैर्वापि सा नान्दीपरिकीर्तिता।। (शाकुन्तलम् श्री निवास टीका पृठ- १२)
देवतादिनमस्कारो मङ्गलारम्भपाठनम् ।
नाट्यादौ शस्यते यत् तु सा नान्दी कथिता बुधैः।।
(बहुमिश्रटीका उद्धृत, दशरूपक पृष्ठ- ८१)

४ देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादोऽपि गीयते। (अग्निपुराण ३३७/९-१०)

भरतानुसार ही है। नाट्यप्रदीप[1] की नान्दी सौन्दर्य से युक्त है जो सज्जनरूपी समुद्र की हंसिनी की भाँति कविगण, कुशीलवो को आनन्द देती है। शारदातनय ने भी देवतादि के नमस्कार व मङ्गलारम्भ की जिस क्रिया से लोग आनन्दित होते है उसे 'नान्दी' कहा है। सामान्य रूप से नान्दी का दो प्रकार से तात्पर्य माना गया है (क) देवों को आनन्दित करने के कारण (ख) नन्दी नामक शिवगण से इसका सम्बन्ध होने के कारण। इनमें प्रथम तात्पर्य के समर्थक भरत[2] ने नान्दीपाठ को गुरुओ, ब्राह्मणों एवं ब्रह्मविद्या की वृद्धि तथा ब्रह्मद्वेषियों के विनाश की कामना हेतु स्वीकार किया, तथा शारदातनय[3] के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए शङ्कर का वाहन नन्दी (वृषभ) कल्पना द्वारा रङ्गदेवताओं को प्राप्त हो गया। इस प्रकार नन्दी के तद्रूप सम्बन्ध से ही नाट्यारम्भ में की जाने वाली आनन्द प्रदायी पूजा नान्दी नाम से ख्यात हुई जो द्वितीय तात्पर्य का अनुमोदन करती हुई तथा भरत का ही अनुसरण करते हुए विघ्न शांति हेतु स्वीकार की गई।

वैजयन्ती कोश में नान्दी के संदर्भ में कथन है कि नान्दी अर्थात् दुन्दुभि नाटक के प्रारम्भ में श्रोताओं को सावधान करने के लिए बजायी जाती है- 'दुन्दुभिस्त्वानको भेरी भम्मा नासूश्च नान्द्यपि इति' (वैजयन्ती कोश)।[4] पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों मे तेरहवॉ स्थान रखने वाली नान्दी आशीर्वचन युक्त पूर्वरङ्गकालीन माङ्गलिक अनुष्ठान है जिसमे

---

[1] नन्दन्ति काव्यानिकवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः परिषदाश्च सन्तः।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियंसा कथितेह नान्दी। (नाट्यप्रदीप)

[2] देवतासुरमानन्द्य यस्माल्लोकश्च नन्दति।
तस्मादयं प्रयोगस्तु नान्दीनामा भविष्यति। (नाट्यशास्त्र ३१/२१)
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च। (नाट्शास्त्र ५/१०५)

[3] नन्दी वृषो वृषांकस्य जगदादौ जगत्पतेः।
नृत्यतः कल्पनायोगाज्जगाम किल रंगताम् ।
तस्य तद्रूप सम्बन्धात्पूजा नान्दीति कथ्यते। (भावप्रकाश ७/९८)

[4] उद्धृत-भाण साहित्य की समीक्षा-श्री निवासमिश्र पृष्ठ- ३९

देव, राजा, ब्राह्मण की स्तुति तथा दर्शक, कवि एवं प्रयोक्ता के लिए मङ्गलकामना का विधान होता है, इसलिए नित्य किया जाने वाला माङ्गलिक अनुष्ठान है, जिसके कारण भरत ने इसे 'मांगल्य' एवं 'जयावहा' से सम्बोधित किया। आचरण से अनुकरणीय व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्तिभाव प्रदर्शित करना ही नान्दी का प्रयोजन है, फलतः नाट्य के निर्विघ्न समाप्त होने की प्रमुख कामना इससे स्पष्ट जुड़ी हुई है, इसी कारण शास्त्रीय दृष्टि से नान्दी को आदर्शमूलक कहा गया है।

नान्दी की व्युत्पत्ति 'नन्दन्ति देवा अत्र इति नान्दी' जहाँ देवता प्रसन्न होते हैं वह नान्दी है। नान्दी नद् (टुनदि समृद्धौ) धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ समृद्ध एवं मङ्गल है। नन्द् + घञ् (अ+ङीप् - पृषोदरादीनि यथोपदिष्टानि (६-३-१०९) से धातु के अ को आ हुआ तथा नन्द+पचादित्वादव् + प्रज्ञादिभ्यश्च+ञण्+ङीप् = नान्दी)। इसप्रकार नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति होती है। जिस नान्दी में शंख, चक्र, कमल, चकवा, चकई एवं श्वेतकमल (कैरव) शब्दों का उल्लेख होता है वह नान्दी उत्तम मानी जाती है।[१]

नान्दी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पूर्वरङ्ग में इसके पहले किये जाने वाले अङ्गों उत्थापन, परिवर्तन व गीतक से है। गीतक मे देवस्तुति का उपक्रम, उत्थापन में नान्दी पाठक प्रयोग का उत्थापन एवं परिवर्तन में वे चारो दिशाओं की परिक्रमा करके देवों की वन्दना करते है, ये सभी अङ्ग भव्य एवं मनोहर वातावरण में प्रस्तुत होते हैं। इसमें रक्षामङ्गल, संस्कृत, शुद्धवस्त्र से भूषित सूत्रधार रङ्गमञ्च पर मध्यलय में प्रवेश करता है और इसी शोभा शृङ्गार, शुद्धि और पवित्रता के वातावरण में नान्दी का प्रयोग होता है।

यद्यपि नाटक मे पूर्वरङ्ग के अनेक अङ्गो का विधान किया गया है किन्तु नाट्योत्पत्ति के प्रसङ्ग में ब्रह्मा ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों में केवल नान्दी का ही उल्लेख किया है।[२] जो पूर्वरङ्ग की अङ्ग भूत नान्दी नहीं है। आचार्य भरत के मतानुसार शारदातनय[३]

---

१ मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरूतै।। (साहित्यदर्पण ६/२५)

२ प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।

एवं सागरनन्दी[1] ने भी अन्य अङ्गों को विवेचित करते हुए नान्दी की अनिवार्यता स्वीकार की है। इस संदर्भ में अभिनवगुप्त[2] ने यह स्पष्ट किया कि यदि कोई नाटक कई दिनों तक खेला जाय तो पूर्वरङ्ग के सभी अङ्ग प्रतिदिन अभिनय से पहले अनिवार्य नही है किन्तु नान्दी का विधान प्रतिदिन अनिवार्य है।

'आचार्य भरत ने रङ्गमञ्च को विघ्नोपशान्ति के लिए किये जाने वाले नान्दी पाठ का विधान सूत्रधार के द्वारा किये जाने का निर्देश दिया है तथा नान्दी के गायन के स्वर के संदर्भ मे कहा कि यह मध्यम स्वर मे गायी जाती है।'[4] सप्तस्वरो में मध्यम स्वर 'म' की आवृत्ति से होता है। मध्यम स्वर से नान्दी पाठ का तात्पर्य है मध्यस्वराश्रित या अंशस्वराश्रित प्रयोग विधान किया जाना। मध्यम स्वर ही आगे नाट्यप्रदर्शन के समय स्वर लहरियो का अवरोहण या आरोहण करता है। अत एव मध्य स्वर का निर्देश भी एक विशिष्ट अर्थों में है जो लय की गति की दिशा की ओर सङ्केत देता है और संगीत में शास्त्रीय दृष्टि से भी माध्यम स्वर अधिक कर्णप्रिय सिद्ध है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' मे भी प्रयोग के आरम्भ मे भाण्डवाद्यों को मध्यम स्वर में रखने का उल्लेख किया है।[5] इसप्रकार सूत्रधार द्वारा मध्यम स्वर में नान्दी का विधान सागरनन्दी[6] को भी मान्य है। अत एव नाट्य के प्रारम्भ का यह बीज पुष्पित, पल्लवित, होकर नाट्य को एक शुभ गति प्रदान करता है।

पूर्वकृतामया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता ॥(नाट्यशास्त्र १/५६) -

१ यद्यप्यङ्गानि भूयांसिपूर्वरङ्गस्य नाटके तत्राप्यवश्यं कर्तव्या नान्दीविघ्नोपशान्तये। (भावप्रकाश शारदातनयपृष्ठ- १६६)

२ नाटकादिरूपेषु पूर्वरङ्ग समाश्रयात् ।
नान्दी नाम विधातव्या सर्व विघ्नपशान्तये।
नान्दी पूर्वरङ्गस्यागं मुख्यतमम् । (नाटकलक्षणरत्नकोश सागरनन्दी पृष्ठ- ११२५)

३ अभिनवभारती, भाग-१, पृष्ठ- २१७

४ सूत्रधारः पठेत तत्र मध्यम स्वरमाश्रितः। (नाट्यशास्त्र ५/१०४)

५ अभिनवभारती भाग-१, पृष्ठ- २३७

६ नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ- ४६-४८

आचार्य भरत[१] ने यह निर्देश दिया कि सूत्रधार के द्वारा नान्दी पाठ के साथ उसके दोनों ओर स्थित पारिपाश्विक उस नान्दी में प्रत्येक अवान्तर वाक्य पर 'एवमार्य' कहते हुए उसके कथन का अनुमोदन करें, जितनी बार पारिपाश्विक एवमार्य कहते हैं उतने पद वाली वह नान्दी होगी अथवा जितने अवान्तर वाक्य उस नान्दी में होंगे उतने बार पारिपाश्विक एकमार्य कहेंगे।

नान्दी के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि नान्दी कितने प्रकार की होती है? संस्कृत नाट्य ग्रन्थों के अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि सामान्य रूप से नान्दी के तीन भेद माने गये हैं-

नीली- यह नान्दी काव्येन्दुप्रकाशकार को अधिक अभीष्ट है।[२] इनके अनुसार जहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य या चन्द्रमा का उल्लेख होता है वहाँ नीली नान्दी होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल मे इसी नान्दी का वर्णन है।

शुद्धा- शुद्धा नान्दी वहाँ होती है जहाँ माङ्गलिक, आशीर्वादात्मक एवं नमस्कारात्मक वर्णन हो इसलिए यह विघ्नविनाशक का हेतु होती है।

पत्रावली- ध्वन्यात्मक नान्दी को पत्रावली नान्दी की संज्ञा दी जाती है। इसके द्वारा नाट्य के आगामी इतिवृत्त की सूचना दी जाती है अर्थात् उन माङ्गलिक पदों मे से किसी अलङ्कार की सहायता से नाट्य का समस्त इतिवृत्त संक्षेप में ध्वनित होता है तथा बीज का विन्यास और अभिधेय वस्तु का विन्यास श्लेष या समासोक्ति के माध्यम से किया जाता है। ऐसी नान्दी में कविकौशल दर्शनीय होता है। भास के नाटकों में श्लेष के द्वारा नाटक के पात्रों की सूचना नान्दी पदों में दी जाती है।

---

१ नान्दीपदान्तरेष्वेषु ह्येवमार्येति नित्यशः।
वदेतां सम्ययुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपाश्विकौ।। (नाट्यशास्त्र ५/१०९)

२ काव्येन्दुप्रकाश, साहित्यदर्पण,पृष्ठ- ३३० पर उद्धृत।

'नान्दी के पद के सम्बन्ध में आचार्य भरत ने स्पष्ट कहा है कि अष्टपदा और द्वादशपदा नान्दी का पाठ सूत्रधार को मध्यम स्वर में करना चाहिए।[1] भरत के पद का तात्पर्य वाक्यखण्ड से है किन्तु पद की व्याख्या के संदर्भ में भी आचार्यो द्वारा भिन्न-भिन्न मतमतान्तर प्रस्तुत किये गये। भरत के अष्टपदा एवं द्वादशपदा के अतिरिक्त 'अभिनवगुप्त ने चौकोर स्थल में चतुष्पदा या षोडशपदा तथा तिकोन स्थल में त्रिपदा या षट्पदा नान्दी का विधान किया।[2] इनके मत से पद का अर्थ संगीतात्मक ध्वनि अर्थात् श्लोक के उच्चारण में जो यति होती है वही नान्दी पद है।[3] नाट्यदर्पणकार[4] ने भी षटपदा अष्टपदा नान्दी का विधान किया। 'आचार्य विश्वनाथ ने सुबन्त, तिङन्त रूप बारह पदों वाली तथा पद्य के चतुर्थांश चरण से युक्त आठ पदों वाली नान्दी कही जो मङ्गल को बताने वाले शंख, चक्रवाक, कमल, श्वेतकमल को अभिधावृत्ति अर्थात् सीधे बताने वाली होती है।[5] शिङ्गभूपाल[6] के अनुसार नान्दी अष्टपदा, दशपदा, द्वादशपदा होनी चाहिए एवं दसपदा नान्दी तीन प्रकार की मानी गई है। इसीप्रकार नान्दी के संदर्भ में मन्दार चम्पू में भी कहा गया है।[7]

प्रायः षट्पदा नान्दी त्रयस्त पूर्वरङ्ग के लिए उपादेय है तथा त्रयस्त में बारह पदों वाली उत्तम तथा तीन पदों वाली अधम नान्दी, जबकि चतुस्र पूर्वरङ्ग के लिए सोलह पदों वाली उत्तमा और चार पदों वाली अधमा नान्दी हो सकती है। पदों के सम्बन्ध में

---

[1] सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दी पदैर्दादशभिरष्टभिर्वाऽप्यलंङ्कृताम् ॥ (नाट्यशास्त्र ५/१०४)

[2] अभिनवभारती भाग-१/५६ वृत्तिभाग

[3] अभिनवभारती भाग-२ पृष्ठ- २१७

[4] नाट्यदर्पण ४/१५४

[5] साहित्यदर्पण ६/२५

[6] रसार्णवसुधाकर शिङ्गभूपाल ३/१३८

[7] अष्टभिर्दशभिः श्रेष्ठा तथा द्वादशभिः पदैः।
अष्टादशपदैर्वापि द्वाविंशत्यापदैर्युता।। (मन्दारमरन्द चम्पू उद्धृत- नाट्यशास्त्रविश्वकोश भाग-४, राधावल्लभत्रिपाठी पृष्ठ- १११६)

भिन्न-भिन्न मतो के कारण यह स्पष्ट होता है कि भरत द्वारा की गई पद की व्याख्या का परवर्ती आचार्यों ने पालन नहीं किया और इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित मत भी नहीं मिलता। अतः प्रतीत होता है कि व्यवहार में श्लोक पाठ ही पद माना गया है। नान्दी गायन पद्धति में प्रत्येक पद के अन्त में पारिपाश्विक को 'एवमस्तु आर्य' का उच्चारण करना पड़ता है यह पूर्ण वाक्य के अन्त में ही आ सकेगा। अत एव नान्दी मे चाहे जितने पद रखें जाय वे सभी आशीर्वाद से युक्त होने चाहिए। इसप्रकार पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों में नान्दी ही प्रधान एवं अनिवार्य है जो अपरिहार्य एवं अकाट्य अङ्ग होने के कारण सभी आचार्यों के द्वारा स्वीकृत है तथा इन मतों से यह भी सिद्ध होता है कि अष्टापदा एवं द्वादशपदा नान्दी प्रायः सभी आचार्यों को मान्य है।

नान्दी के प्रत्येक अक्षर तथा गण के विशेष देवता होते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के शुभ और अशुभ फलों को देने वाले होते है। इसका उल्लेख काव्यालंङ्कार[१] एवं वृत्तरत्नाकर[२] में विस्तारपूर्वक किया गया है। मङ्गल विधायिका नान्दी के आरम्भिक अक्षर और गण ऐसे होने चाहिए जो शुभ हो, मङ्गल एवं समृद्धिदायक हों। ऐसा होने से रूपक के नायक को सफलता एवं सुख की प्राप्ति होती है।[३] इस सम्बन्ध में इतना अवश्य है कि यदि कोई अक्षर या गण देवतावाची हैं या भद्र, मङ्गल आदि शब्दों का

---

[१] अक्षरों का फल- कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति, वियशोङस्तथा चः सुखं छः प्रीतिं , जो मित्रलाभं,भयमरणकरौ झजौ, टठौ खेददुःखौ ड् शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथचरणस्तः सुखं थश्च युद्धम् दो धः सौख्यं, मुदं नः, सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः। यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथलवौ शः सुखं षश्च खेदं सः सौख्यं, दृश्च खेदं, विलयमपि च लः, क्षः समृद्धिं करोति संयुक्तं चेह न स्यात् सुखमरणपटु वर्णनिन्यास योगः पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्रकृतादौ समोऽयम् । (काव्यालङ्कार पृष्ठ- ५७)

[२] गणो के देवता तथा उनके फल-

मो भूमिस्त्रिगुरूः श्रियं दिशति, यो वृद्धिं जलं चादिलो।
रोऽग्निर्मध्यलघुर्विनाश, मनिलोदेशाटनं सोऽन्त्यगः।
तो व्योमान्तलघु र्धनापहरणं, जोऽर्को रूजं मध्यगो,
भश्चन्द्रो यश उज्ज्वलं मुखगुरूः नो नाक आयुस्त्रिलः।। (वृत्तरत्नाकर पृष्ठ- ५)

[३] अक्षरे परिशुद्धे तु नायको भूतिमृच्छति (वृत्तरत्नाकर पृष्ठ- ६)

वाचक है तो वह अशुभ नहीं माना जायेगा अर्थात् अशुभ होने पर भी देवता या मङ्गलवाची होने के कारण अशुभ फलदायक नहीं होगा।[1] अतः ऐसे अक्षर और गण का प्रयोग काव्य तथा नान्दी आदि में किया जा सकता है। इसप्रकार नान्दी का विधान करना चाहिए।

शुष्कावकृष्ट[2]- नान्दी के पश्चात् जर्जर को लक्ष्य करके उसके यश को प्रकाशित करने वाली शुष्कावकृष्टा ध्रुवा गान का प्रयोग करना चाहिए[3], तथा इसका गान करते समय इसके चरणों के प्रारम्भ के नौ अक्षर गुरु, फिर छः लघु तथा तीन गुरु होते हैं और प्रमाणिक रूप में इसमे आठ कलायें होती है।[4]

इस शुष्कावकृष्टा गान के अनन्तर ही सूत्रधार जिस देवता के पूजन में प्रवृत्त हो उसकी स्तुति को सम्मुख रखते हुए गम्भीर स्वरयुक्त एक श्लोक का पाठ करे। यह श्लोक किसी देवता की स्तुति वाला हो या जिसके उपलक्ष्य मे नाट्य संयोजन हो उस देव से सम्बन्धित या जिस राजाके प्रति प्रजा अनुरक्त हो अथवा ब्राह्मणों की स्तुति का पाठ करने वाला होना चाहिए।

रङ्गद्वार- आचार्य भरत ने पूर्वरङ्ग के अङ्गो मे रङ्गद्वार को भी समाहित किया है वस्तुतः सर्वप्रथम यहीं से वाचिक, आङ्गिक अभिनय की अवतारणा होती है इसलिए इन अभिनयों से युक्त इस अङ्ग को 'रङ्गद्वार' कहते हैं।[5] अभिनवगुप्त[6] ने इसकी व्याख्या

---

1. देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
   ते सर्वे नैव निन्द्याः स्यु र्लिपितौ गणतोऽपिवा। (काव्यालङ्कार पृष्ठ- ५६)
2. भरत ने इन ध्रुवाओं की छन्दशास्त्र एवं संगीत दोनों दृष्टियो से व्याख्या की है। प्रथमतः छन्छशास्त्र के अनुसार लघु, गुरू का निर्देश तथा संगीत के अनुसार कला का प्रमाण बताया है।
3. ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिका।। ((नाट्यशास्त्र ५/११०)
4. नवगुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरूत्रयम् ।
   शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौप्रमाणतः ।। (नाट्यशास्त्र ५/१११)
5. यस्मादभिनयस्त्वत्र प्रथमं ह्यवतार्यते।
   रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम्। (नाटशास्त्र ५/२६)

करते हुए कहा कि रङ्गद्वार में नाट्य की कथावस्तु के अभिनय का आरम्भ होता है तथा जिस रूपक का अभिनय इष्ट हो उस रूपक का द्वार अर्थात् प्रारम्भिक अङ्ग के समान संक्षिप्त रूप में रूपक के प्रयोजन का पाठ्य रूप में अभिनय किया जाता है, जो आगे प्रस्तुत होने वाले रूपक का द्वार या आरम्भ जैसा होने से 'रङ्गद्वार' कहलाता है।

इस रङ्गद्वार में सूत्रधार द्वारा राजा, ब्राह्मण, एवं देव स्तुतिपरक श्लोक पाठ करके पुनः जर्जर के यश को प्रकाशित करने वाले दूसरे श्लोक का पाठ किया जाना चाहिए।[२] तत्पश्चात् जर्जर (इन्द्रध्वज) को प्रणाम किया जाय। अतः जर्जर को प्रणाम के अनन्तर ही चारी का प्रदर्शन प्रारम्भ होता है। रङ्गद्वार से चारी एवं महाचारी द्वारा गीत नृत्य की मधुरता से सृष्टि की जाती है।

चारी[३]- रङ्गद्वार के अनन्तर जर्जर को प्रणाम करके चारी का प्रयोग प्रारम्भ होता है।[४] इस समय रङ्गमञ्च से दोनों पारिपाश्विकों को पश्चिम की ओर से निष्क्रमण करना चाहिए। भरत के अनुसार 'शृङ्गार प्रचरणाच्चारी समपरिकीर्तिता'[५] अर्थात् शृङ्गार रस के भावों को नृत्य की गति द्वारा प्रदर्शित करना 'चारी' कहलाता है। शृङ्गार रस की प्रधानता व शृङ्गार से ही सम्बद्ध होने के कारण चारी कोमल नृत्य है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि जिन कोमल अङ्गहारों तथा चारियों के प्रयोग से

---

१ अभिनवभारती भाग-१,पृष्ठ- २१९

२ राज्ञो वा यत्र भक्ति स्यादथ वा ब्राह्मणस्तवम् ।
गदित्वा जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम् ।। (नाट्यशास्त्र ५/११४)
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य विनाशकम् । (नाट्यशास्त्र ५/११५)

३ आचार्य भरत ने बत्तीस प्रकार की चारियाँ वर्णित की है तथा इन्हें दो वर्गों मे विभक्त किया (क) भौमी चारी (ख) आकाशिकी चारी। इनमे सोलह भौमी तथा सोलह आकाशिकी चारियाँ होती हैं।

४ जर्जरं नमयित्वा तु ततश्चारीं प्रयोजयेत् । (नाट्यशास्त्र ५/११५)

५ नाट्यशास्त्र ५/२७

पार्वती के साथ शङ्कर के शृङ्गार प्रधान चरित्र की अभिव्यक्ति होती है उसे चारी कहते हैं।[1]

चारी में दोनों पारिपाश्विको के रङ्गमञ्च से चले जाने के बाद अङ्किता ध्रुवा का गान प्रारम्भ होता है जो कि मध्यम लय से युक्त एवं चतुस्र ताल, चार सन्निपातों से युक्त होती है।[2] इस ध्रुवा का प्रयोग क्रमशः इस प्रकार किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम सूत्रधार 'अविहत्थस्थानक'[3] मे स्थित होकर पारिपाश्विक के हाथ से जर्जर लेकर उसे अपनी नाभि पर सीधा रखकर विलास पूर्वक पाँच कदम चलता है तथा बायें पैर से सूची चारी का प्रारम्भ करके दाहिने पैर से विक्षेप करता है तदनन्तर आर्या छन्द मे चारी श्लोक का पाठ करता है जो शृङ्गार रस को प्रगट करता है। इसके बाद पुनः एक चारी श्लोक का पाठ करता है और जर्जर पारिपाश्विक के हाँथ में दे देता है तथा परिवर्तन (गोलघुमाव) लेकर पश्चिमाभिमुख होकर चला जाता है। इस प्रकार पारिपाश्विक के हाँथ में उस जर्जर को देखकर महाचारी का प्रयोग करता है।[4]

महाचारी- चारी के पश्चात् ही महाचारी अङ्ग प्रारम्भ होता है। आचार्य भरत के अनुसार 'रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता'[5] अर्थात् रौद्र रस के भावो को नृत्य की गति द्वारा प्रदर्शित करना 'महाचारी' कहलाता है। रौद्र रस से सम्बद्ध होने के कारण

---

[1] अभिनवभारती, भाग- २, पृष्ठ- २१९

[2] पारिपाश्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम् ।
अङ्किता चात्र कर्तव्या ध्रुवामध्यलयान्विता।। (नाट्यशास्त्र ५/११६)
चतुर्भिः सन्निपातैश्च चतुस्रा प्रमाणतः। (नाट्यशास्त्र ५/११७)

[3] अविहत्थस्थानक- यह स्थान स्त्रीस्थानक माना जाता है। इस स्थान में लता हस्त का अधोमुख स्थापन नाभिप्रदेशपर जर्जर को सन्तुलित करना है। इसका लक्षण नाट्यशास्त्र १३/१६४-६५ में किया गया।

[4] पारिपाश्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम् ।
महाचारी ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि।। (नाट्यशास्त्र ५/१२४)

[5] नाट्यशास्त्र ५/२७

महाचारी परूप नृत्य है। अभिनवगुप्त[1] के अनुसार त्रिपुरवध से सम्बद्ध रौद्र रस प्रधान चरित्र का जब काव्यात्मक गान होता है और उद्धत अङ्गहारों के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति की जाती है तो वह महाचारी होता है।

नाट्यशास्त्रानुसार 'रौद्र रस की अभिव्यञ्जना हेतु महाचारी मे ध्रुवा गीत चतुस्रताल एवं द्रुतलय से युक्त तथा चार सन्निपात व आठ कलाओं से युक्त होता है, जिसमें एक, चार, सात, दस तथा अन्तिम गुरु एवं शेष वर्ण लघु होते है।'[2]

इस ध्रुवा गीत में सूत्रधार भाण्ड वाद्यो की ओर उन्मुख होकर चरण विक्षेप करे, फिर सूची चारी का सम्पादन करके विक्षेपपूर्ण कर परिवर्तित हो जाय तदनन्तर अतिक्रान्ता चारी में ललित गति से द्रुतलय में तीन ताल के अन्तर से उठाये जाने वाले पैरों से पाँच कदम चलकर पुनः सूची का बायें पैर से प्रदर्शन करे तथा तीन कदम आगे बढ़कर सूची चारी का बायें पैर से तथा विक्षेप दाहिने पैर द्वारा करे। तत्पश्चात् रौद्र रस प्रचुर श्लोक का पाठ करना चाहिए तथा तीन कदम आगे बढ़ते हुए सूत्रधार अपने दोनों पारिपाश्विकों को बुलाये।[3] जब ये दोनों पारिपाश्विक रङ्गमञ्च पर आ रहें हो तो उस समय नर्कुटक ध्रुवा[4] का गान किया जाना चाहिए।[5]

---

[1] अभिनवभारती भाग-२, पृष्ठ- २२१

[2] चतुस्रा ध्रुवा तत्र तथा द्रुतलयान्विता।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ प्रमाणतः।। (नाट्यशास्त्र ५/१२५)
आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु।
लघु शेषं ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र ५/१२६)

[3] ततो रौद्ररसं श्लोकं पादसंहरणं पठेत् ।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याथ व्याहरेत्पारिपाश्विकौ। (नाट्यशास्त्र ५/१३२)

[4] नर्कुटक ध्रुवा- इसका लक्षण (नाट्यशास्त्र ३२/२८०) पर वर्णित है। इस ध्रुवा को सूत्रधार व पारिवाश्विक तीनों मिलकर गाते हैं या तीनों के साथ आने के समय गान मण्डली द्वारा भी गायी जा सकती है।

[5] तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटकं बुधैः।। (नाट्यशास्त्र ५/१३३)

त्रिगत- भारतीवृत्ति के अङ्गों में वर्णित वीथी के तेरह अङ्गों में त्रिगत नामक अङ्ग का प्रयोग पूर्वरङ्ग में भी होता है।[१] नर्कुटक ध्रुवा गान के अनन्तर ही रङ्गमञ्च पर उपस्थित सूत्रधार पारिपाश्विक एवं असम्बद्ध विदूषक द्वारा कथावस्तु के सम्बन्ध में कौतुहलपूर्ण कथोपकथन (परिसंवाद) ही 'त्रिगत' कहा जाता है। अतः भरत के अनुसार 'विदूषक सूत्रधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः।' यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं तश्चापि त्रिगतं मतम् ।[२] तथा अभिनवगुप्त के मतानुसार तीनो पात्रों का पारस्परिक संवाद जिसमें भूत, भविष्य मे घटित होने वाले विषयों का सङ्केत रहता है वही त्रिगत है। इस प्रकार यह तीन पात्रों के आधीनविधि है।

इस त्रिगत के अन्तर्गत विदूषक एक पद वाली, सूत्रधार को हँसाने वाली तथा असम्बद्ध कथा प्रसङ्ग वाली वार्तालाप करता है। इस बातचीत में वितण्डा विषय पर जो गण्ड या आकस्मिक रूप से विहित या जो किसी प्रहेलिका में इस प्रकार के प्रश्न करता हो कि कौन हो? आदि कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करें। इस त्रिगत में पारिपाश्विक की ठीक बातें विदूषक द्वारा संक्षेप में बतायी जाय तथा उसका सूत्रधार को भी समर्थन करना चाहिए। इसप्रकार त्रिगत का विधान किया जाना चाहिए।

प्ररोचना- रङ्गमञ्च पर सम्पादित किये जाने वाले पूर्वरङ्ग के अङ्गों मे प्ररोचना का अन्तिम स्थान होते हुए भी अनिवार्यता है क्योंकि जिस प्रकार नाट्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवताओं की स्तुति नान्दी पाठ में की जाती है, उसी प्रकार सूत्रधार ही सामाजिकों (दर्शकों) को नाट्योन्मुख कराने के लिए काव्योपक्षेपण, कथावस्तु निरूपण व कवि कृति सङ्कीर्तन करता है जिससे दर्शकों में अभिरुचि जागृत हो इसे ही 'प्ररोचना' कहा जाता है जो भरत सम्मत है।[३]

---

१ तथा च भारतीभेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ।(नाट्यशास्त्र ५/१३३)

२ नाट्यशास्त्र ५/२८

३ उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया।

दशरूपककार ने भी प्ररोचना के विषय मे कहा कि काव्यार्थ की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों को नाट्य की ओर उन्मुख करना ही प्ररोचना है- 'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।'[१] अभिनवगुप्त के अनुसार प्ररोचना मुख्यकथावस्तु को उपस्थापित कराने के कारण सामाजिकों के मन मे कौतुहल व आकर्षण को उत्पन्न कराती है। वास्तव में प्ररोचना नान्दी और आमुख (प्रस्तावना) के बीच की सुनहरी श्रृङ्खला है।

यह प्ररोचना भारतीवृत्ति के चार भेदों में एक है। आचार्य अभिनवगुप्त[२] ने भारतीवृत्ति के भेद प्ररोचना को भी नान्दी के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि ये दोनों ही मङ्गल विजय की बोधिका हैं, किन्तु भरत के अनुसार प्ररोचना द्वारा काव्योपक्षेपण का विधान किया जाता है तथा यह नान्दी के बाद प्रयुक्त होती है परन्तु इस पर उसका प्रभाव विद्यमान रहता है।

अत एव रङ्गमञ्च की सफलता की दृष्टि से सभी विधियों का सम्पादन व सूची (वेध) चारी का प्रयोग करके तीनों (सूत्रधार, विदूषक, पारिपार्श्विक) रङ्गमञ्च से चले जाते है।[३] यहीं पर भारतीवृत्ति के आश्रय से युक्त पूर्वरङ्ग का शुद्ध भेद (त्रयस्र व चतुरस्र) समाप्त हो जाता है।[४] प्रायः पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों को प्रतिपादित करने में सूत्रधार की मुख्य भूमिका होती है।

अतः इन सभी पूर्वरङ्गीय अङ्गों की समाप्ति होने पर प्रस्तावना की योजना की जाती है।

सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना। (नाट्यशास्त्र ५/२९)

१ दशरूपक ३/६ पूर्वाद्ध

२ एषैव च नांदी माङ्गल्यनिरूपणे प्ररोचनेति निर्देक्ष्यते। (अभिनवभारती भाग-१, पृष्ठ- २४३)

३ प्रयुज्य रङ्गानिष्कामोत्सूत्रधारः सहानुगः। (नाट्यशास्त्र ५/१६१)

४ एमेष प्रयोक्तव्यःपूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः।
त्रयस्रश्च चतुरश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः।। (नाट्यशास्त्र ५/१४८)

प्रस्तावना या स्थापना- नाट्यप्रयोग मे पूर्वरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग प्रयोग पूर्ण हो जाने पर प्रस्तावना का क्रम आता है जो नाट्य का एक महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य अङ्ग है। नान्दी नाट्यप्रयोग का माङ्गलिक अनुष्ठान है किन्तु प्रस्तावना में प्रस्तावक या स्थापक नाट्य सृष्टि हेतु प्रधान अङ्गों का सङ्केतात्मक एवं प्रत्यक्ष परिचय प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। अतः प्रस्तावना कवि, काव्य, नाट्य प्रयोग और प्रयोक्ता के परिचय का प्रवेशद्वार है।

सामान्य रूप से प्रस्तावना के तीन नाम प्रचलित है- प्रस्तावना, आमुख, स्थापना। आचार्य भरत ने स्वयं ही इन तीनो को पर्याय माना है किन्तु अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इस नाम के विषय में पर्याप्त मतभेद व्याप्त है। यद्यपि नाटयशास्त्र में प्रस्तावना व स्थापना की भिन्न-भिन्न कार्य विधियों का विवरण नहीं है किन्तु गहन विश्लेषण के आधार पर यह कह सकते है कि स्थापना मे कविनाम कीर्तन व प्रस्तावना के अन्तर्गत काव्यवस्तु का उपक्षेपण होता है। नाट्यशास्त्र में प्रस्तावक के निष्क्रमण स्थापक के प्रवेश का उल्लेख किया गया है।[1] इसलिए विश्लेषण का आधार भी पूर्ण स्थिति स्पष्ट नहीं होती परन्तु यदि ये दोनो पर्याय रूप मे न भी स्वीकृत हो तो पूरक अवश्य ही माने जा सकते हैं। नाट्यशास्त्र में ही भारतीवृत्ति के विवेचन प्रसङ्ग में आमुख और प्रस्तावना का समानार्थक शब्द के रूप मे उल्लेख किया गया है।[2]

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि आमुखप्रस्तावना व स्थापना ये तीनो नान्दी के पश्चात् ही प्रयुक्त होते हैं जो पूर्व‌रङ्ग की तीन विधियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते अपितु कवि नाम गुण कीर्तन एवं कथावस्तु को ही प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तावना केप्रयोक्ताओं के विषय में भी आचार्य एकमत नहीं है। कुछ आचार्यों के अनुसार सूत्रधार ही प्रस्तावना का कार्य करता है और कुछ अन्य आचार्यो के

---

[1] स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणकृतिः।
प्रविश्य रङ्गतैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत् ॥ (नाट्यशास्त्र ५/१६३)

[2] नाट्यशास्त्र २० वां अध्याय

मतानुसार सूत्रधार की वेशभूषा आकृति के समान गुण वाला स्थापक प्रस्तावना का प्रयोक्ता होता हैं इन सभी विचारों के अनन्तर यह प्रश्न उठता है कि जब सूत्रधार पूर्वरङ्ग के अङ्गों को सम्पन्न करके रङ्गमंच से चला जाता है तो पुनः उसी का प्रवेश कैसे होगा क्योंकि नान्दीपाठ के बाद उसी का पुनः प्रवेश ठीक नहीं है। इसलिए सूत्रधार के समान ही एक दूसरा पात्र रङ्गमञ्च पर आता है इसे स्थापक (प्रस्तावक) कहा जाता है। आचार्य भरत ने भी सूत्रधार के रङ्गमंच से जाने के पश्चात् स्थापक के प्रवेशका निर्देश दिया है जो प्रस्तावना को सम्पादित करता है, किन्तु यह स्थापक सूत्रधार से भिन्न होता है इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। अतः स्थापक सूत्रधार के गुण आकृति के तुल्य, उसी के समान सौष्ठवांग से पुरस्कृत, वैष्णव स्थान एवं अर्थानुगामिनी ध्रुवा के मध्य लय में गान के समय रङ्गपीठ पर प्रवेश करता है।[१] इसके रङ्गमञ्च पर प्रवेश करते ही देव, ब्राह्मणादि की प्रशंसायुक्त वीर, शृङ्गार प्रधान श्लोक का पाठ होता है तदनन्तर स्थापक कवि नामगुण कीर्तन करके भारती वृत्ति की उद्घात्य या अवगलित आदि शैलियों में काव्योपक्षेपण करता है और रङ्गभूमि से बाहर चला जाता है।

प्रस्तावना के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त ने यह कहा कि यह दो प्रकार की होती है (क) सूत्रधार द्वारा की जाने वाली (ख) कवि के द्वारा की जाने वाली। पहली प्रस्तावना पूर्वरङ्ग का ही एक भाग है। इसमें कवि का कर्तृत्व नहीं रहता किन्तु दूसरी प्रस्तावना का प्रयोक्ता सूत्रधार न होकर स्थापक या कोई नट होता है। अभिनवगुप्त सूत्रधार व स्थापक को अभिन्न मानते हैं क्योंकि सूत्रधार ही पूर्वरङ्ग का विधान करके चला जाता है

---

१ नान्दीप्रयुज्य निष्क्रामत्सूत्रधारः सहानुगः।
स्थापकः प्रविशेत्पश्चात्सूत्रधारगुणाकृतिः।। (नाट्यशास्त्र ५/१६१)
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधार गुणाकृतिः।
स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्ग पुरस्कृतम् । (नाट्यशास्त्र ५/१६२)
प्रविश्यं रङ्ग तैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत् ।
स्थापकः प्रवेशेतु कर्तव्याऽर्थानुगा ध्रुवा।। (नाट्यशास्त्र ५/१६३)

पुनः स्थापक के रूप मे प्रवेश करता है। अतः पूर्वरङ्ग की अङ्गभूत प्रस्तावना तथा उसके पश्चात् अनुष्ठित होने वाली स्थापना के प्रयोक्ता दो भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं हैं।[१] 'नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट किया कि सूत्रधार ही पूर्वरङ्ग एवं आमुख दोनों का प्रयोग कर देता है अथवा सूत्रधार केवल पूर्वरङ्ग के अङ्गों का प्रयोग करता है और आमुख का प्रयोग उसका सहयोगी स्थापक करता है। अतः इस विषय में इनका विचार स्पष्ट नहीं है।[२]

इस विषय में साहित्यदर्पणकार[३] ने भी मान्य प्रयोक्ताओं के विषय में व्यवहारिक दृष्टिकोण से कहा कि इस समय पूर्वरङ्ग का भलीभाँति प्रयोग नहीं होता था, अतः एक ही सूत्रधार प्रस्तावना एवंपूर्वरङ्ग दोनो को सम्पादित करा देता था। इस प्रकार इनके मतानुसार पूर्वरङ्ग और प्रस्तावना का प्रयोक्ता सूत्रधार ही है।

'आचार्य धनञ्जय ने भी सूत्रधार[४] के समान स्वरूप वाले स्थापक के द्वारा नाटक कीप्रस्तावना का विधान किया है,[५] तथा प्रस्तावक के देवमनुष्यादि की भूमिकाओं के लिए निश्चित चेष्टाओं व, भंगिमाओ व वस्त्राभूषणों का भी प्रयोग अपेक्षित बताते हुए कहा कि यदि नाटक देवों से सम्बद्ध है तो दिव्य वेश, यदि मनुष्यों से सम्बद्ध है तो मर्त्यवेश एवं नाटक की कथावस्तु मिश्र है तो मिश्रवेश धारण करना चाहिए[६] अर्थात् प्रस्तावक को नाटक के अनुरूप ही स्वयं को प्रस्तुत करना चहिए जिससे सामाजिकों को नाटकीय कथावस्तु के अनुकूल मनोभाव ग्रहण करने में सहायता मिल सके। यह

---

[१] सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधारः पूर्वरङ्ग प्रयुज्य स्थापकः सत् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृता। (अभिनवभारती अभिनवगुप्त भाग- १ पृष्ठ- २४८)

[२] नाट्यदर्पण, पृष्ठ- १३६

[३] इदानी पूर्वरङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति। (साहित्यदर्पण ६/१२ पृष्ठ- २९७)

[४] नाटयोपकरणाकीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते। (साहित्यदर्पण पृष्ठ- १७४)

[५] पूर्वरङ्ग विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः। (दशरूपक ३/२)

[६] दशरूपक ३/२-३

स्थापक नाटक के विषयवस्तु की सूचना बीच में या पहले अङ्क में प्रस्तावना के बाद प्रवेश करने वाले पात्र की सूचना देता है तथा नान्दी के अतिरिक्त स्वयं भी प्रशस्तिवाचक या माङ्गलिक पद्यों का पाठ करके प्रेक्षकों को प्रसन्न करता है। यही स्थापक भारतीवृत्ति का आश्रय लेकर किसी वस्तु के वर्णन के साथ नाटक की भूमिका बाँधता है, यह ऋतु वर्णन कही होता है कहीं नहीं भी होता है।[१]

आचार्य भरत ने प्रस्तावना में अल्प पात्रों का समावेश किया है।[२] यह प्रस्तावना पात्रों के पारस्परिक कल्पित संभाषण के रूप मे इस प्रकार रखी जाती है कि उससे प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकीय कथा के पात्र घटना आदि सूचित हो सकें।

इस प्रकार नाटक के प्रयोक्ता के विषय में भिन्न-भिन्न मतों की सम्यक् दृष्टि से परीक्षा करने पर यह विदित होता है कि सूत्रधार व स्थापक दोनों अभिन्न है। इस तथ्य का एक आधार यह भी है कि अधिकांशनाटकों में लिखा रहता है - 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इसका तात्पर्य है कि नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश। यहाँ सूत्रधार से स्थापक का ही आशय सूचित होता है क्योंकि नान्दी पाठ के बाद सूत्रधार के समान गुण वाला स्थापक ही प्रस्तावना का कार्य करता है जो सूत्रधार ही है वही प्रस्तावना मे स्थापक का रूप प्राप्त कर लेता है। अतः सूत्रधार ही स्थापक का कार्य करता है। एक ही प्रयोक्ता पूर्वरङ्ग में 'सूत्रधार' व प्रस्तावना में 'स्थापक' कहा जाता है। अग्निपुराण भी इसी मत को स्वीकृत करता है। इस प्रकार प्रस्तावना की प्रस्तुति करके प्रस्तावक रङ्गभूमि से निकल जाता है।[३] यहीं वास्तविक नाट्य का अभिनय प्रारम्भ हो जाता है। नाट्य प्रयोग के समारम्भ की विविध शैलियों की दृष्टि से आमुख या

---

[१] रङ्ग प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः। रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ।
ऋतुं च कंचित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः। (साहित्यदर्पण ६/२८,पृष्ठ- १७७)

[२] नाट्यशास्त्र २०/३९, नाट्यशास्त्र २०/२८, २९

[३] प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत्काव्यप्रस्तावकस्ततः।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधिः॥ (नाट्यशास्त्र ५/१६९)

प्रस्तावना के पाँच प्रकार के भेद साहित्यदर्पणकार[१] एवं भरतमुनि[२] ने स्वीकार किये हैं। प्रस्तावना को सम्पादित करने वाले स्थापक के द्वारा काव्यार्थ की स्थापना के लिए जिस वृत्ति का आश्रय लिया जाता है उसे 'भारती वृत्ति'[३] कहते हैं। इस भारती वृत्ति के चार भेद साहित्यकारों एवं नाट्यकारों द्वारा माने गये हैं, जो निम्न हैं-

(क) प्ररोचना (ख) वीथी (ग) प्रहसन (घ) आमुख। पूर्वरङ्ग का कार्य करने के पश्चात् आने वाली प्ररोचना ही भारती वृत्ति का अङ्ग है जो प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं को उन्मुख करने के कारण प्ररोचना कही जाती है। भारती वृत्ति के द्वितीय भेद वीथी के साहित्यदर्पणकार ने तेरह अङ्ग माने हैं जो आमुख के भी अङ्ग होते है। नाट्यशास्त्र में वर्णित उद्घात्य व अवगलित वीथी के अङ्ग रूप में स्वीकृत हैं। अतएव दशरूपक में उद्घात्य व अवगलित को आमुख के अङ्ग रूप से पृथक नहीं कहा गया। इसप्रकार भारती वृत्ति के आमुख भेद को साहित्यदर्पणकार ने पाँच भागों मे विभक्त किया-

(क) उद्घात्य (ख) कथोद्घात (ग) प्रयोगातिशय (घ) प्रवर्तक (ङ) अवगलित।

उद्घात्य- जहाँ भावी काव्यार्थ का सूचन एवं अप्रतीत अर्थों की प्रतीति के लिए अन्य पदों की योजना होती है वहाँ 'उद्घात्य' भेद होता है।[४]

कथोद्घात- सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्यार्थ सूत्र के सहारे किसी पात्र का प्रवेश होने पर 'कथोद्घात' होता है।[५]

---

१ साहित्यदर्पण ६/३३

२ नाट्यशास्त्र २०/३३

३ भारती वृत्ति-नटों का वाचिक व्यापार भारती वृत्ति है तथा कायिक, मानसिक व्यापार न होने से शब्द वृत्ति है। स्त्री पात्रों का वाचिक व्यापार भारती वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता। 'भारती संस्कृत प्रायो बाग्व्यापारो नराश्रयः' (साहित्यदर्पण ६/२९, पृष्ठ- १७५) या वाक् प्रधाना पुरुषोपयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता। स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।। (भरतमुनि नाट्यशास्त्र)

४ पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः।
योजयन्ति पदैरन्यैः सह उद्घात्य (त) क उच्यते।। (साहित्यदर्पण ६/३४ पृष्ठ- १७६)

प्रयोगातिशय- एक ही प्रयोग के माध्यम से दूसरे प्रयोग का आरम्भ होने पर 'प्रयोगातिशय' होता है।[२]

प्रवर्तक- जहाँ ऋतु आदि के वर्णन के माध्यम से ही पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' नामक आमुख भेद होता है।[३]

अवगलित[४]- एक प्रयोग मे सादृश्यादि के द्वारा समावेश करके किसी पात्र की सूचना (अन्य का प्रयोग) की जाय वह अवगलित भेद है।

साहित्यदर्पण में कहा गया है कि प्रस्तावना या आमुख में अन्य वीथ्यङ्गों का भी यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए तथा इन पाँच भेदों मे से किसी एक भेद का वर्णन अवश्य करना चाहिए। अत एव सूत्रधार प्रस्तावना के द्वारा अर्थ व पात्र की सूचना देकर निकल जाय[५] तदनन्तर ही नाट्यवस्तु का प्रयोग करना चाहिए।

पूर्वरङ्ग के अङ्गों का देवों से सम्बन्ध- नाट्याभिनय के पूर्व सम्पादित किये जाने वाले पूर्वरङ्ग के अङ्गों से देवताओ की तुष्टि को स्वीकार करते हुए आचार्य भरत ने यह उल्लेख किया है कि देवताओं को पूर्वरङ्ग के जो अङ्ग प्रिय हैं उस अङ्ग के प्रयोग से नाट्य विघ्नों के दूर करने वाले देवता प्रसन्न होते हैं। इन अङ्गों में प्रथम प्रत्याहार के प्रयोग से राक्षसगण, अवतरण द्वारा अप्सरायें तथा आरम्भ नामक अङ्ग के विधिवत् प्रयोग से गन्धर्व प्रसन्न होते है। 'आश्रवणा के प्रयोग से दैत्य एवं वक्त्रपाणि

---

१ सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते। (साहित्य दर्पण ६/३५ पृष्ठ- १७६)

२ यदि प्रयोग एकस्मिन्प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा।। (साहित्यदर्पण ६/३६पृष्ठ- १७६)

३ कालं प्रवृत्तमाश्रित्यसूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् । (साहित्यदर्पण ६/३७ पृष्ठ- १७७)

४ यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते। प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः। (साहित्य दर्पण ६/३८)

५ पूर्वरङ्ग विधायैव सूत्रधारो निवर्तते। प्रविश्यस्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः। दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः। सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा। साहित्यदर्पण ६/२७)

से सदैव देवता तुष्ट होते हैं। उसी प्रकार परिघट्टना से राक्षसगण तथा संघोटना की क्रियाविधि से गुह्यक सन्तुष्ट होते है। तत्पश्चात् सम्पादित अङ्गों में मार्गासारित द्वारा यक्ष व निर्गीत और वर्हिगीत से असुर सन्तुष्ट होते है।[1]

वहिर्जवनिकासंस्थ अङ्गो में गीतक के प्रयोग से नित्य देव, वर्धमान के प्रयोग से अपने अनुचरो सहित शिव (रूद्र) तथा उत्थापन करने से ब्रह्मा तुष्ट होते हैं।[2]

इसी प्रकार परिवर्तन से लोकपाल एवं नान्दी के अधिष्ठातृ देवता चन्द्र हैं इसलिए नान्दी के अनुष्ठान से चन्द्र आनन्दित होते है।[3] चन्द्र रसेश्वर, रसाधार हैं तथा नाट्य का प्रतिपाद्य भी रस है यही रस नाट्य और आनन्द रूप भी है। इसप्रकार चन्द्रवन्दना के मूल में नाट्य रस के आनन्द की प्रतीति होती है। अतः चन्द्र की रसमयता व नाट्य की रसमयता का नान्दी द्वारा एक ही केन्द्र पर समन्वय होता है।

शारदातनय तथा सागरनन्दी ने भी नान्दी के साथ रसेश्वर चन्द्र के सम्बन्ध की परिकल्पना को आनन्द का प्रतीक स्वरूप प्रतिपादित किया है।[4] संगीतदामोदर[5] में भी

---

[1] आश्रवणायां युक्तायां दैत्यास्तुष्यन्ति नित्यशः।
वक्त्रपाणौ कृते चैव नित्यं तुष्यन्ति देवताः।। (नाट्यशास्त्र ५/४५)
परिघट्टनया तुष्टा युक्तायां राक्षसां गणः।
सङ्घोटनाक्रियायां च तुष्यन्त्यपि च गुह्यकाः।। (नाट्यशास्त्र ५/४६)
मार्गासारितमासाद्य तुष्टा यक्षा भवन्ति हि। (नाट्यशास्त्र ५/४७)

[2] गीतकेषु प्रयुक्तेषु देवास्तुष्यन्ति नित्यशः।
वर्धमाने प्रयुक्ते तु रूद्रस्तुष्यति सानुगः।। (नाट्यशास्त्र ५/४७)
तथा चोत्थापने युक्ते ब्रह्मा तुष्टो भवेदिह। (नाट्यशास्त्र ५/४८)

[3] तुष्यन्ति लोकपालाश्च प्रयुक्ते परिवर्तने।
नान्दीप्रयोगेऽथ कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः।। (नाट्यशास्त्र ५/४९)

[4] चन्द्रायत्ततया नाट्ये प्रवृत्ते रससम्पदाम् । (भावप्रकाश- पंक्ति- ९१, पृष्ठ- १९७)
किं फलं स्याद्र साधारत्वाच्चन्द्रमसस्तत्प्रीतिसुलभाः रससंपतयः इति।।
(नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- ४८)

[5] संगीतदामोदर पृष्ठ- ७२

नान्दी के वन्दनीय या स्मरणार्ह देवों में गङ्गा सोम तथा सुधानन्द के नाम हैं यहाँ सोम का आशय शिव व चन्द्रमा दोनों से माना गया है।

नान्दी के बाद आने वाली 'अवकृष्टा ध्रुवा के गान से नाग व शुष्कावकृष्टा के प्रयोग से पितृगण तथा रङ्गद्वार के प्रयोग से विष्णु, जर्जर के प्रयोग से विघ्नविनायक, चारी से उमादेवी और महाचारी नामक अङ्ग को विधिवत् करने से भूतगण प्रसन्न होते हैं।[१]

अत एव देवों की तुष्टि एवं निर्विघ्न समाप्ति के लिए आश्रवणा आदि विधियों का सम्यक् प्रयोग करना चाहिए। भरत ने भी सभी अङ्गों को निष्पादित करने का निर्देश देते हुए कहा कि इन अङ्गो से प्रसन्न होने वाले सभी देवताओं की पूजा अर्थात् सर्वदैवतपूजार्ह[२] मेरे द्वारा सम्पादित की गई, जो यश और दीर्घायु प्रदान करने वाली है इसलिए इन अङ्गों का नाट्य में विधान अति आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वरङ्ग के अङ्गों का अनेकानेक देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया गया।

पूर्वरङ्ग के भेद- मङ्गलविजय प्रदात्री आशीर्वचनात्मिका नान्दी एवं काव्यकवि नाट्यप्रयोग की भूमिका रूप प्रस्तावना ये दोनों ही पूर्वरङ्ग की महत्त्वपूर्ण विधियाँ है किन्तु इनके अतिरिक्त गीत-वाद्य-नृत्य की मधुरता का प्रारम्भ कराने वाली रङ्गद्वार, चारी एवं महाचारी आदि विधियाँ भी कम महत्त्वपूर्ण नही है इसलिए आचार्य भरत ने इन विशिष्टताओं के कारण पूर्वरङ्ग के चार भेदों की परिकल्पना की है जिनमें प्रथम ताल

---

१ युक्तायामवकृष्टायां प्रीता नागा भवन्तिहि।
तथा शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत् ।।(नाट्यशास्त्र ५/५०)
रङ्गद्वारे प्रयुक्ते तु विष्णुः प्रीतो भवेदिह।
जर्जरस्य प्रयोगे तु तुष्टा विघ्नविनायकाः।। ((नाट्यशास्त्र ५/५१)
तथा चार्या प्रयुक्तायामुमा तुष्टा भवेदिह।
महाचार्या प्रयुक्तायां तुष्टो भूतगणो भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र ५/५२)

२ सर्वदैवतपूजार्ह सर्वदैवतपूजनम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पूर्वरङ्ग प्रवर्तनम् ।। (नाट्यशास्त्र ५/५६)

लयाश्रित के दो भेद- (क) त्रयस्त व (ख) चतुस्त्र भेद हैं जो भारतीवृत्ति के आश्रित होने से शुद्धपूर्वरङ्ग कहे जाते हैं।[1] इसके त्रयस्त्र और चतुरस्त्र भेद अल्प विशेषताओं को छोड़कर समानगुण वाले ही है।

(क) ताललयाश्रित शुद्धपूर्वरङ्ग

(१) त्रयस्त- 'त्रयस्त्रपूर्वरङ्ग' में शम्या[2] द्विकला तथा ताल एक कला वाली पुनः शम्या एक कला[3] की और सन्निपात दो कला की होती है, इसी क्रम में कला ताल लय के साथ त्रयस्त्र पूर्वरङ्ग किया जाता है।[4] गति, प्रचार, ध्रुवा, ताल आदि का प्रयोग संक्षिप्त होता है तथा अङ्गों का अभिनय गीतवाद्यानुसार संक्षिप्त विस्तृत दोनों प्रकार का होता है। त्रयस्त्र पूर्वरङ्ग मे हाथ पैर के बारह पात होते हैं[5] अतः इसमें प्रयुक्त होने वाली उत्थापनी ध्रुवा में जगती छन्द के पाद में (द्वादशाक्षर पाद मे) प्रथम चार, आठ, दस अन्तिम वर्ण गुरु होते हैं तथा परिवर्त के गमन में त्रिपदी[6] का प्रयोग होता है।

(२) चतुरस्त्र पूर्वरङ्ग- त्रयस्त्र व चतुस्त्र (शुद्धपूर्वरङ्ग) भारतीवृत्ति पर आश्रित होने के कारण गीत, नृत्य की न्यूनता से युक्त एवं मुख्यतः हस्त प्रचार तथा गतिप्रचार पर ही आश्रित होते है इसलिए शुद्धपूर्वरङ्ग कहे जाते हैं। 'चतुरस्त्रपूर्वरङ्ग' में वाद्य, गतिप्रचार, ध्रुवा, ताल का प्रयोग त्रयस्त्र की अपेक्षा विस्तृत होता है तथा परिवर्त में

---

[1] त्रयस्त्रश्च चतुरश्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः। (नाट्यशास्त्र ५/१४८)

[2] शम्या दाहिने हाथ से ताली बजाना, इसमें दो कला का समय लगता है। यह सशब्दा क्रिया के अन्तर्गत मानी जाती है। अतः यह एक हाथ से होने वाली क्रिया है, इसका काल दो गुरू मात्रा या २० निमेष का होता है।

[3] कला- गुरु मात्रा के काल में होने वाली सशब्दा क्रिया है। भरत ने पाँच निमेष का काल लघु व दो लघु ताल एक गुरु ताल माना है।

[4] शम्या तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलात्रयम् ।। (नाट्यशास्त्र ५/६२)

[5] त्रयस्त्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः । (नाट्यशास्त्र ५/१४५)

[6] पूर्वरङ्ग में परिवर्त के अन्तर्गत तीनचरण चलना त्रिपदी है।

सोलह पात होते हैं[1] इसी प्रकार दिग्वन्दन के समय पंचपदी का प्रयोग होता है। इस पूर्वरङ्ग में महाचारी के प्रयोग के पश्चात् चतुस्राध्रुवा गायी जाती है।

आचार्य भरत ने समुद्रमंथन समवकार एवं त्रिपुरदाह डिम के प्रयोग के पूर्व इस शुद्धपूर्वरङ्ग का प्रथम प्रयोग किया था।[2] इस शुद्धपूर्वरङ्ग में संस्कृत भाषा की प्रधानता एवं प्राकृतभाषा की सम्भावना कम होती है। इस प्रकार सभी दृष्टि से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि त्रयस्र चतुस्र एवं शुद्धपूर्वरङ्ग ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं।

(ख) गीत वाद्याश्रित चित्रपूर्वरङ्ग- त्रयस्र व चतुस्र शुद्धपूर्वरङ्ग के अतिरिक्त एक अन्य चतुर्थ भेद का निरूपण आचार्य भरत ने किया इसें चित्रपूर्वरङ्ग की संज्ञा दी गई।[3] करण तथा अङ्गहारों से रहित पूर्वरङ्ग शुद्ध एवं करण तथा अङ्गहारों[4] के साथ इनका प्रयोग किया जाता है तो चित्रपूर्वरङ्ग होता है। इसमें गीत, नृत्य की विशिष्ट योजना होती है अर्थात् गायन, दुन्दुभिनाद, नर्तकियों द्वारा नृत्य रेचक आदि का बाहुल्य होता है इसलिए चित्रपूर्वरङ्ग गीतवाद्याश्रित कहा जाता है।[5]

इस चित्रपूर्वरङ्ग की नान्दी पदों के प्रयोग के क्रम में रङ्गमञ्च पर एक ओर शुभ्र पुष्पों की वर्षा होती रहती है और दूसरी ओर नर्तकियाँ ताल लयाश्रित गीत और नृत्य की मधुरता से दर्शकों को मुग्ध करती हैं। देवियाँ रङ्गमञ्च पर अपने अङ्गों को समलंकृत

---

१ हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः।
चतुरश्रे परिक्रान्ते पाताः स्यु षोडशैव तु।। (नाट्यशास्त्र ५/१४९)

२ पूर्वरङ्ग कृतः पूर्व तत्रायं द्विजसत्तमाः।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः।। (नाट्यशास्त्र ४/१५)

३ त्रयस्रं वा चतुस्रं वा शुद्ध चित्रमथापि वा। (नाट्यशास्त्र ५/१६०)

४ अङ्गहारः अङ्गह्रियते इतस्ततः चाल्यते यत्र स अङ्गहारः, अङ्गविक्षेपः, अङ्गानामुचिते देशे प्रापणं सविलासकम् । (नाट्यशास्त्र)

५ यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः। (नाट्यशास्त्र ५/१५३)

करके नृत्य की रसमयी मुद्राओं का प्रदर्शन करती हैं। इन्हीं गीत और नृत्य की विधियो के योग से यह शुद्धपूर्वरङ्ग ही चित्रपूर्वरङ्ग के रूप में परिणत होता है।

इस शुद्धपूर्वरङ्ग को चित्रपूर्वरङ्ग के रूप में परिणत करने के संदर्भ में आचार्य भरतमुनि ने ही स्वीकृति दी है क्योंकि भरत ने मूलतः शुद्धपूर्वरङ्ग की ही योजना की थी[1] किन्तु जब शिव ने शुद्धपूर्वरङ्ग का प्रयोग देखा तो उसमें अत्यधिक रसमयता सृजन के लिए नृत्त के प्रयोग का विधान किया। चित्रपूर्वरङ्ग के उद्भव सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि भरत ने मूलतः पूर्वरङ्ग में नृत्य की योजना नहीं की थी किन्तु शिव ताण्डव नृत्त के कारण यह वैचित्र्यकारक चित्रपूर्वरङ्ग रूप में माना गया। अतः वैचित्र्यता की उत्पत्ति के लिए ही इसमें ताण्डव व लास्य नृत्यो का प्रयोग होता है।[2] इस कारण करण व अङ्गहारों से विभूषित होने के कारण शुद्धपूर्वरङ्ग ही चित्रपूर्वरङ्ग के रूप में विख्यात हो गया। इन समस्त पूर्वरङ्ग के भेदों के पश्चात् भरत ने यह निर्देश दिया कि नाट्यप्रयोक्ताओं को पूर्वरङ्ग के इन समस्त भेदों में से किसी एक का ही प्रयोग नाट्य में करना चाहिए तथा त्रयस्त्र,चतुस्त्र, शुद्ध एवं चित्रपूर्वरङ्ग मे से किसी एक का प्रयोग करने के बाद सूत्रधार को अपने दोनों पारिपाश्विकों के साथ रङ्गमञ्च चले जाना चाहिए।

नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में चार भेदों के अतिरिक्त यह उल्लेख भी मिलता है कि शुद्ध व चित्रपूर्वरङ्ग के मिश्रण से मिश्रपूर्वरङ्ग नामक भेद तथा शुद्धपूर्वरङ्ग एवं चित्रपूर्वरङ्ग के वार्तिक, दक्षिण, चित्र ये तीन भेद करके पूर्वरङ्ग के छः भेद हों जाते हैं, किन्तु इसके चार भेद ही सर्वसम्मत मान्य हैं।

इन दोनों प्रकार की पूर्वरङ्ग विधियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि मुख्यतः प्रथम नौ विधियों का गीत-वाद्य एवं नृत्य प्रयोग से सम्बन्ध है तथा शेष दस में कुछ आशीर्वचनात्मक हैं, अन्य कवि प्रयोग, कथावस्तु एवं कविकीर्तन आदि से

---

१ यश्चापं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धं प्रयोजितः। (नाट्यशास्त्र ४/१५)

२ अभिनवभारती-भाग-१,पृष्ठ- ८७

सम्बन्धित हैं। अतः प्रयोग की दृष्टि से पूर्वरङ्ग विधि की उपयोगिता एवं अनिवार्यता अवर्णनीय है।

पूर्वरङ्ग में गीत, वाद्य, नृत्यादि का समावेश- पूर्वरङ्ग का प्रारम्भ गीत-वाद्य नृत्य के साथ होता है तथा प्रेक्षकों के आनन्द का स्रोत होने के कारण इसका प्रयोग अपेक्षित भी है। गीत को तौर्यत्रिक के तीन अङ्गों में एक माना गया एवं गीत, वाद्य, नृत्य से ही नाट्य बनता है। नाट्योत्पत्ति के चार तत्त्वों में गीत मुख्य है, जिसे ब्रह्म ने सामवेद से लिया। नाट्य मे गीतादि को अनिवार्य उपरंजक उसी प्रकार माना गया है जिस प्रकार रङ्ग चित्र के उपरंजक हैं। अत एव ये नाट्य के शोभाजनक ही नहीं अपितु अविभाज्य अङ्ग है किन्तु भरत ने यह निर्देश दिया "कि नाट्य में गीतादि का उतना ही प्रयोग होना चाहिए जितना अपेक्षित हो, अतिप्रसङ्ग हो जाने पर रस एवं भावों की स्पष्टता नहीं रह जाती जिससे शेष प्रयोग रागजनक नहीं रह जाता अपितु खेदजनक हो जाता है। इनका आवश्यकता से अधिक प्रयोग करने पर प्रेक्षक खिन्न हो जायेंगे तथा उनकी रूचि नहीं रहेगी। इनके सन्तुलित प्रयोग से ही प्रेक्षको मे नाट्य के प्रति अभिरूचि जागृत होती है।[१]

अत एव गीतादि का आवश्यकता से अधिक विस्तार हो जाने पर प्रयोक्ता थक जाते हैं व दर्शक ऊब जाते हैं। यदि पहले ही प्रयोक्ता थक जाय व दर्शक ऊब जाय तो रस एवं भावों में स्पष्टता नहीं आती, न ही दर्शक ठीक रूप से रसास्वादन कर सकता है और न ही अभिनेता ठीक प्रकार से अभिनय में समर्थ हो सकता है इसलिए पूर्वरङ्ग को चित्ररूप देते हुए सन्तुलित गीतवाद्यनृत्त का प्रयोग करना चाहिए इनके सम्यक् प्रयोग से ही प्रयोक्ता एवं दर्शक को रस एवं भावों का साक्षात्कारात्मक आनन्द प्राप्त

---

[१] कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र गीतनृत्तविधिप्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ये चप्रवृत्तेऽतिप्रसंङ्गात ।।(नाट्यशास्त्र ५/१५८)
खेदो भवेत्प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणां तथैव च। (नाट्यशास्त्र५/१६४)
खिन्नानां रसभावेषुस्पष्टता नोपजायते।।
ततः शेष प्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र ५/१६०)

होगा। वास्तव में साहित्य का प्रभाव तो विद्वज्जनों एवं सहृदयों तक सीमित है किन्तु सङ्गीत मे भावुकता साहित्य से भी बढ़कर है क्योंकि इसका प्रभाव पशुओं पर भी दिखाई देता है इसलिए संगीत की अनिवार्यता के साथ सन्तुलन भी परमावश्यक है।

पूर्वरङ्ग विधान के संदर्भ में यदि पूर्ववर्ती एवं परवती आचार्यों के ग्रन्थों का अवलोकन करे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वरङ्ग के प्रसङ्ग में परवर्ती आचार्य प्रायः एकमत हैं किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों का दृष्टिकोण इनसे भिन्न है, क्योंकि नृत्य का निरूपण करने वाले कुछ ग्रन्थों में पूर्वरङ्ग के नाम का उल्लेख एवं विवरण न प्राप्त होने पर भी नृत्तारम्भ में की जाने वाली जिस विधि का निरूपण किया गया वह पूर्वरङ्गस्थानीय है। अतः सभी आचार्यों ने पूर्वरङ्गविधान को विघ्नों के शमन, देवों की तुष्टि, प्राणियों की रक्षा व रङ्गभूमि की शुद्धि के लिए स्वीकृत किया।

पूर्वरङ्ग के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों के होने से आचार्य भरत निरूपित पूर्वरङ्ग का स्वरूप ही सर्वाधिक मान्य है। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि पूर्वरङ्ग के समस्त अङ्गों का विधिवत् प्रयोग होने पर नाट्य रागजनक ही होगा। अत एव द्वितीय अध्याय में पूर्वरङ्ग की विस्तृत चर्चा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वरङ्ग की परिकल्पना नितान्त मौलिक एवं विचारोत्तेजक तथा नाट्यप्रयोग को समृद्धरूप में प्रस्तुत करने की अत्यधिक भावपूर्ण मनोहर रङ्गभूमि है। इस प्रकार पूर्वरङ्गविधि नाट्य का अपरिहार्य अङ्ग है।

तृतीय अध्याय

संस्कृत रूपकों व उपरूपकों का स्वरूप एवं रङ्गमञ्च विधान

रूपकों का स्वरूप- संस्कृत नाट्यधारा विशाल एवं प्राचीन है, तथा यह विविध शाखाओं प्रशाखाओं से संयुक्त है। इसमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रो का चित्रण किया गया है तथा उस [illegible] चित्रण को प्रस्तुत करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का भी उल्लेख नाट्यास्त्रकारों ने किया है।

नाट्यशास्त्र भरतमुनि ने दशरूपकों का निस्सरण वृत्तियों से माना है और वृत्तियों को ही (नाट्यमातरः) काव्यमातृत्व या नाट्यमातृत्व का पद प्रदान किया। वृत्ति भेद के अनुसार ही रूपकों को पूर्णवृत्याङ्ग और वृतिन्यून वर्ग में रखा गया है। इनके अनुसार जिस प्रकार जाति और श्रुति के साधन से स्वर ग्रामरूपता को धारण कर लेते हैं उसी प्रकार वृत्तियों के भेद से काव्यबन्ध अपनी सत्ता को प्राप्त करते है। समस्त नाट्यसाहित्यको दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है- प्रथम वे रूपक हैं जिनमें सम्पूर्ण संविधानक की योजना होती है और नाट्यशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट सभी तत्त्वों का समावेश होता है ये रूपक प्रधान रूपक कहलाते हैं। दूसरे वे रूपक जिनमे एक देश का ही अनुकरण किया जाता है इन द्वितीय प्रकार के रूपकों को 'अप्रधान रूपक' कहा जाता है। प्रधान रूपकों मे नाटक व प्रकरण हैं तथा अप्रधान में आठ रूपक हैं- भाण, प्रहसन डिम, व्यायोग समवकार वीथी, अङ्क।ईहामृग।

अप्रधान रूपकों को उपरूपकों की संज्ञा दी गई है। नाट्य पर आधारित दृश्य काव्य रूपक कहलाता है और नृत्य पर आश्रित उपरूपक। सभी आचार्यों के मतानुसार उपरूपकों की संख्या मे भी वैमत्य है। प्राचीन घटनायें जब नाट्याभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं तब उनका स्वरूप भिन्न होता है। इस स्वरूपगत भेदों का अध्ययन कर आचार्यो ने नाट्यभेदों का विश्लेषण किया। भारतीय नाट्य परम्परा में प्रधान व गौण रूपक के

भेद-प्रभेदों का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। रूपकों तथा उपरूपकों के सूक्ष्म मौलिक भेद का विश्लेषण अतीव दुरूह है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक के दस भेद हैं- नाटक, प्रकरण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क, भाण, ईहामृग।[१] इनमें से अङ्क को आचार्य भरत ने उत्सृष्टिकाङ्क भी कहा है।[२] भरत ने इन दस भेदों के अतिरिक्त नाटक व प्रकरण के संयोग से एक नाटिका या नाटी भेद भी माना है।[३]

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने रूपकों के दो प्रकार कहें हैं- (क) शुद्ध (ख) संकीर्ण। वस्तु, नेता, रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले रूपक शुद्ध भेद से दस ही हैं 'दशधैव रसाश्रयम्'।[४] इस दशधैवरसाश्रयम् की व्याख्या करते हुए धनिक ने 'रसानाश्रित्यवर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धभिप्रायेण। नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् कहा है।[५] इनके अनुसार नाटिका का समावेश सङ्कीर्ण रूपक भेद में होना चाहिए।

इस प्रकार धनञ्जय ने रूपक के दस भेदों को स्वीकृत किया है-

'नाटक सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।

व्यायोगसमवकारौ वीच्यङ्केहामृगा इति।।'[६]

धनञ्जय ने दशरूपक के प्रथमप्रकाश के उपसंहार में रूपक को 'नेतृ-रसानुगुण्या कथा' कहा है। धनञ्जय की भांति सागरनन्दी,[१] शारदातनय,[२] विश्वनाथ[३] ने रूपक के भेद

---

१ नाट्यशास्त्र २०/२-३

२ नाट्यशास्त्र २०/८

३ नाट्यशास्त्र २०/६२-६४

४ दशधैव रसाश्रयम् - दशरूपक १/७

५ दशरूपक पृष्ठ- -४

६ दशरूपक प्रथम प्रकाश-८

निरूपण मे भरत का ही अनुगमन किया है। इसप्रकार रूपक के दस भेदों को प्रायः सभी आचार्यो ने स्वीकृत किया है, किन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा प्रस्तुत रूपक भेद इन आचार्यो के साथ साम्य नहीं रखता, इन्होने रूपक के बारह भेद किये है- नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, वीथी, भाण, प्रहसन अङ्क, ईहामृग, डिम इनकी परिगणना की है।[४]

नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाटक तथा प्रकरण के समान नाटिका तथा प्रकरणिका में चारों भारती आदि वृत्तियाँ होती हैं और अन्य आठ रूपक कैशिकी वृत्ति से रहित होते हैं।

काव्यानुशासन के प्रणयिता हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम काव्य को दृश्य एवं श्रव्य दो भागों में विभक्त करके दृश्य को पाठ्य और गेय में विभक्त किया। इस प्रकार नाटक, प्रकरण, नाटिका समवकार ईहामृग, डिम, व्यायोग वीथी, सट्टक, प्रहसन, भाण, उत्सृष्टिकाङ्क ये बारह भेद पाठ्य के कहे हैं। स्पष्ट है कि भरतमुनि के दसरूपकों में नाटिका और सट्टक को मिलाकर हेमचन्द्र ने बारह रूपक भेद गिनाये हैं।

'पाठ्यं नाटकप्रकरण नाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकाङ्क प्रहसन भाग वीथी सट्टकादि।'[५] गेय में ग्यारह प्रकार के उपरूपक को स्वीकार किया है तथा पाठ्य को वाक्यार्थाभिनय एवं गेय को पदार्थाभिनय माना है। इन्होंने रूपक व उपरूपक का

---

१ अभिनेयं नाटकं प्रकरणंप्रहसनम् , अङ्क: व्यायोगः, भाणः समवकारः वीथी डिमः ईहामृगश्चेति दशैतानि रूपकाणि (नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ-२

२ भावप्रकाश ७

३ नाटकमथ प्रकरणं भावव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।
(साहित्यदर्पण षष्ट परिच्छेद पृष्ठ- १७०

४ नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यर्थ।
व्यायोगः समवकारो भाणःप्रहसनं डिमः।।
(नाट्यदर्पण-सूत्र ३ दिल्ली १९६१ संस्करण)।

५ काव्यानुशासन हेमचन्द्र ८/३

भेद नहीं किया है। रूपक शब्द का प्रयोग आचार्य धनञ्जय से पूर्व भी आचार्यों ने किया है किन्तु रूपकों के दस भेदों को रूपक नाम से अभिहित करने का श्रेय सर्वप्रथम धनञ्जय को ही जाता है।

आचार्य धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ का नाम दशरूपक रखा है, इससे यह स्पष्ट होता है कि रूपक मूलरूप से दस ही हैं। कुछ आचार्यो के अनुसार डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य में से भाण को जिस प्रकार नाट्य के दस भेदों में गिना जाता है उसी प्रकार डोम्बी आदि छः को भी रूपक के भेदों में गिनना ठीक है।

इसप्रकार पूर्वपक्ष के अनुसार रूपक के दस ही भेद हैं यह अनुचित है क्योंकि उपर्युक्त कारण द्वारा और भी रूपक भेदों की उपलब्धि होती है किन्तु पूर्वपक्ष नाट्य व नृत्य के लक्षण से स्वयं ही निरस्त हो जाता है क्योंकि दोनों के आश्रय रस और भाव क्रमशः पृथक्-पृथक् होते हैं। ये डोम्बी आदि नृत्य के सात भेद हैं। रूपक व उपरूपक की गणना मे यदि कुछ मतभेद मिलता है तो उसका एक मात्र कारण नाट्य व नृत्य के सूक्ष्म पार्थक्य की ओर ध्यान न देना है। नाट्य व नृत्य के सूक्ष्म पार्थक्य की अवहेलना के फलस्वरूप अग्निपुराण में नाटक व प्रकरण के सत्ताईस भेदो की गणना की गई है।[१] उपरूपकों का भेद नहीं माना गया है।

नृत्यरूपकों का व्यवस्थित नामोल्लेख सर्वप्रथम धनञ्जय ने किया। रूपक के दस भेद रसाश्रित और सात भेद भावाश्रित है अर्थात् डोम्बी आदि भावाश्रित है इन्हें धनञ्जय ने रूपक कहा उपरूपक नहीं। धनञ्जय के परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने भी आठ नृत्य रूपकों का उल्लेख किया है।

भरत और धनञ्जय ने उपरूपक में केवल नाटिका को बताया है। जो ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में भरतव्याख्यायित दशरूपकों के अन्तर्गत नहीं आ रहे थे उन ग्रन्थों को

---

१ अग्निपुराण १७५/१-८

आचार्यों ने उपरूपक की मान्यता दे दी। विप्रदास व कुम्भ ने नाटिका, तोटक, सट्टक, को (नाट्य-नृत्य को) रसाश्रित और डोम्बी, भाणी हल्लीसादि को भावाश्रित कहा है यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

काव्य के तीन भेदों की भाँति नाट्य के भी तीन भेद माने जा सकते हैं- रसात्मक, भावात्मक, शोभात्मक। धनञ्जय ने भाव व रस की अलग-अलग सत्ता स्वीकृत की है किन्तु कोहल, अभिनव, हेमचन्द्र रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय ने रसाश्रित एवं भावाश्रित सभी को रूपक कहा है। यह मत भरतानुसारी है।

इस प्रकार पाठ्य एवं गेय, शुद्ध एवं सङ्कीर्ण तथा रस प्रधान और अप्रधान रस, नृत्य व नाट्य इन नामों की अपेक्षा रूपक व उपरूपक शब्द ही अधिक सार्थक है। अतः दृश्यकाव्य की प्रणालियाँ रूपक व उपरूपक के भेदो के नाम से प्रख्यात हैं।

रूपकों के भेदक तत्त्व 'वस्तु नेतारसस्तेषां भेदकाः' के आधारपर रूपकों की सृष्टि की गई है।[१] इन रूपकों का उद्देश्य प्रेक्षकों के अन्तःकरण में स्थित स्थाई भाव को रसस्थिति तक पहुँचा देना है तथा उपरूपकों का प्रयोजन उपयुक्त भाव-भंगिमा के द्वारा प्रेक्षको के सम्मुख किसी भाव विशेष कोप्रदर्शित करना है।

मुख्यरूप से संस्कृत में रूपक दो प्रकार के विकसित हुए।प्रथम प्रकार तो मानवविकास की पूर्णता को आदर्श मानकर चला और मानवता का उदात्त रूप सम्मुख आया वह नाटक कहलाया तथा दूसरा समाज के यथार्थरूप को दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करता हुआ विकसित हुआ अर्थात् समाज का वास्तविक रूप झलकने लगा वह प्रकरण कहलाया।

अग्नि पुराण में प्रकीर्ण नामक काव्य में प्रकीर्ण के भेद श्रव्य एवं अभिनेय में अभिनेय प्रकीर्ण को नाटक कहा गया है। इस प्रकार रूपकों की संख्या के विषय में आचार्यो के वैमत्य होने पर भी मुख्य रूप से दस ही प्रकार के रूपक स्वीकृत किये

---

१ दशरूपक १/११

गये। इन दस रूपकों में भी नाटक को प्रथम व मुख्य स्थान प्राप्त है इसी कारण रूपकों को नाटक कहा जाता है। नाट्यतत्त्वों (वस्तुनेतारस) के आधार पर निरूपित दस भेदों में नाटक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान भेद है।

भरतमुनि के मतानुसार प्रयोक्ता नाटक व प्रकरण के बन्धयोग से रूपक का अन्य प्रकार बना सकते हैं।[1] इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि नाटक व प्रकरण न केवल सारे रूपकों में प्रधान है बल्कि इन्हीं से सारे रूपकों का प्रसार होता है और इन लक्षणों को मिलाने पर सभी रूपकों का दर्शन हो जाता है-

'तत्र प्रधानभूतयोः सर्वरूपकप्रसरणकारिणोः नाटकप्रकरणयोर्लक्षणसाङ्कर्ये दर्शिते सर्वरूपकाणां दर्शनं भवति'।[2]

आचार्य भरत एवं अभिनवगुप्त के मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक व प्रकरण जैसे पूर्णाकार रूपक प्रकारों में सभी रूपक प्रकार एवं उपरूपक प्रकार समाहित रहते है। रसार्णवसुधाकरके रचयिता शिङ्गभूपाल के मतानुसार नाटक प्रकृति है, अन्य रूपकभेद उसकी विकृतियाँ हैं।[3]

संस्कृत-साहित्य के मूर्धन्य आचार्यों के मतानुसार रूपक के भेदों का विवेचन करने के अनन्तर रूपकों के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन आवश्यक है। इस प्रसंग में दस रूपक भेदों में प्रमुख नाटक के स्वरूप का विचार सर्वप्रथम करणीय है।

१. नाटक- नाटक रूपक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान भेद है। नाटक का विस्तृत एवं सर्वव्यापी स्वरूप तथा कथ्य के दृश्य बनकर मूर्त हो सकने की आंतरिक क्षमता ही इसके प्राधान्य का कारण है। सागरनन्दी नेभी नाटक-

---

१ नाट्यशास्त्र १८/५८

२ अभिनवभारती भाग-२, पृष्ठ- ४३४

३ आहुः प्रकरणादीनां नाटकं प्रकृतिं बुधाः। (रसार्णवसुधाकर ३/१२९-१३०)

लक्षणरत्नकोश[1] में इसकी प्रधानता स्पष्ट की है। नाटक में जीवन और जगत् के समस्त भावों, समस्तरसों एवं सम्पूर्ण कार्यो तथा नानावस्थाओं का समाहार हो जाता है।

भरतमुनि[2] ने नाटक की कथावस्तु के विषय में अपना मत स्पष्ट किया है कि देवता, राजा, मनुष्य, महात्माओ के पूर्णवृत्त की अनुकृति को नाटक कहते है। भरत के मत से नाटक की वस्तु तथा नायक दोनों प्रख्यात होते हैं। परवर्ती सभी आचार्य भरत के मत से सहमत हैं।

नाटक के रस के विषय मे भी समस्त आचार्य एकमत हैं कि नाटक में वीर या श्रृंगार की अङ्गी रस के रूप में तथा अन्य रसो की अङ्गरूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। दशरूपककार ने रस का परिपाक नाटक में पूर्ण तथा अनेक रूप से निर्दिष्ट किया है- 'भूयो रस परिग्रहात् । नाट्यशास्त्रकार[3] शारदातनय[4] साहित्यदर्पणकार[5] ने वीर तथा श्रृंगार रस की महत्त नाटक में स्वीकार की है। धनञ्जय[6] ने भी स्पष्ट शब्दों मे कहा कि नाटक में अङ्गीरस एक ही होना चाहिए श्रृंगार या वीररस।

नाटक में वस्तु विन्यास कार्यावस्थाओ, अर्थप्रकृतियों तथा सन्धियों के अनुरूप किया जाना चाहिए। कथा के मध्य विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकों का भी नियोजन किया जाना चाहिए। नाटक में रङ्गमञ्च पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित है- प्रमुख वर्जित दृश्य दूर का मार्ग, राज्य तथा देशविप्लव,भोजन स्नान, सुरत, अनुलेपन,

---

१ तत्र रूपकेषु उत्कृष्टत्वाद् बहुगुणाकीर्णत्वाच्च सर्ववृत्ति।
विनिष्पन्नस्य नाटकस्यैव स्वरूपनिरूपणमभिधीयते।।
(नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ- ३)

२ देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् (नाट्यशास्त्र)

३ नानारसभावाचेष्टितम् बहुधा (नाट्यशास्त्र २०/१२)

४ वीरश्रृंङ्गारयोरन्यतरङ्गिरसनिर्भरम् (भावप्रकाश ८/११०)

५ एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा (साहित्यदर्पण ६/१०)

६ एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः श्रृगारः एव वा (दशरूपक ३/३३)

वस्त्रग्रहण, आदि माने गये हैं। अधिकारी नायक का वध तो रङ्गमंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखलाना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो देवकर्म अथवा पितृकार्य आदि वर्जित दृश्य दिखाये जा सकते हैं।

धनञ्जय का मत है कि एक अङ्क में एक ही दिन के प्रयोजन से किये गये कार्यो का वर्णन होना चाहिए। प्रत्येक अङ्क का नायक से सम्बन्धित होना आवश्यक है। नायक के अतिरिक्त एक अङ्क में दो या तीन पात्र और भी हो सकते हैं किन्तु इन पात्रों को अङ्क के अन्त में निकल जाना चाहिए।[१] अङ्क में पताकास्थानकों का भी समावेश करना चाहिए। नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में भी नाटक के स्वरूप का विवेचन इसी प्रकार किया गया है। यहाँ उन ग्रन्थों में दी गई नाटक सम्बन्धी उन विशेषताओं का सङ्केत किया जा रहा है जो दशरूपक में वर्णित विशेषताओं से भिन्न हैं। भरत ने नाटक में दिव्य चरित को केवल आश्रय के रूप मे स्वीकार किया है नायक के रूप में नही-

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

राजर्षिवश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ।।[२]

अभिनवगुप्त ने दिव्याश्रयोपेत की व्याख्या इस प्रकार की है- दिव्य चरित को नाटक में नायक नहीं बनाना चाहिए क्योकि देवों मे वरदान देने की शक्ति तथा मन्त्र आदि के प्रभाव के कारण उनका चरित्र मनुष्यों के उपायों का उपदेश नही दे सकता।

नायक के आश्रय व सहायक के रूप में उसकी योजना की जा सकती है। देवचरित में दुःख का अभाव रहता है। इसप्रकार अभिनव ने नाटक में दिव्य चरित्र वाले नायक का निषेध किया है परन्तु नाटक में नायिका दिव्य हो सकती है।[३] अभिनव के अनुसार दिव्य नायिका का चरित्र नायक के चरित्र से आक्षिप्त हो जाता है।

---

[१] एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्र प्रवेशमङ्कं कुर्यात् , तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्य।। (दशरूपक, पृष्ठ-२३६)

[२] नाट्यशास्त्र २०/१०

[३] नाट्यशास्त्र २०/१०

नाट्यदर्पणकार[१] भी भरत के मत का अनुसरण करते हुए नाटक में दिव्य नायक का निषेध करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र दिव्य नायक को पताका प्रकरी के नायक के रूप मे मान्यता देते है। इनके मतानुसार नाटक का उद्देश्य यह होता है कि राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं। देवों की समस्त कामनायें इच्छा मात्र से ही पूर्ण हो जाती है। मनुष्य देवों के ऐसे चरित्र का आचरण नहीं कर सकता। अतः वे उसके लिए उपदेशप्रद नहीं होते हैं। अत एव नाटक कानायक दिव्य नहीं होना चाहिए। नायिका के प्रसंग में रामचन्द्र-गुणचन्द्र[२] अभिनव का अनुगमन करते हैं अर्थात् नायिका दिव्य हो सकती है।

दशरूपककार ने भरत तथा नाट्यदर्पणकार के विपरीत नाटक में प्रख्यात वंशीयतथा दिव्य दोनोप्रकार के नायक स्वीकार किये।[३] विश्वनाथ ने नाटक में तीन प्रकार के नायकों की कल्पना की प्रख्यातवंशोत्पन्न राजर्षि, दिव्य तथा दिव्यादिव्य।[४] दुष्यन्त राजर्षि नायक हैं दिव्य कृष्ण तथा राम दिव्यादिव्य नायक हैं।[५]

नायक की दृष्टि से नाट्यदर्पणकार का यह कथन भी विचारणीय है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है चाहे वह नृपेतर ही क्यों न हो।[६]

शारदातनय के अनुसार नाटक के दिव्य, मर्त्य आदि विख्यात धीरोदात्त नायक होते हैं।[७]

---

१ नाट्यदर्पण पृष्ठ- २०

२ नाट्यदर्पण पृष्ठ- २०

३ प्रख्यातवंशो राजर्षिदिव्यो वा यत्र नायकः (३/३३ दशरूपक)

४ प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्त प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायकोमतः। (साहित्यदर्पण ६ परि. ९)

५ साहित्यदर्पण पृष्ठ- २०

६ नाट्यदर्पण पृष्ठ- २०

७ भावप्रकाश ८/१४०

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने नाटक को निरूपित करते हुए कहा है कि नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के एश्वर्यो का वर्णन तथा इसमें मानव जीवन के सुखदुःख की उत्पत्ति का प्रदर्शन होना चाहिए। नाटक में पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिए।[१] नाटक के सम्बन्ध में विश्वनाथ की एक बात उल्लेखनीय है कि नाटक में अङ्कों का क्रमविन्यास गोपुच्छशैली पर होना चाहिए।[२] इसका तात्पर्य है किनाटक मे क्रम से उत्तरोत्तर अङ्कों को छोटा बनाना चाहिए। यही मत भरतानुमत है।[३]

शारदातनय ने भावप्रकाश में उल्लेख किया है कि सुबन्धु ने नाटक को पाँच वर्गो में विभक्त किया है- पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित, समग्र। पूर्णनामक प्रकार का वर्णन करते हुए कहा है कि इसमें पाँचों सन्धियों की योजना की जाती है।[४]

अत एव नाटक लक्षण प्रसंग में भरत का मत सर्वाधिक प्रसिद्ध है कि नाटक रूपक की वह विधा है जो पाँच सन्धियो, चार वृत्तियों, चौसठ अङ्गों छत्तीस लक्षणों सहित नाट्यालंकारो से शोभित अत्यन्त सरस, उत्कृष्ट भावों से समन्वित, चमत्कारिक रचना से युक्त, महापुरुषों के सत्कार से सम्पन्न, प्रयोगो में रमणीय, सुख आश्रय व मृदुल शब्दों से युक्त हो वही नाटक है।

प्रकरण- संस्कृत साहित्य के दशरूपक भेदो मे प्रकरण का नाटक के पश्चात् मुख्य स्थान है। प्रकरण की व्याख्या है - प्रकर्षण क्रियते कल्पते नेता फलवस्तु वा व्यस्त समस्तता त्रेति प्रकरणम् ।[५] प्रकरण का रचना विधान नाटक के अनुरूप ही होता

---

[१] सुखदुःखसमुदभूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तजाङ्काःपरिकीर्तिताः।। (साहित्यदर्पण ६/८)

[२] गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।। (साहित्यदर्पण ६/१०)

[३] कार्यगोपुच्छाग्रं कर्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य (नाट्यशास्त्र २०/४६)

[४] भावप्रकाश ८/११७ मे उल्लिखित

[५] संस्कृत नाट्यशिल्प और रंगमंच- रामचन्द्र सरोज।

है। भरतमुनि[1] ने नाट्यशास्त्र में प्रकरण के संदर्भ में निर्दिष्ट किया है कि प्रकरण की कथावस्तु में कल्पित कथा को नाटक के कलेवर में आवृत्त करके प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस विषय में दशरूपककार[2] व साहित्यदर्पणकार[3] भी इतिवृत्त को कविकल्पित तथा कथा को लौकिक मानते है। धनञ्जय ने इसे 'लोकस्तर' का भी कहा है। भावप्रकाशकार[4] ने भी इसका समर्थन किया तथा सागरनन्दी[5] ने भी कथावस्तु को कल्पित बताया है।

साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें प्रधान रस शृंगार होता है।[6]

प्रकरण का नायक आमात्य, विप्र, वैश्य में से एक होना चाहिए यह मत साहित्यदर्पण[7] एवं दशरूपक[8] दोनों का ही है तथा नायक धीर प्रशान्त एवं विघ्नों से पूर्ण, धर्म, काम और अर्थ में तत्पर होना चाहिए।[9]

नायक के विषय में नाट्यदर्पणकार[10] का मत भरत एवं धनञ्जय से मिलता है अन्तर केवल इतना है कि नाट्यदर्पणकार ने प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त ही नहीं धीरोदात्त भी माना है तथा प्रकरण में सेनापति व आमात्य धीरोदात्त नायक होते हैं। नाट्यशास्त्र में[11] उदात्त एवं दिव्य चरित नायक का निषेध किया गया है।

---

1. यत्र कबिरात्मशक्त्या वस्तुशर्रीरञ्च नायकञ्चैव। नाट्यशास्त्र २०/४९
2. अथप्रकरणेवृत्तमुप्पाद्य लोकसंश्रयम् (दशरूपक ३ प्रकाश ६९)
3. भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् (साहित्यदर्पण ६/२२४ पृष्ठ- २१४)
4. इतिवृत्तमथोत्पाद्यमत्र प्रकरणे मतम् (भावप्रकाश ८/१४०)
5. कविना वस्तु शरीरं नायकश्चोत्पाद्यते (सागरन्दी पृष्ठ- २६३)
6. शृंगारोऽङ्गी (साहित्यदर्पण ६/२२४ पृष्ठ- २१४)
7. नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिकः (साहित्यदर्पण ६ परिच्छेद)
8. आमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् (दशरूपक ३/६९)
9. सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः (साहित्यदर्पण ६/२२५ पृष्ठ- २१४)
10. नाट्यदर्पण २/११७ वृत्ति।
11. नोदात्तानायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम् । नाट्यशास्त्र २०/५३

नायिका के संदर्भ में धनञ्जय[1] व विश्वनाथ[2] एकमत है इसमे तीनों प्रकार की नायिकाये हो सकती हैं, कही कुलीन नारी, कहीं वेश्या व कहीं दोनों हो सकती हैं।

प्रकरणभेद के संदर्भ में दशरूपककार ने तीन प्रकार का प्रकरण भेद, नायिका भेद से किया है तथा अभिनवगुप्त ने इक्कीस प्रकार का प्रकरण माना है।

प्रकरण पात्र बहुल रूपक है। नाट्यशास्त्र के अनुसार पात्र बहुलता पर इसमें दास, विट, वेश्यादि पात्रों का निवेश रहता है।[3] नाटकलक्षणरत्नकोश[4] में भी विविध पात्र बहुलता है।

साहित्यदर्पणकार ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि 'बिना विशेषं सर्वेषां लक्ष्य नाटकवन्मतम्' अर्थात् प्रकरण में अनुक्त बातें नाटक के समान माननी चाहिए। दशरूपककार धनञ्जय ने प्रकरण के उदाहरण रूप में 'मृच्छकटिकम् ' को माना है।

भाण- भण् (कहना) धातु से भाण शब्द बना है। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी भाण शब्द इसी अर्थ में आया है- "यावन् संवत्सरस्तमतोवनः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिण्याददात् स भाणं करोत सैव वागभवत्।"[5] एक पात्र द्वारा प्रस्तोतव्य होने के कारण भाण रूपक को माकंड ने संस्कृत नाट्य के उद्भव की प्रक्रिया में सर्वप्राचीन माना है।[6]

नाट्यदर्पण के अनुसार 'भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः' यह लक्षण दिया गया है। भाण एकालाप है तथा यह लोक धर्मी होता है।

---

१ नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्रीगणिकातया।
क्वचिदेकैव कुलना वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।। दशरूपक ३/४१)

२ नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि,द्वयं क्वचित् । (साहित्यदर्पण ६/२२६)

३ दासविट .... प्रकरणेतु (नाट्यशास्त्र २०/५४)

४ श्रेष्ठितापसविटादिजभूषितश्च (नाटकलक्षण पृष्ठ- २६४)

५ वृहदारण्यकोपनिषद १.२.४

६ टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा माकंड, पृष्ठ-१६४

भाण की कथावस्तु के विषय मे प्रायः साहित्यदर्पणकार, दशरूपककार एकमत हैं इन्होंने कथा को कल्पित माना है तथा नाट्यदर्पण में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।

आचार्य धनञ्जय का मत है कि भाण वह रूपक है जिसमे कुशल एवं बुद्धिमान विट अपने द्वारा अनुभूत या किसी अन्य द्वारा अनुभूत धूर्त चरित का वर्णन करता है तथा सम्बोधन व उक्ति-प्रत्युक्ति आकाशभाषित के द्वारा होती है।[१]

भाण का नायक धूर्त चरित हो यह बात सभी आचार्यो को स्वीकृत है। नाट्यदर्पणकार[२] ने भी यही स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र[३] में भाण का नायक कुशल, बुद्धिमान, विट, एकाकला पारंगत कहा गया है, इसी का समर्थन साहित्यदर्पण[४] और काव्यानुशासन[५] में भी किया गया है।

आचार्य विश्वनाथ एवं धनञ्जय[६] के अनुसार सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन से वीर एवं शृंगार रस का सूचन किया जाता है। भरत और धनञ्जय भाण मे हास्य रस की चर्चा नहीं करते। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में भाण को प्रहसन माना है और उसमें करूण, हास्य अद्भुत रस को स्वीकार किया तथा शृंगार रस का उल्लेख नहीं किया है।

---

१ भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः।।
सम्बोधनोक्ति प्रत्युक्ति कुर्यादाकाशभाषितैः ।।(दशरूपक ३/४९)

२ नाट्यदर्पण २/८२

३ नाट्यशास्त्र २० अध्याय १११

४ साहित्यदर्पण ६/२२८

५ काव्यानुशासन ६/३, पृष्ठ- ४४३

६ सूचयेद्वीर श्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवै । (दशरूपक ३/५०)

धनञ्जय[1] एवं विश्वनाथ दोनों ने प्रायः भाण में भारतीवृत्ति की बात कही है किन्तु विश्वनाथ ने कहीं-कहीं कौशिकी वृत्ति को भी स्वीकार किया है। नाट्यदर्पण[2] में भी भारती वृत्ति की प्रधानता स्वीकृत की गई एवं शारदातनय[3] भी इस मत से सहमत हैं।

नाट्यशास्त्र[4] में भाण एक अङ्क का कहा गया है। इसका समर्थन भावप्रकाशकार[5] साहित्यदर्पणकार[6], दशरूपककार[7], नाट्यदर्पणकार[8] एवं नाटकलक्षणरत्नकोशकार[9] ने किया है।

आचार्य भरत, विश्वनाथ, धनञ्जय, तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं शारदातनय सभी ने भाण में मुख तथा निर्वहण सन्धियो को स्वीकार किया है, जो अपने अङ्गों से युक्त होती है। इस प्रकार इसमें लास्य के दसो अङ्ग[10] होते है। १. गेयपद, २. स्थितपाठ, ३. आसीन, ४. प्रच्छेदक, ५. पुष्पगण्डिका, ६. त्रिगूढ़, ७. द्विगूढ़क, ८. सैन्धव, ९. उत्तमोत्तमक, १०. उक्तप्रत्युक्त।

इस तथ्य से यह सूचित होता है कि भाण आदिम स्वांग का शास्त्रीय रूप है। विश्वनाथ ने इसके उदाहरण रूप में 'लीलामधुरकर' का उल्लेख किया है।

---

१ भूयासाभारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् (दशरूपक ३/५१)

२ वृत्तिमुख्या च भारती (नाट्यदर्पण २/८२)

३ भावप्रकाश (८/१५)

४ नाट्यशास्त्र (२०/१०९, ११०,१११)

५ भावप्रकाश (६/१५१, १६०)

६ साहित्यदर्पण (६/२८८, २२९)

७ दशरूपक (३/४९, ५०)

८ नाट्यदर्पण सूत्र ८२

९ नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- २७०

१० मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च। (दशरूपक ३/५१)

प्रहसन- संस्कृत आचार्यो द्वारा दशरूपकों में प्रहसन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रहसन के स्वरूप के विषय में आचार्यों में वैमत्य है। भरत[1] ने प्रहसन के दो प्रकार बताये है- १. शुद्ध, २. सङ्कीर्ण प्रहसन। इसी का अनुगमन नाट्यदर्पण[2] में किया गया है। साहित्यदर्पण[3] मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भरतमुनि के अनुसार वैकृत का भी सङ्कीर्ण में अन्तर्भाव हो जाता है। शारदातनय[4] ने तीनप्रकार का तथा सागरनन्दी[5] ने दो प्रकार का प्रहसन कहा है। धनञ्जय एवं विश्वनाथ द्वारा मान्य तीन प्रकार के प्रहसनों में (क) शुद्ध (ख) विकृत (ग) सङ्कीर्ण है।[6]

(क) शुद्ध प्रहसन- साहित्यदर्पण के अनुसार जहाँ तपस्वी, सन्यासी, ब्राह्मण आदि में से कोई एक धृष्टनायक हो शुद्ध प्रहसन होता है।[7] शुद्ध प्रहसन के प्रसंग मे धनञ्जय[8] का विचार है कि जो पारवण्डी, विप्र इत्यादि एवं चेट-चेटी और विट से भरा होता है तथा इन्हीं विप्रादि के चरित, भाषा एवं वेषादि से युक्त एवं हास्य वचनो से व्याप्त होता है वह शुद्ध प्रहसन कहलाता है।

(ख) सङ्कीर्ण प्रहसन- इसका लक्षण भरतमुनि[9] ने किया है कि जहाँ वेश्या, चेट, नंपुसकादिकों के वेष तथा चेष्टादि अविकृत हो वह सङ्कीर्ण प्रहसन होता है।

---

१ भरत-प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् (नाट्यशास्त्र२०/१०३)

२ वैमुख्यकार्यप्रहसनं द्विधा (द्वितीयविवेक- ६३)

३ साहित्यदर्पण ६/५३०)

४ भाणवत् स्यात प्रहसनं तात्त्रिधा परिभिद्यते।
शुद्धक्वाप्यथ सङ्कीर्ण क्वचिद् वैकृतमित्यापि ।(भावप्रकाश ८/१७९)

५ द्विविधं शुद्धं संङ्कीर्णश्च (नाट्कलक्षण पृष्ठ- २७६)

६ तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः। (दशरूपक ३/५५)

७ तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः
एको यत्र भवेद् धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते। (साहित्यदर्पण ६/२६५)

८ पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटी विटाकुलम् ।
चेष्टितवेषभाषाभिः शुद्ध हास्यवचोन्वितम् (दशरूपक ३/५४)

९ वेश्या चेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्यु।

साहित्यदर्पण के अनुसार धृष्टों के चरित को सङ्कीर्ण कहते है। इस प्रहसन में एक या दो अङ्क होते हैं। दशरूपककार[1] के मतानुसार जो वीथी के अङ्गो से युक्त हो तथा जिसमे अनेक धूर्तों का चरित वर्णित हो वहाँ सङ्कीर्ण प्रहसन होता है।

(ग) विकृत प्रहसन- इस प्रहसन के विषय में धनञ्जय एवं विश्वनाथ एकमत हैं[2], इनके अनुसार जहाँ नपुंसक, कंचुकी, तापसी आदि कामुक, बन्दी, योद्धाओं के वेष एवं वाणी का अनुकरण करते हैं अर्थात् उनकी भाषा में ही उनके चरित को प्रगट करते हैं वह विकृत प्रहसन होता है। भरतमुनि इसे सङ्कीर्ण के अन्तर्गत मानते है। आचार्य भरत[3] के मतानुसार इसमें सामान्य जनता मे प्रचलित किसी दुराचरण एवं दम्भ, पाखण्ड का प्रदर्शन अनिवार्य है। इसके लक्षण से ही स्पष्ट होता है कि यह लोक में उत्पन्न हुआ और लोक प्रचलित था।

आचार्य धनञ्जय एवं विश्वनाथ ने प्रहसन को भाणवत् कहा है अर्थात् भाण के समान सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्कों द्वारा सम्पादित निन्दनीय पुरुषों का कविकल्पित वृत्तान्त प्रहसन में होता है।[4] इस प्रकार मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ अपने अङ्गों से युक्त प्रहसन मे होती है तथा यह एक अङ्क का होता है। शारदातनय ने भी इसे एक अङ्क का माना है। सन्धियो के संदर्भ में भावप्रकाश[5] दशरूपक[6] एवं नाटकलक्षणरत्नकोश[7] एक मत हैं। इसमें लास्य के दस अङ्ग की भाण के समान होते है।

अविकृतवेषपरिच्छेदचेष्टितकरणं तु संकीर्णम्। (साहित्यदर्पण ६ परिच्छेद)

१ सङ्करद्वीथ्या सङ्कीर्ण धूर्तसङ्कुलम् ।। (दशरूपक ३/५६)

२ कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः विकृतं (दशरूपक- ३/५७)

३ नाट्यशास्त्र १८/१५४,१५८

४ भाणवत्संधिसन्ध्यंगलास्यांगाङ्कैर्विनिर्मितम् ।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ।। (साहित्यदर्पण ६/२६४)

५ मुखनिर्वहणश्चैव सन्धी द्वावस्थकीर्तितौ। (भावप्रकाश- ८/१८०)

६ दशरूपक ३/५४

७ नाटकलक्षणरत्न पृष्ठ- २७६

साहित्यदर्पण के[1] अनुसार इसमे आरभटीवृत्ति व प्रवेशक एवं विष्कम्भक नहीं होताहै। इसमें वीथी के अङ्क कहीं होते हैं कही नहीं होते है।[2]

इसमे छः प्रकार के हास्य रस[3] की प्रधानता प्रचुरता से दशरूपक[4] नाट्यदर्पण[5] नाटकलक्षणरणकोश[6] मे स्वीकार की गई है। इस प्रकार यह एक विशिष्ट रूपक है।

डिम- दशरूपकों मे मान्य डिम रूपक भेद को सभी आचार्यो ने स्वीकृत किया है। डिम के सन्दर्भ में नाट्यदर्पणकार लिखते हैं- "डिम डिम्बो विप्लव इत्यर्थः तद्योगादयं डिमः डिमे संघातार्थत्वादिति।" इसी क्रम मे हेमचन्द्र ने इस रूपक प्रकार को डिम्ब और विद्रोह नाम से पुकारा है[7]। इस रूपक मे विविध प्रकार के विप्लव के कारण ही इसे आचार्य ने डिम्ब और विद्रोह कहा है। डिम का अर्थ समूह भी होता है। आचार्य रामचन्द्र ने इसका लक्षण दिया है कि- 'अशान्तहास्यशृंगारविमर्शः ख्यातवस्तुकः रौद्रमुख्यश्चतुरंगः ऐन्द्रजालरणो डिमः'[8]। डिम की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है 'उद्धत नायककस्तेषां वृत्तिर्यत्रेहि'।[9]

---

[1] अत्र नारभटी नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ (वृत्ति साहित्यदर्पण)

[2] अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थितिर्न वा (साहित्यदर्पण ६/२६४)

[3] स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित छः हास्य रस है।

[4] दशरूपक ३/५५

[5] हास्याङ्गि भाणसन्ध्यङ्ग वृत्ति प्रहसनं द्विधा (सूत्र ८३) नाट्यदर्पण

[6] नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- २७६

[7] काव्यानुशासन हेमचन्द्र पृष्ठ- ३२२

[8] नाट्यदर्पण पृष्ठ- १२९

[9] अभिनवभारती २, आर. कवि १९३४ बड़ौदा पृष्ठ- ४४४

डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है इस विषय मे भरत[1] से समस्त परवर्ती आचार्य, धनञ्जय[2], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3], सागरनन्दी[4], शारदातनय[5], विश्वनाथ[6], शिङ्गभूपाल[7] सहमत हैं।

भरत के अनुसार डिम का नायक भी प्रख्यात तथा उदात्त होना चाहिए।[8] नायक के प्रख्यात होने के विषय मे परवर्ती समस्त आचार्य भरत से सहमत हैं किन्तु धनञ्जय[9], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[10], विश्वनाथ[11], शारदातनय[12], के अनुसार इसके नायक उद्धत होते हैं।

डिम में नायकों की संख्या सोलह समस्त आचार्यों को स्वीकृत है जिनमे भरत[13], धनञ्जय[14], विश्वनाथ[15], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[16], शारदातनय[17], सागरनन्दी[18] हैं। ये सोलह पात्र देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत पिशाचादि होते हैं।[18]

---

१ प्रख्यातवस्तु विषयःप्रख्यातादात्तनायकोपेत्तः (नाट्यशास्त्र २०/८८)

२ डिमे वस्तु प्रसिद्धं .. .. महोरगाः। (दशरूपक ३/५९)

३ अशान्तं ... ख्यातवस्तुकः ॥ (नाट्यदर्पण सूत्र १३४)

४ विख्यात वस्तु विषयः। (नाटकलक्षणरत्न० पृष्ठ- २६६)

५ प्रख्यात वस्तु विषयो न्यायमार्गीणनायकः (भाव प्र० ८/१८२)

६ मायेन्द्रजाल .... ख्यातेतिवृत्तकः (साहित्यदर्पण ६/२४३)

७ ख्यातेतिवृत्तं ... स्फुटम् ॥ (रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ- १७८)

८ प्रख्यातोदात्तनायकोपेत्तः। (नाट्यशास्त्र २०/८८)

९ नेतारो ... षोडशात्यन्तमुद्धताः (दशरूपक ३/५७-५८)

१० नाट्यदर्पण पृष्ठ- २३६

११ षोडशात्यन्तमुद्धताः (साहित्यदर्पण ६/२४३)

१२ उद्धतै. . षोडशनायकः (भावप्रकाश ८/१८२)

१३ षोडशनायक वहुल ... संयुक्तः (नाट्यशास्त्र २०/९१-९२)

१४ नेतारोदेव ... मुद्धताः (दशरूपक ३/५७-५८)

१५ नायका ... षोडशात्यन्तमुद्धताः (साहित्यदर्पण ६/२४३)

१६ सुरासुरपिशाचाद्याः प्रायः षोडश नायकाः। (नाट्यदर्पण सूत्र- १३५)

१७ उद्धतै देवगन्धर्व षोडशनायकः (भाव प्रकाश ८/१८२)

१८ स च षोडशनायक सुक्तः ... पिशाचसुरासुर सङ्कुलः। (नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- २६६)

भरत[1] के मतानुसार इनका अनुसरण करते हुए समस्त आचार्यों धनञ्जय[2], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3], विश्वनाथ[4], शारदातनय[5], शिङ्गभूपाल[6] ने डिम में चार अङ्को का विधान किया है।

भरत[7], धनञ्जय[8], सागरनन्दी, शारदातनय[9], विश्वनाथ[10] तथा शिङ्गभूपाल[11], के मतानुसार डिम में कौशिकी वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ प्राप्त होती है।

भरत[12] के मतानुसार डिम में हास्य व शृंगार को छोड़कर छः दीप्तरसों का प्रयोग किया जाता है। डिम में छः दीप्त रसों का प्रयोग धनञ्जय[13], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[14], विश्वनाथ[15], शारदातनय[16], भी स्वीकारते हैं।

---

१६ देवासुरराक्षसभूतपक्षनागाश्च पुरूषाः स्युः।

१ षड■लक्षणसुक्तश्चतुरऽङ्को वे डिमः कार्यः (नाट्यशास्त्र २०/८८)

२ चतुरङ्कश्चतुसन्धि .. स्मृतः (दशरूपक ३/६०)

३ रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः .. डिमः (नाट्यदर्पण सूत्र १३४)

४ चत्वारोङ्का मता नेह विष्कम्भक प्रवेशकौ । (साहित्यदर्पण ६/२४३)

५ सप्रवेशकविष्कम्भकश्चतुरङ्को डिमः स्मृतः। (भावप्रकाश ८/१८३)

६ चतुभिरङ्कैरन्वीतं .. सन्धिभिः। (रसार्णवसुधकर पृष्ठ- १७८)

७ षोडश... सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसंयुक्तः। (नाट्यशास्त्र २०/९२)

८ डिमे .... कैशिकी विना। (दशरूपक ३/५७)

९ कैशिकी वृत्ति रहितो भारत्यारभटीयुतः। (भावप्रकाश ८/१८२)

१० वृत्तयः कैशिकी ... हीना। (साहित्यदर्पण ६/२४४)

११ कैशिकीवृत्ति विरलं भारत्यारभटी स्फुटम् ॥ (रसार्णवसु. पृष्ठ- १७८)

१२ षड्लक्षण .. कार्यः (नाट्यशास्त्र २०/८८)

१३ रसैरहास्यशृंङ्गारै ... षडभिदीप्तैः समन्वितः (दशरूपक ३/५८)

१४ अशान्तं हास्यशृगार ... डिमः (नाट्यदर्पण सूत्र १३४)

१५ दीप्ताः स्युः षडसाः शान्त हास्य शृंङ्गार वर्जिता। (साहित्यदर्पण ६/२४४)

डिम में रौद्र रस अङ्गी रूप में रहता है यह मत धनञ्जय[1], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[2], शारदातनय[3], शिङ्गभूपाल[4], विश्वनाथ[5] ने दिया है। धनञ्जय[6], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[7], शारदातनय[8], शिङ्गभूपाल[9] तथा विश्वनाथ ने डिम को विमर्श सन्धि हीन स्वीकार किया है।

भरत तथा उनके परवर्ती आचार्यों के मत से डिम में माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध आदि चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण व चन्द्रग्रहण का वर्णन रहता है।

शारदातनय तथा शिङ्गभूपाल ने इसमें प्रवेशक तथा विष्कम्भक की योजना स्वीकार की है। डिम का उदाहरण- नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्यदर्पण, मे-त्रिपुरदाह, भावप्रकाश में-तरकोद्धरण, बृजोद्धरण दिया गया है।

व्यायोग- आदर्शवादी रूपकों में व्यायोग का (व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषाः इति व्यायोगः) इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनेक पुरुष पात्रों के कारण व्यायोग नाम रखा गया था। नाम से ही सूचित होता है कि यह युद्धविषयक रूपक है। रूपक का यह प्रकार अत्यन्त प्राचीन है क्योंकि भास का व्यायोग उपलब्ध है और बाद में भी इसकी रचना हुई है।

अभिनवगुप्त का मत है कि युद्ध में पुरुषों के नियुद्ध होने के कारण इसे व्यायोग कहा जाता है- 'व्यायामे युद्धप्रायेनियुद्धन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोगः इत्यर्थः।'

---

१६ शृंङ्गारहास्य विधुरै रसैदीप्तैनिरन्तरः। (भाव्रकाश ८/१८२)

१ चन्द्र ... रौद्ररसे अङ्गिनि। (दशरूपक ३/५९)

२ रौद्रमुख्यश्च ... डिमः। (नाट्यदर्पण सूत्र १३४)

३ अङ्गिरौद्ररसोपेतो वीभत्सादिनिरन्तरः । (भावप्रकाश ८/१८२)

४ ख्यातेतिवृत्तं निर्हास्यशृङ्गारं रौद्रमुदितम् । (रसार्णवसु पृष्ठ- १७८)

५ अंङ्गीरौद्ररसस्तत्र ... रसाः पुनः (साहित्यदर्पण ६/२४२)

६ चतुरङ्कश्चतुस्सन्धि ... स्मृतम् (दशरूपक ३/६०)

७ अशान्त हास्य शृंगारः विमर्शः ख्यात वस्तुकः । (नाट्यदर्पण सूत्र १३४)

८ लुप्तावमर्शसन्धिश्च चतुस्सन्धिसमन्वितः (भाव प्रकाश ८/१८२)

इसे 'दीप्तकाव्य रसयोनि' रूपक कहा गया है।

भरतमुनि के अनुसार व्यायोग की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है।[1] कथावस्तु के प्रख्यात होने के विषय में भरत के मत से समस्त आचार्य धनञ्जय सागरनन्दी[2], शारदातनय, नाट्यदर्पणकार[3], शिङ्गभूपाल[4], विश्वनाथ[5] सहमत हैं।

व्यायोग के नायकत्व के विषय में अतीव मतभेद है। भरत ने दिव्य नायक का निषेध कर राजर्षि नायक का विधान किया है।[6] अभिनवगुप्त का मत है कि व्यायोग का नायक, देवता, नृपति एवं ऋषि नही होना चाहिए।

भरत मत के विपरीत नाट्यदर्पणकार[7] इसमें अदिव्य नायक का विधान करते है। विश्वनाथ ने राजर्षि के साथ दिव्य पुरुष को भी इसका नायक स्वीकार किया है।[8] शारदातनय ने इसका नायक देवता या राजर्षि माना है।[9] अभिनव के अनुसार व्यायोग का नायक तथा कथावस्तु दोनों प्रसिद्ध होते है।[10] अभिनव की यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है क्योंकि देवता, ऋषि, नृप का चरित तो उदात्त कोटि का होगा उद्धत कोटि का नहीं।

---

१ चतुभिरङ्कैरन्वीतं निविमर्शकः सन्धिभिः। (रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ- १७८)

१ व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कर्तव्यः ख्यातनायक शरीरः (नाट्यशास्त्र २०/९१)

२ नियुद्धयुद्ध बहुलःदीप्तवीररौद्ररसोविदिति कथा।
(नाट्य लक्षण रत्न पृष्ठ- २६५)

३ नाट्यदर्पण सूत्र १२५

४ ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नौ निस्सहाय नायक । (रसार्णव पृष्ठ- १७)

५ ~~ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नौ निस्सहाय नायकः। (रसार्णव पृष्ठ- १७)~~

५ ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः (साहित्यदर्पण- ६/२३२)

६ न च दिव्यनायककृतः कार्योराजर्षि नायकनिबद्धः। (नाट्यशास्त्र २०/९६)

७ नाट्यदर्पण सूत्र १२५

८ साहित्यदर्पण ६/२३३

भरत नायक के प्रख्यात होने का उल्लेख करते हैं परन्तु नायक के प्रकार के विषय मे मौन हैं। शारदातनय व्यायोग के नायक को धीरोदात्त स्वीकारते है। भरत से लेकर साहित्यदर्पण तक किसी भी आचार्य ने व्यायोग के नायक की संख्या को निर्धारित नहीं किया जबकि शारदातनय[1] शिङ्गभूपाल[2] ने व्यायोग के नायको की संख्या दस तक मानी है।

विश्वनाथ ने इसमे कौशिकी वृत्ति का निषेध किया है।[3] शृंगार व हास्य से रहित (जो कैशिकी वृत्ति के गुण है) होने के कारण ही स्वभाव से कोमल स्त्रियों को इसमें स्थान नहीं दिया गया है।

समस्त आचार्यों धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4], शारदातनय[5], शिङ्गभूपाल[6], विश्वनाथ[7] ने प्रतिपादित किया है कि इसमें युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता है।फलस्वरूप नाट्यदर्पणकार ने व्यायोग में नायिका के अभाव की बात कही है। भरत के अनुसार इसमें स्त्रीपात्रों की संख्या अल्प होनी चाहिए। इस मत से धनञ्जय, विश्वनाथ, शारदातनय, रामचन्द्रादि सहमत हैं।

व्यायोग में रसों के विषय में भरत ने कहा है कि व्यायोग में दीप्त रसों का प्रयोग होना चाहिए। 'एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकालकाव्यरसयोनिः।'[8]

धनञ्जय ने भी डिम में छः दीप्त रसों को माना है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय, ने छः दीप्त रसों को डिम में स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने व्यायोग में

---

९ धीरोदात्ताश्च विख्याता देवा राजर्षयोऽथवा। (भावप्रकाश ८/१८३)

१० नाट्यशास्त्र २०/९६ पर अभिनव भारती टीका

१ नायकास्त्रिचतुष्पंच भवेयुन दशाधिकाः । (भावप्रकाश ८/१८३)

२ युक्तो दशावरैः ख्यातैरुद्धतैः प्रति नायकैः। (रसार्ण पृष्ठ- १७१)

३ कैशिकी वृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः । (साहित्यदर्पण ६/२३)

४ अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो नियुद्धस्पर्धनोद्धतः । (नाट्यदर्पण सूत्र १२५)

५ अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो व्यायोगः कथितो बुधैः। (भावप्रकाश ८/१८३)

६ अस्त्रीनिमित्तसमरो व्यायोगः कथितो बुधैः। (रसार्ण पृष्ठ- १६९)

हास्य, शृंगार व शान्त रसों का निषेध किया तथा छः रसों की प्रधानता स्वीकार की है किन्तु सागरनन्दी, शरदातनय इसमे स्वल्प, शृंगार की स्थिति भी स्वीकार करते हैं, जो कि महाभारत पर आधारित मध्यमव्यायोग, सौगन्धिकाहरण को लक्ष्य में रख कर कही जा सकती है।

व्यायोग में सन्धि के विषय मे भरत मौन हैं परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र[1], शारदातनय[2], इस विषय में एकमत हैं कि व्यायोग में गर्भ व विमर्श सन्धि नहीं होनी चाहिए। सागरनन्दी[3] के मतानुसार व्यायोग में गर्भ, विमर्श, प्रतिमुख सन्धि नहीं होनी चाहिए अर्थात् मुख व निर्वहण सन्धि की योजना होनी चाहिए।

भरत, धनञ्जय, सागरनन्दी, विश्वनाथ नाट्यदर्पण के मत से व्यायोग मे एक अङ्क होता है। व्यायोग में एक दिन का चरित वर्णित होना चाहिए। इस विषय में रामचन्द्र, धनञ्जय शारदातनय एकमत हैं।

सागरनन्दी के अनुसार व्यायोग में प्रणयकथा के अन्तर्गत किसी तापस का ऋषि कन्या से विवाह वर्णित किया जाता है- 'ऋषि कन्या परिणययुक्तः'[4] इसके उदाहरण अब अप्राप्त हैं।

व्यायोग का नायक धीरोद्धत होने के कारण समस्त आचार्यो के मत में युद्ध या मल्लयुद्ध की प्रचुरता रहती है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल के मतानुसार इसमें विष्कम्भक भी होता है। व्यायोग का उदाहरण नाट्यदर्पण व दशरूपक में 'जामदग्न्य' तथा रसार्णवसुधाकर में- 'धनञ्जय जय', साहित्यदर्पण में- 'सौगन्धिकाहरण' है।

---

६ एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः। (साहित्य दर्पण ६/२३२)

८ नाट्यशास्त्र २०/६७

१ गर्भविमर्शविवर्जितदीप्तरसाश्रयः। (नाट्यदर्पण-सूत्र १२५)

२ गर्भ विमर्शरहितो विष्कम्भकादि समन्वितः। (भावप्रकाश- ८/१८३)

समवकार- 'समवकीर्यन्तेऽर्थाऽस्मिन्निति समवकारा' अर्थात् जिसमे काव्य प्रयोजन बिखरे हुए हो उसे समवकार कहा जाता है।[१] इस व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है जो रूपक विधा त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायों के द्वारा ही निबद्ध की जाय वह समवकार कहलाता है। ये उपाय या प्रयोजन बिखरे हुए भी हो सकते हैं और दूसरे से सम्बद्ध भी हो सकते हैं। अवकीर्ण का अर्थ है फैला हुआ। इस रूपक में कई नायकों के प्रयोजन संगृहीत किये जाते हैं अतः इसे समवकार कहा गया है।

नाट्योत्पत्ति की कथा मे स्वर्ग में सर्वप्रथम अभिनीत रूपक अमृतमंथन समवकार ही बताया गया है। भरत ने इसे 'देवासुरबीजकृत' कहा है।[२] समवकार का लक्षण निरूपण भी इसी रचना के आधार पर किया गया है।[३]

धनञ्जय, सागरनन्दी[४], शारदातनय व[५] विश्वनाथ भी इस मत से सहमत हैं कि समवकार में देवों तथा असुरों के सम्बन्ध की इतिहास पुराणादि प्रसिद्ध कथानिबद्ध की जाती है। नाट्यदर्पण के मत में भी इसकी कथा प्रसिद्ध होती है।[६]

भरत तथा परवर्ती आचार्यों ने इसमें नायकों की संख्या बारह निर्धारित की है।[७] नायक की जाति के विषय में विश्वनाथ का मत भिन्न है।

---

३ मुखं निर्वहण सन्धियुक्तो। (नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ- २६५)

४ नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- २६५ सागरनन्दी

१. दशरूपक - ३/६२ २. नाट्यशास्त्र - २०/६६

१ संस्कृतनाटक ए वी कीथ, लेखक भाषानुवादक-३ उदय भानूसिंह पृष्ठ- ३७१ समवकार के उदाहरण के रूप में धनञ्जय ने अम्भोधिमन्थन, सागरनन्दी ने शक्रानन्द का उल्लेख किया है।

४ स च देवासुरवीर्यकृतः। (नाटकलक्षण पृष्ठ- २६७)

५ देवासुरेतिवृत्तं यत्रख्यातं लोकसम्मतम् । (भावप्रकाश ८/१८४)

६ नाट्यदर्पण सूत्र १२६

७ नाट्यशास्त्र २०/६७ नाटकलक्षण, श्लोक पृष्ठ- २६७

समस्त आचार्यों का मत है कि समवकार में नायक उदात्त चरित वाले देव व दानव होते हैं किन्तु विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक देवता व मनुष्य माना है इनका मत मान्य नहीं है, इसका कारण यह है कि विश्वनाथ प्रारम्भ में इस मत से सहमत है कि समवकार का इतिवृत्त देव दानव से सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्था में दानव के स्थान पर मानव पात्र की योजना कैसे होगी?

भरत[१] के अनुसार इसमें तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का विद्रव तथा तीन प्रकार का शृंगार होता है तथा इसमें तीन अङ्क भी होता है। सभी आचार्यों ने भरत के मत को स्वीकार किया है।[२]

भरत के मत का अनुसरण करते हुए धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है कि इसमें प्रथमाङ्क की कथा बारह नाड़ियों की द्वितीयाङ्क की चार तथा तृतीयाङ्क की तीन नाड़ियों की होती है[३] किन्तु सागरनन्दी[४] ने प्रथमाङ्क तथा द्वितीयाङ्क का काल बारह तथा चार नाड़ियों का मानते हुए तृतीयाङ्क का आवश्यकतानुसार (कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जितना अपेक्षित हो) माना है।

सभी आचार्यों ने समवकार को विमर्श सन्धि से हीन माना है[५] तथा समवकार का अङ्गीरस वीर है इससे भी समस्त आचार्य सहमत हैं।[६] धनञ्जय व विश्वनाथ के अनुसार इसमें कैशिकी वृत्ति से भिन्न वृत्तियाँ होनी चाहिए। सागरनन्दी को भी यही मान्य है किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बिना कैशिकी के शृंगार कैसे होगा? इसका

---

१ त्र्यङ्कस्तब्दा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृङ्गारः (नाट्यशास्त्र २०/६६)

२ दशरूपक ३/६५, नाटकलक्षण पृष्ठ- २६९, भावप्रकाश ८/१८४, नाट्यदर्पणसूत्र- १२७

३ नाट्यशास्त्र २०/७०, ७१, दशरूपक ३/६५, साहित्यदर्पण ६/२३८, २३९ भावप्रकाश ८/१८४

४ सागरनन्दी नाटकलक्षणरत्नकोश पृष्ठ- २६९

५ दशरूपक ३/६३, नाट्यदर्पण सूत्र- १२६, साहित्यदर्पण ६/२३४-२३५

६ दशरूपक ३/६४, उदात्तदेव ... दैत्येशो वीथयङ्गी वीर रौद्रवान् (नाट्यदर्पण सूत्र- १२६)

समाधान सागरनन्दी यह कह कर करते हैं कि कैशिकी वृत्ति का प्रयोग सामान्यतः किया जा सकता है।

समवकार में वीथ्यङ्गों की योजना सभी आचार्यो को मान्य है।[1] धनञ्जय, विश्वनाथ, शारदातनय[2], के अनुसार इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग नहीं होता है।

भरत तथा शारदातनय के अनुसार इसमें कविजनों को उष्णिक व गायत्री छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दो का प्रयोग करना चाहिए।

वीथी- वीथी का तात्पर्य है पंक्ति अर्थात् अङ्कों की पंक्ति के समान होने से यह वीथी कहलाता है। इस रूपक के नामकरण का कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें उद्घात्यक से मार्दव तक के तेरह अङ्ग पंक्तिबद्ध होकर आते हैं।[3]

आचार्य भरत[4] का मत है कि वीथी का अभिनय दो अथवा एक पात्र के द्वारा होता है। नाट्यशास्त्र[5] के अनुसार पात्र तीनों प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम कोटि के हो सकते हैं। किन्तु नाट्यदर्पणकार ने शंकुक का मत देते हुए लिखा है कि इसका नायक अधम कोटि का नहीं हो सकता जबकि साहित्यदर्पणकार[6] ने तीनों नायकों में किसी एक की कल्पना की है।

---

१ नाट्यशास्त्र १०/७०, दशरूपक ३/६८, नाट्यदर्पण सूत्र- १२६ वीथ्यङ्गानि यथालाभमामुखं नाटकादिवत् - भावप्रकाश ८/१८९

२ शृङ्गारत्रितयं यत्र नात्र विन्दुप्रवेशकौ।। (भावप्रकाश ८/१८९) शारदातनय

३ युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः (दशरूपक ३/६९)

४ वीथीस्यादेकङ्का तथैकहार्या द्विहार्या वा (नाशास्त्र- २०/११३)

५ अधमोत्ममध्यभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिभिस्तिसृभिः। (नाट्यशास्त्र २०/११४)

६ साहित्यदर्पण ६/२५३)

वीथी के अङ्क के विषय में भी आचार्य धनञ्जय[१] व विश्वनाथ[२] एकमत हैं इन्होंने भरत का अनुकरण करते हुए वीथी को एक अङ्क का माना है। शारदातनय[३] व रामचन्द्र, गुणचन्द्र[४] को भी यही मत मान्य है।

दशरूपक एवं साहित्यदर्पण[५] के अनुसार एक पात्र द्वारा आकाशभाषित व दो पात्रों की उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा वीथी में वस्तु विवरण किया जाता है। नाट्यदर्पण के अनुसार वीथी में वक्रोक्ति-वैचित्र्य होती है- 'वक्रोक्ति मार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी।' भरत के अनुसार इसमें कोई भी रस आ सकता है किन्तु विश्वनाथ[६] एवं धनञ्जय के अनुसार इसमें सूच्य रस शृंगार होता है अर्थात् शृंगार रस की अधिकता के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति होती है किन्तु अन्य रसों का भी स्पर्श करना चाहिए।[७] शारदातनय[८] ने इन्हीं के मत का समर्थन किया है।

साहित्यदर्पणकार[९] के अनुसार इसमें भाण के समान मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ अपने अङ्गों सहित रहती हैं, इसका समर्थन दशरूपक[१०] व नाटक लक्षणरत्नकोश[११] में भी किया गया है।

---

१ दशरूपक ३/६, ३/३९

२ वीथ्यमेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते। (साहित्यदर्पण २५३)

३ एकाङ्कैव भवेद्वीथी द्वाभ्या वा प्रयोज्या।
पात्राभ्यां क्वचिदेकेन वा भवेत् । (भावप्रकाश ८/१९२)

४ नाट्यदर्पण पृष्ठ- १३३

५ आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः । (साहित्यदर्पण ६/२५४)

६ सूचयेद् भूरिश्रङ्गारं किंचिदन्यान् रसान्प्रति। (साहित्यदर्पण ६/२५४)

७ रसः सूच्यस्तु शृंगारः स्पृशेदपि रसान्तरम् । (दशरूपक ३/६८)

८ अङ्गी सर्वरसस्पर्शी शृंङ्गारोऽस्याःप्रधानतः। भावप्रकाश ८/१९२)

९ साहित्यदर्पण ६/२५४

१० दशरूपक ३/६८

११ मुखनिर्वहणयुता- (नाटकलक्षणरत्न पृष्ठ- २७७)

आचार्य विश्वनाथ[1] व धनञ्जय दोनों ने इसमें पाँचो प्रकार की अर्थप्रकृतियाँ स्वीकार की है।

इस प्रकार वीथी संस्कृत साहित्य में सर्वमान्य रूपकों मे प्रमख स्थान रखती है।

ईहामृग- ईहामृग के प्रसंग में अभिनवगुप्त[2] एवं रामचन्द्र ने ईहामृग के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है- 'ईहा चेष्टा मृगस्यैव स्त्रीमात्रार्थत्रितीहासमृगः' अर्थात् इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी की इच्छा नायक अथवा प्रतिनायक करता है। धनञ्जय एवं विश्वनाथ ने इसका निर्देश करते हुए लिखा है- 'दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः'[3] अर्थात् इसमे (अनासक्त) किसी दिव्य नारी को अपहार (हरण) आदि के द्वारा प्राप्त करने की घटना दिखाई जाती है।

भरतमुनि ने केवल इतना उल्लेख किया है कि इसमें किसी दैवी नारी के लिए युद्ध दिखाया जाता है। इसमें अत्यन्त आवेश के कारण युद्ध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी युद्ध टल जाता है अर्थात् प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कार्य करने वाला होता है। यह किसी दिव्य स्त्री को जो उसे नहीं चाहती भगा ले जाना चाहता है। इस तरह इसमें नायक व प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक ले जाकर उसे किसी बहाने से हटा दिया जाता है। उसके वध के समीप होने पर भी उसका वध नहीं कराया जाता है।[4]

---

१ मुखनिर्वहणे संघी अर्थप्रकृतपोऽखिलाः। (साहित्यदर्पण ६/२५४)

२ अभिनवभारती-२ आर कवि बडौदा पृष्ठ- ४४२

३ साहित्यदर्पण ६/२४७

४ हिन्दी दशरूपक भोलाशंकर पृष्ठ १८०-१८१

ईहामृग में कथावस्तु के सन्दर्भ में आचार्य धनञ्जय[1], विश्वनाथ[2], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3], शारदातनय[4] एकमत है, सभी ने कथावस्तु मिश्रित (प्रख्यात व कल्पित) स्वीकार की है।

दिव्य नायिका की प्राप्ति की इच्छा से नायक युद्ध में प्रवृत्त होता है तथा उसका अपहरण करना चाहता है। इसमें भरत, शारदातनय, धनञ्जय, विश्वनाथ सहमत है। साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें प्रतिनायक का वध इतिहास प्रसिद्ध होने पर भी नहीं दिखाया जाता है। यही मत धनञ्जय को भी मान्य है- 'वध प्राप्तस्य कुर्वीतं वधं नैव महात्मनः।'[5] भरत[6] ने ईहामृग को दिव्यपुरुषाश्रित कहा है। धनञ्जय, विश्वनाथ ने इसमें नर तथा देवता के नियम से नायक व प्रतिनायक की योजना की है। इसमें नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध, धीरोदात्त, मनुष्य अथवा देवता होते हैं।[7] विश्वनाथ के अनुसार छः प्रतिस्पर्धी नायक किसी दिव्याङ्गना की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र[8] के अनुसार इसमे दिव्य नायक होता है। शारदातनय के अनुसार नायक इतिहास प्रसिद्ध मनुष्य व देवता होते हैं।

---

1. मिश्रमीहामृगे वृत्तं (दशरूपक- ३/७२
2. ईहामृगों मिश्रवृत्त साहित्यदर्पण ६/२४५
3. एकाङ्कचतुरङ्को वाख्याताख्यातेतिवृत्तवान्। (नाट्यदर्पणसूत्र- १३८)
4. ईहामृगस्येतिवृत्तं प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रितम् - (भावप्रकाश- ८/१९९)
5. दशरूपक ३/७५
6. दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः (नाट्यशास्त्र २०/८२)
7. नरदिव्यावनियमी नायकप्रतिनायको।
   ख्यातो धीरोदात्तवन्या गूढभावादयुक्तकृत। (साहित्यदर्पण ६/२४६)
8. ईहामृगः नाट्यदर्पण सूत्र- १३८

भरत[1], धनञ्जय[2], विश्वनाथ[3], रामचन्द्र[4], शारदातनय[5] सभी के अनुसार नायक की प्रकृति धीरोद्धत होती है।

विश्वनाथ के अनुसार ईहामृग में नायकों की संख्या दस तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र[6] के अनुसार बारह होती है। शारदातनय[7] के अनुसार इसमें समूह रूप में छः, चार और पाँच नायक प्रतिनायक होते हैं।

ईहामृग में अङ्कों की संख्या के विषय में शारदातनय[8] और विश्वनाथ सहमत हैं इन्होंने इसमें चार अङ्क माने हैं।

रामचन्द्र के मत में एक अथवा चार अङ्क होते हैं- 'एकाङ्कश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान्'[9] दशरूपककार धनञ्जय ने तथा विश्वनाथ[10] दोनो ने तीन सन्धियॉ ईहामृग में स्वीकृत की हैं- मुख, प्रतिमुख, निर्वहण। ईहामृग के उदाहरण के रूप में भावप्रकाश में- 'कुसुमशेखर' तथा साहित्यदर्पण- में 'कुसुमशेखर' 'विजय' दिया गया है।

उत्सृष्टिकाङ्क या अङ्क- दशम गण की उभयपदी अङ्क धातु में अच प्रत्यय लगाकर अङ्क शब्द बना है। यह एंकाकी रूपक है इसका दीर्घतर आकार सामान्य

---

1. उद्धतपुरुषः प्रायः स्त्रीरोषग्रथितकाव्यवन्धश्च। (नाट्यशास्त्र २०/८३)
2. ख्यातो धीरोद्धता (दशरूपक ३/७३)
3. ख्यातौ धीरोद्धतावन्या गूढभावादयुक्तकृत। (साहित्यदर्पण ६/२४६)
4. नाट्यदर्पण सूत्र १३८
5. शारदातनय भावप्रकाश ८/१९९
6. नाट्यदर्पण सूत्र १३८
7. गणशः षट्चतुः पंचनायकाः प्रतिनायकाः। (भावप्रकाश ८/१९९)
8. अङ्काश्चत्वार एवात्र सविष्कम्भप्रवेशकाः। (भावप्रकाश ८/१९९)
9. नाट्यदर्पण सूत्र १३८
10. मुखप्रतिमुखे संघी तत्र निर्वहणं तथा। (साहित्यदर्पण ६/२४५)

नाटक के अङ्क से भिन्नता दिखाने के लिए इसका नाम उत्सृष्टिकाङ्क रखा गया है।[1] विश्वनाथ का मत है कि इसमे सृष्टि उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है इसलिए इसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहा जाता है इसे 'अङ्क' भी कहते है।[2]

अभिनवभारती व नाट्यदर्पण के अनुसार तो यह उत्सृष्टिकाङ्क इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें शोकग्रस्त नारियों का विशेष रूप से चित्रण होता है। 'उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः। ताभिरङ्कितत्वाद् उत्सृष्टिकाङ्कः।।'

भरत के अनुसार उत्सृष्टिकाङ्क की कथावस्तु कभी प्रख्यात कभी अप्रख्यात होती है।[3] कथावस्तु के सम्बन्ध में सागरनन्दी भरत से सहमत हैं।[4] धनञ्जय, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल[5], शारदातनय[6] के अनुसार इसकी कथावस्तु कभी प्रख्यात तथा कभी कवि कल्पनाजन्य होती है। नाट्यदर्पणकार अङ्क में प्रसिद्ध युद्ध से जन्य कथावस्तु मानते हैं।[7]

भरत तथा उनके परवर्ती सभी आचार्यो ने उत्सृष्टिकाङ्क मे दिव्य पात्रों का निषेध किया है।[8] नाट्यदर्पण के अनुसार दिव्य पात्रों में सुख बाहुल्य रहता है अतः करुण रस प्रधान अङ्क में उनकी योजना संगत नहीं है।[9]

---

१ इमं च केचित 'नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् आहुः। साहित्यदर्पण

२ उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः (साहित्यदर्पण)

३ प्रख्यातवस्तुविषयस्त्वप्रख्यातः काचिदेवस्यात् । (नाट्यशास्त्र २०/९८)

४ प्रख्यात वस्तु विषयः अप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् (नाट्यलक्षण पृष्ठ- २६९)

५ ख्यातेन वा कल्पितेन । (रसार्णवसु० पृष्ठ- १७०)

६ उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद्भवेत् (भावप्रकाश ८/१९३)

७ उत्सृष्टिकाङ्कः पुस्वामी ख्यातयुद्धोर्त्थवृत्तवान् । (नाट्यदर्पण सूत्र- १३६)

८ नाट्यशास्त्र २०/९८ नाट्कलक्षण पृष्ठ- २६६
दिव्यैरयुक्तः पुरुषैशेषैरन्ये समन्वितः । (भावप्रकाश ८/१९३)

९ दिव्यानी च सुखबाहुल्येन तत्सम्बन्धायोगात् । (नाट्यदर्पण पृष्ठ- २३७)

इस प्रकार सभी आचार्यो ने अङ्क में साधारण पुरुष नायक को स्वीकार किया है।

अङ्क में वृत्ति के प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्यो में मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ ने इसमें भाण के समान वृत्ति, सन्धि एवं अङ्क माने है। आचार्य भरतमुनि[१] धनञ्जय, सागरनन्दी[२], रामचन्द्र-गुणचन्द्र[३] तथा विश्वनाथ ने इसमें भारतीवृत्ति का प्रयोग स्वीकार किया है किन्तु शारदातनय[४] के अनुसार इसमें कैशिकी वृत्ति के अतिरिक्त आरभटी, सात्वती वृत्तियाँ भी प्राप्त होती हैं।

भरत के अनुगामी नाट्यालोचकों के अनुसार अङ्क करुण रस प्रधान रूपक है।[५] करुण स्थायी होने के कारण इसमे अनेक प्रकार की व्याकुलताओं के साथ स्त्रियो का विलाप रहता है। वाक्कलह और निर्वेद के वचन बहुत से हैं तथा युद्धगत चेष्टाओ व युद्ध को प्रदर्शित नहीं किया जाता।[६]

विश्वनाथ व धनञ्जय के मत मे जय-पराजय का वर्णन होना चाहिए। अङ्क में प्रायः सभी के अनुसार मुख तथा निर्वहण सन्धि की योजना होनी चाहिए। शारदातनय द्वारा उल्लिखित कोहलाचार्य भी इस विषय में सहमत हैं[७] किन्तु शारदातनय ने भावप्रकाश में लिखा है कि कोई कहते हैं इसमे ईहामृग के समान मुख, प्रतिमुख

---

[१] नानाव्याकुलचेष्टः सात्त्वत्यारभटी कैशिहीनः। (नाट्यदर्पण २०/१००)

[२] नाटकलक्षणरत्न पृष्ठ- २६६

[३] भाणोक्तवृत्तिसन्ध्यङ्गो वाग्युद्ध करुणाङ्किकः। (नाट्यदर्पण सूत्र १३६)

[४] कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्त्वत्यारभटीयुतः। (भावप्रकाश ८/१९३)

[५] नाट्यशास्त्र २०/९९, नाटकलक्षण, पृष्ठ- २६६, रसार्णवसु पृष्ठ- १७०, भणोक्त... करूणाङ्किकः, सूत्र- १३६

[६] नाट्यशास्त्र २०/९९, नाट्यदर्पण सूत्र- १३७, नाटकलक्षण पृष्ठ- २६६, भावप्रकाश ८/१९३

[७] मुखनिर्वहणे सन्धि इति कोहलभाषितम् । (भावप्रकाश ८/१९४)

निर्वहण सन्धियाँ होती है तथा किसी का कथन है कि इसमे डिम के समान विमर्श के अतिरिक्त चार सन्धियॉ होती हैं।[1]

भरत,[2] धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3], विश्वनाथ ने इसमें एक अङ्क माना है किन्तु शारदातनय द्वारा उल्लिखित कोहल, व्यास, आंजनेय के मतानुसार इसमे क्रमशः दो और तीन अङ्क होते हैं।[4] शिङ्गभूपाल के मत से इसमें इच्छानुसार एक दो या तीन अङ्क होते हैं। इसप्रकार विभिन्न आचार्यो द्वारा इसका यही स्वरूप वर्णित है।

उपरूपकों का स्वरूप- संस्कृत साहित्य में नाट्य पर आधारित दृश्य काव्य रूपक कहलाता है और नृत्य पर आधारित उपरूपक कहलाता है। उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्यो ने नही किया है किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं है कि यद्यपि नाट्यशास्त्र में उपरूपकों के भेदों का प्रतिपादन नही किया गया है तथापि इस मत के समर्थन में भरत के नाम से दिये गये उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिसमें उन्होंने बहुत से नामान्तर के साथ केवल पन्द्रह का उल्लेख किया है।

आचार्य धनञ्जय के नाट्यग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' इस तथ्य का साक्षी है कि उनकी दृष्टि में उपरूपक का महत्व नहीं था। यद्यपि दशरूपक मे प्रासंगिक रूप से धनिक ने एक पद्य उद्धृत करके नृत्य के सात भेदों के नाम गिनायें है जिसको उन्होंने भाणवत् माना है धनञ्जय ने इन्हें उपरूपक न कहकर नृत्य प्रकार कहा है।[5] दशरूपक में केवल नाटिका का उल्लेख किया गया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धनञ्जय को अन्य भेदों की जानकारी थी। इनकी पुस्तक से सूचित होता है कि 'दशरूपक' इनकी

---

[1] भावप्रकाश ८/१९४

[2] नाट्यशास्त्र २०/१००

[3] नाट्यदर्पण सूत्र- १३६

[4] अस्याङ्कमेकं भरतो छावङ्काविति कोहलः।
व्यासांजनेयगुरुवः प्राहुरङ्कत्रयं यदा।। (भावप्रकाश ८/१९३ पृष्ठ- २५१)

[5] डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् । (दशरूपक पृष्ठ- ५)

कृति रूपकों तक ही सीमित थी, किन्तु पूर्णतया दृष्टिगोचर करने से विदित होता है कि उपरूपकों का मात्र उल्लेख किया गया है।

भावप्रकाश, साहित्यदर्पण मे उपरूपको का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है किन्तु इनके पूर्व नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, दशरूपक, प्रतापरूद्रीय, रसार्णवसुधाकर में उपरूपकों का उल्लेख नहीं मिलता।

उपरूपकों के सृजनकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मत है कुछ विद्वान इसका श्रेय कोहल को देते है[१] कि कोहल ने सर्वप्रथम उपरूपकों को मान्यता दी। दूसरा मत यह है कि उपरूपकों की परिकल्पना या शास्त्रीय मान्यता तो दशरूपकों की मान्यता के बाद ही दी गई और उसकी वैज्ञानिक शास्त्रीय मान्यता तो दसवीं शताब्दी के बाद की है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख न होने से इसका अस्तित्व समाप्त नही होता, कोहल तो इसके व्यवस्थापक अथवा व्याख्याकार ही हैं आविष्कारक नहीं है। यद्यपि रूपक शब्द का प्रयोग धनञ्जय से पूर्व आचार्यो ने भी किया किन्तु रूपकों के दस भेदों को रूपक नाम से अभिहित करने का श्रेय धनञ्जय को ही जाता है। उपरूपकों का अस्तित्व तो भास (हल्लीस नृत्य), भरहुत (सदृक) कालिदास आदिके काल से कई शताब्दी ई० पूर्व था। एच. एच. विल्सन का मत है कि वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में नृत्य केवल ताल व लय पर आश्रित था, बाद में उसमें अङ्ग विक्षेप संयुक्त हुआ। तदनन्तर गान और रसमय चेष्टाये प्रविष्ट हुई जिसके साथ स्वांग, रङ्गमञ्च प्रयुक्त क्रियायें और संवाद थे।[२] इस विवेचन से सिद्ध होता है कि रूपकों की उत्पत्ति नृत्य से हुई।

रूपकों के नामकरण का श्रेय धनञ्जय को प्राप्त हुआ तथा उपरूपकों के नामकरण का श्रेय आचार्य विश्वनाथ को जाता है इसका कारण यह है कि विश्वनाथ से

---

१ भावप्रकाश भूमिका, पृष्ठ- ५१

२ दि थियेटर आफ दि हिन्दूज, पृष्ठ- २०९, सुशीलगुप्ता लिमिटेड कलकत्ता।

पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने इन नृत्य भेदों को 'गेय रूपक' तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर सम्बोधित किया।

अभिनवगुप्त ने लिखा है- 'एते प्रबन्धाः नृत्यात्मकाः न नाट्यात्मका नाटकादि विलक्षणः' इससे प्रमाणित होता है कि नृत्त पर आधारित होने के कारण जिन प्रबन्धो मे नाटकीय तत्त्वों का समावेश था उन्हें रूपक या उपरूपक की कोटि मे परिगणित करना आचार्यों को अभीष्ट नही था।

उपरूपकों का विशद विवेचन करने वाले अभिनव ने उपरूपको की प्राचीनता का साक्ष्य दिया है। इन्होंने डोम्बिका, भाणिका इत्यादि माने हैं।

छठी, सातवीं शताब्दी के काव्यशास्त्र मे भामह,दण्डी ने उपरूपकों का उल्लेख किया है सम्भवतः उपरूपकों का प्रचलन रूपकों से पहले का है। हल्लीशक, नाट्यरासक, प्रेक्षणक की सूचना कामसूत्रकार वात्स्यायन ने भी दी है। भामह, दण्डी ने द्विपदी, रासक, स्कन्धक, लास्य, छलित, शम्या इनको दृश्यकाव्य के अवान्तर भेदों उपरूपकों में गिना है ये सभी उपरूपक नृत्य रूप में थे। उपरूपक लोकनाट्य के ही परिष्कृत प्राचीन रूप हैं।

डी. आर. मांकड, मनमोहन घोष, वही राघवन आदि विद्वानों का विचार है कि संस्कृत नाटक के उद्भव की प्रक्रिया में पहले छोटे-छोटे रूपक थे जिन्हें उपरूपक के रूप में परिभाषित किया गया।

अमृतानन्द ने सर्वप्रथम 'अलंकारसंग्रह' में उपरूपक शब्द को लघु रूपकों के पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त किया। आचार्य भोज ने रूपक तथा उपरूपक सबको मिलाकर अभिनेयकाव्य कहा है।[१]

रूपकों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण होने कारण इन्हें उपरूपक कहा जाता है। नृत्यकोटि के ये उपरूपक (लास्य व ताण्डव) नाटकादि के उपकारक होते हैं-

---

१ शृंङ्गारप्रकाश भाग-२ में

'लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्'।[1] नृत्यपरक इन रूपको का सर्वप्रथम उल्लेख अभिनवभारती में कोहल के मत के उद्धरण के रूप में उपलब्ध होता है- 'उक्तव्याख्याने तु कोहलादिदिक्षितोतोटकसट्टकरासकादिसंग्रहः।'[2]

उपरूपकों के लिए प्रयुक्त संज्ञाये-

	आचार्य	संज्ञायें
१.	भरत, दत्तिल सागर	सङ्कीर्ण
२.	दलित, सागर	गौण
३.	अभिनवगुप्त	नृत्य प्रबन्ध
४.	हेमचन्द्र	गेयप्रबन्ध
५.	धनञ्जय, धनिक	नृत्य
६.	भोज	पदार्थाभिनय
७.	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	अन्यरूपक
८.	वाग्भट्ट	गेयरूपक
९.	कोहल	देशीरूपक

रूपकों को पूर्णतया स्पष्ट रूप जानने के पश्चात् उपरूपकों के नामकरण, अस्तित्व ज्ञान के अनन्तर प्रश्न उठता है कि विभिन्न आचार्यों ने उपरूपकों की संख्या कितनी स्वीकार की है? दस रूपकों को तो संस्कृत साहित्य के समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है किन्तु उपरूपकों की संख्या में मतभेद है।

---

[1] दशरूपक १/१०

[2] अभिनवभारती, पृष्ठ- ४४१

कोहल ने उपरूपकों की संख्या बीस बताई है। इन्होंने मार्ग व देशी दो भेद करके दस प्रकार के मार्ग तथा देशी मे भी दस प्रकार बताया है। इसप्रकार दस उपरूपक मार्ग नाट्य एवं दस देशी नृत्य है।

अग्निपुराण[१] में सत्ताईस प्रकार के नाट्य का उल्लेख किया गया है क्योंकि इसमें रूपक तथा उपरूपक का भेद नहीं माना गया है किन्तु अग्निपुराण में उपरूपक शीर्षक का उल्लेख[२] न करते हुए सत्रह उपरूपक परिगणित किये गये हैं- तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक, प्रेक्षणक।

अभिनवगुप्त ने तेरह प्रकार के उपरूपको को कहा है किन्तु उसे उपरूपक न कहकर नृत्त की संज्ञा दी है। इनके उपरूपकों में डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, षिद्गक, भाणिका, प्रेरण, रागकाव्य, तोटक, प्रकरणिका, रासक, रामाक्रीड, हल्लीशक, चित्रताल इनका उल्लेख तो किया गया है किन्तु इसका इन्होंने स्पष्ट विवेचन नही किया है।[३]

काव्यानुशासन[४] के रचयिता हेमचन्द्र ने अभिनव द्वारा मान्य भेदों में श्रीगदित और गोष्ठी को संयुक्त कर दिया किन्तु हेमचन्द्र ने इन्हें उपरूपक की संज्ञा से विभूषित नहीं किया तथा नाटिका और सट्टक को पाठ्य तथा शेष को गेय काव्य कहा है। इन्होंने गेयरूपक तथा रूपक दोनो के प्रयोग से पुरुषार्थो की उपलब्धि मानी है जिसे भरत व अभिनव भी स्वीकारते हैं।

---

१ अग्निपुराण अध्याय, ३२८

२ अग्निपुराण, १७५/ १-८

३ अभिनवभारती, भाग-२

४ काव्यानुशासन, ८/४

शृंगार प्रकाशकार भोज ने उपरूपको की संख्या बारह निर्धारित की है इनमे श्रीगदित, काव्य, प्रस्थान, भाण, भाणिक, गोष्ठि, हल्लीशक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, दुर्मल्लिका है।[१]

नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उपरूपक शब्द के स्थान पर 'अप्रधानरसाश्च' कहा है। रामचन्द्र ने 'शम्या' नामक नूतन शब्द का प्रयोग किया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पन्द्रह प्रकार के उपरूपक बताये है नाटिका तथा प्रकरणी को सङ्कीर्ण भेद कहकर 'अन्यान्यपि रूपकाणि दृश्यन्ते' कहकर शेष का उल्लेख किया। इनके प्रमुख उपरूपक हैं- सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक काव्य, भाण, भाणिका। इस प्रकार चौदह उपरूपक हैं।

भावप्रकाशकार शारदातनय ने भावप्रकाश में तीस प्रकार के रूपक भेद किये हैं- जिनमें दस रसात्मक (रूपक) तथा बीस को नृत्यभेद कहकर भावात्मक (उपरूपक) कहा है, यद्यपि इन्होंने बीस भेदो को उपरूपक संज्ञा से विभूषित नहीं किया।[२]

इन्होंने जिन बीस भेदों की व्याख्या की है इसकी नामावली इस प्रकार है- तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सदृक, नाट्यरासक, रासक (लासक), उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, परिजातक आदि। नाटककारों में 'संगीतक' नामक उपरूपक का उल्लेख सर्वप्रथम चतुर्भाणी के अन्तर्गत वररूचि की उभयाभिसारिका में मिलता है।

सागरनन्दी ने नाटिका, तोटक, गोष्ठी, संल्लाप, शिल्पक, हल्लीशक, श्रीगदित, भाणिका, भाणी, दुर्मल्लिका, प्रेक्षणक, सदृक, रासक, नाट्यरासक उल्लाप्यक, प्रस्थान, काव्य ये सत्रह उपरूपक माने है।

---

१ शृङ्गार प्रकाश पृष्ठ- ५२९

२ भावप्रकाश ८/३ शारदातनय

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने दशरूपको के अतिरिक्त अठारह उपरूपकों का वर्णन साहित्यदर्पण मे किया। ये अठारह उपरूपकों के नाम देकर लिखतें है कि 'अष्टादश प्राहुरूपरूपकाणिमनीषिणः' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वनाथ के युग में मनीषियों को अठारह उपरूपक मान्य थे तथा इसमें रूपको के भेद निरूपण की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है।

विश्वनाथ ने जिन अठारह उपरूपकों को स्वीकार किया है वे इस प्रकार हैं- "नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, भाणिका।"[1]

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने शुद्ध एवं सङ्कीर्ण भेद से दो प्रकार के रूपक माने हैं। शुद्ध में दस रूपकों को तथा सङ्कीर्ण भेद के अन्तर्गत नाटिका को स्वीकार किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उपरूपक के निश्चित नामकरण का गौरव साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ को ही प्राप्त है। इसका स्पष्ट प्रमाण साहित्यदर्पण है जिसमे अठारह उपरूपकों की विस्तृत व्याख्या एवं उदाहरण दृष्टिगोचर होता है।

रूपक उपरूपक की मान्यता के विषय मे सभी संस्कृत आचार्यों के मतों में भिन्नता है इससे स्पष्ट होता है कि क्रमशः आचार्यो को रूपक एवं उपरूपक की भिन्नता का बोध हो गया था, किन्तु इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए जितने भी सङ्केत दिये गये उनमें से एक भी सर्वग्राह्य नहीं हुआ परन्तु इतना स्पष्ट है कि रूपक की तुलना में उपरूपकों में नृत्य गीत की प्रधानता होती है। आख्यान या कथागायन तथा प्रेक्षकों को सीधे सम्बोधित करने की शैली का प्रयोग भी उपरूपकों में होता है। यद्यपि उपरूपकों

---

[1] नाटिका त्रोटकं..........नाटकवन्मतम् ।। (साहित्यदर्पण- ६/४-६)

की संख्या निर्धारित नहीं हो पाई और बाद के आचार्यों ने नये-नये उपरूपको के लक्षण दिये।

इस प्रकार आचार्यों द्वारा की गई उपरूपकों की भिन्न-भिन्न संख्या का संग्रह करने पर उनकी संख्या इस रूप मे समक्ष आती है- नाटिका (नाटी), प्रकरणिका, भाणिका, हासिका, वियोगिनी, कलोत्साहवती, चित्रा, जुगुप्सिता, चित्रताला, डिमिका, डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, षिद्गक, प्रेरण, रामाक्रीड, रागकाव्य, हल्लीश, रासक, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, त्रोटक, गोष्ठी, दुर्मल्लिका, भाणी, श्रीगदित, नाट्यरासक, उल्लाप्य, प्रेक्षण, संल्लापक, कल्पवल्ली, परिजातक, मल्लिका, विलासिका, दुर्मिलिता, नर्तनक।

इन उपरूपकों में कुछ ऐसे भी उपरूपक है जिनका उल्लेख एक ही आचार्य ने किया है जैसे- 'कर्ण' अग्निपुराण। मल्लिका का शारदातनय ने, कल्पवल्ली का भावप्रकाश ने, परिजातक का भावप्रकाश ने, दुर्मीलिता का नाट्यदर्पण मे, विलासिका का साहित्यदर्पण में तथा नर्तनक का नाट्यदर्पण में उल्लेख है।

उपरूपकों की संख्या आदि के विषय में आचार्यों का इतना वैमत्य लोक में इसके स्वतन्त्र विकास की सिद्धि करता है।

नाटिका- प्रमुख उपरूपकों में वर्णित नाटिका के स्वरूप के विषय में आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। नाट्यशास्त्र के एक स्थल पर (जिसके क्षेपक होने का सन्देह होता है किन्तु इस बात का विशेष कारण नहीं है) रूपक के एक प्रकार 'नाटी' का उल्लेख किया गया है जिसको परवर्ती काल मे नाटिका की संज्ञा प्राप्त हुई। भरतमुनि एवं अग्निपुराण ने नाटिका को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार नहीं किया है। भरतमुनि का मत है कि नाटक व प्रकरण के योग से नाटिका बनती है 'प्रत्याख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणौ च। भावप्रकाशकार शारदातनय ने नाटिका

को रसाश्रित बताते हुए नाटक व प्रकरण मे नाटिका का अन्तर्भाव किया है अर्थात् नाटिका प्रकरण व नाटक से अभिन्न रूप ही है।[1]

आचार्य धनञ्जय ने भी नाटिका के संदर्भ में भरतमुनि का ही अनुसरण किया है कि नाटिका नाटक व प्रकरण का मिश्रण है इसी कारण नाटका के बाद इसका उल्लेख किया है। विश्वनाथ के मतानुसार[2] "नाटिका में चार अङ्क होते हैं। कथानक कवि कल्पित होता है तथा नायक धीरललित होता है। स्त्री पात्रो की प्रधानता होती है।" नायिका अन्तःपुर से सम्बद्ध, राजकुलोत्पन्न, संगीत कला निपुण होती है।[3] नायक नायिका का मिलन राजमहिषी के अधीन रहता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है। चार अङ्कों से युक्त कैशिकी वृत्ति चारों अङ्कों में होती है तथा मुखप्रतिमुख व निर्वहण सन्धियाँ भी होती हैं। विमर्श सन्धि यदि होती है तो अल्प। नाटिका का नामकरण भी नाटिका की नायिका के नाम पर होता है रत्नावली, प्रियदर्शिका, चन्द्रकला, कर्णसुन्दरी इसके उदाहरण हैं।

नाटिकाओं के शास्त्रीय सिद्धान्त के विषय में अभिनवगुप्त का विवेचन भरतानुसार ही है। दशरूपककार के मतानुसार नाटिका का कथानक प्रकरण की तरह एवं नायक नाटक के नृप के समान होना चाहिए। यद्यपि नाटक का नायक धीरोदात्त है और नाटिका का नायक धीरललित होता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दशरूपककार का तात्पर्य यहाँ नायक के राजकुलोत्पन्न प्रख्यात होने से है।

दशरूपककार ने यह भी कहा है कि नाटिका एक या दो अङ्कों की भी हो सकती है किन्तु इनका यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि चार सन्धियों तथा

---

[1] भावप्रकाश, पृष्ठ-२४३

[2] नाटिकाक्लृप्तवृता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।। (साहित्यदर्पण- ६/२७०)

[3] स्यादन्तः पुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवशजा।। (साहित्यदर्पण- ६/२७०)

रस की सिद्धि एक या दो अङ्कों की नाटिका मे नही हो सकती। कैशिकी वृत्ति के चार अङ्क भी कम से कम चार अङ्को की अपेक्षा रखते हैं।

नाट्यदर्पणकार ने नाटिका को 'स्त्रीमहाफला' और 'अख्याति ख्याततः 'कन्या देवोर्नाटी चतुर्विधा' कहा है अर्थात् इसमे कन्या और देवी दो नाटिकायें होती हैं। दोनों के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध होने से दो-दो प्रकार की होने से नाटिका को चार प्रकार का बताया है।

नाटिका में संदर्भ मे सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश मे बताया कि जिसमें कैशिकी वृत्ति के सभी अङ्ग हों, शृंगार के दोनों पक्षों का निवेश हो, चार अङ्क हों, हास-परिहास से युक्त घटनायें हों उसे नाटिका समझना चाहिए।

दशरूपककार धनञ्जय ने नाटिका को सङ्कीर्ण रूपक भेदो में परिगणित किया है।

इसप्रकार सभी परवर्ती आचार्यो ने लगभग भरत के ही सिद्धान्तों को अपनाया क्योंकि नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटिका के स्वरुप की विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या की है।

प्रकरणिका- इस भेद का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे है तथा इसे नाटिका की ही तरह चार अङ्कों वाली कहा गया है 'एवं (नाटिकावत्) प्रकरणी कार्या चतुरङ्कापि सा भवेत'[1]। प्रकरणिका के प्रसङ्ग मे दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने इसे रूपक की स्वतन्त्र विधा के रूप में अस्वीकार किया है जो उचित ही है क्योंकि रूपक भेदों के तीन निर्धारक तत्त्वों वस्तु, पात्र, रस की दृष्टि से यह प्रकरण ही है किन्तु विश्वनाथ ने प्रकरणिका को स्वीकार किया है।

साहित्यदर्पणकार ने प्रकरणिका का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिसमें नायक तो व्यापारी हो और नायिका उसकी सजातीय हो उस नाटिका को प्रकरणी कहते हैं।[2]

---

[1] विष्णुधर्मोत्तरपुराण- ३/१७

[2] नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।

नाट्यदर्पणकार ने प्रकरणिका मे चारो भारती आदि वृत्तियाँ स्वीकार की हैं।

भाणिका- कुछ नाट्याचार्यों ने 'भाणोऽपि च भाणिका भवति' यह कहकर भाणिका को भाण के समान बताया है। यह भाण का सजातीय उपरूपक है। भावप्रकाश में तथा साहित्यदर्पण में इस उपरूपक का उल्लेख मिलता है। भावप्रकाश में कहा गया है कि विष्णु के चरित से युक्त तथा स्वीकृत गाथा आदि वर्ण और मात्राओं वाला भाण भी सुकुमार प्रयोग के दिखाने के कारण 'भाणिका' कहलाता है। यह दिव्य चारियों से रहित तथा ललित करणों से युक्त होती है। इसमें भाण की तरह दस लास्याङ्ग तथा मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं। शृंगार रस अङ्गी होता है। कथा अल्पवृत्त वाली होती है। विदूषक, पीठमर्द एवं विट पात्र होते है।[1]

साहित्यदर्पण के अनुसार इसमे "कैशिकी व भारती वृत्तियाँ होती हैं। यह एक अङ्क का होता है। इसमें नायिका उदात्त होती है और नायकमन्द।"[2] इसमे सात अङ्ग होते हैं- उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति, संहार। भावप्रकाश में इसका उदाहरण- 'वीणावती' तथा साहित्यदर्पण में 'कामदत्ता' है।

डोम्बी- दशरूपककार ने इसे भाण के समान नृत्य के सात भेदों में गिना है। भावप्रकाश[3] में डोम्बी के स्वरूप की चर्चा दिखाई देती है। इनके अनुसार डोम्बी की नायिका भी भाणिका की तरह उदात्त होती है, तथा इसमें एक अङ्क होता है। प्रायः

समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका।। (साहित्यदर्पण- ६/३०६)

[1] गर्भावमर्शहीना च मुखादित्रयभूषिता।
स्वल्पवृत्तप्रबन्धा च पीठमर्द विटान्विता।
विदूषकेण सहिता दशलास्यसमन्विता।। (भावप्रकाश- ९/२६)

[2] कैशिकी भारतीवृत्तियुक्तैकांक विनिर्मिता।
उदात्तनायिका मन्दपुरुषाजाङ्गसप्तकम् ।। (साहित्यदर्पण- ६/३१०)

[3] डोम्ब्येव भाण्डिकोदात्तनायिकैकाङ्कभूषिता।
कैशिकीभारतीप्राया वीरशृंगारमेदुरा।।
श्लक्षणनेपथ्यभाङ्मन्दोत्साहा पूरुषनायिका।। (भावप्रकाश- ९/१०)

कैशिकी तथा भारती वृत्तियां होती है। वीर तथा श्रृंगार रस होते हैं। इसमे नेपथ्य का रचना विधान सुन्दर होता है। मन्द उत्साह वाली पूरुष-नायिका होती है। इसके सात अङ्ग होते है। इसमें दस लास्याङ्गो का प्रयोग होता है।

गोष्ठी[१]- साहित्यदर्पण मे गोष्ठी उपरूपक का वर्णन किया गया है। गोष्ठी यह एकांकी उपरूपक है। इसमें पन्द्रह-सोलह पात्र होते हैं जिसमे नौ या दस प्राकृत पुरुष तथा पाँच-छः स्त्रियॉ होती हैं। सभी पात्र जनसाधारण से लिये जाते हैं और सामान्य जन जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसमे गर्भ व विमर्श सन्धि नही होती है मुख तथा निर्वहण, प्रतिमुख ये तीन सन्धियाँ होती है क्योंकि इसमें संघर्ष अधिक नहीं होता है। इसमें उदात्त वचनों से रहित कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है तथा काम श्रृंगार की प्रधानता होती है।

नाट्यरासक- यह भी एकांकी उपरूपक है। नाट्यदर्पण में परिभाषा दी गई है कि बसन्त आने पर स्त्रियाँ प्रेम के आवेश में भरकर जब राजाओ के चरित्र को नृत्यगीत के द्वारा प्रस्तुत करती हैं तब उसे 'नाट्यरासक' की संज्ञा प्राप्त होती है।

भावप्रकाश के अनुसार आठ, सोलह या बारह स्त्रियाँ पिण्डीबन्ध होकर नृत्य करती हैं तो उसे 'रासक' कहते हैं। नृत्य के द्वारा तीन या चार खण्डो मे बट जाना चाहिए। रासक के अन्त मे शुभ प्रयोजन के लिए मङ्गलाचरण करना चाहिए- 'कथयेद्रापकस्यान्ते शुभार्थं वचनक्रमम्'।[२]

साहित्यदर्पण[३] के अनुसार इसमें लय व ताल अधिक होते हैं। नायक उदात्त होता है। पीठमर्द उपनायक होता है। श्रृंगार सहित हास्य रस अङ्गी होता है। नायिका वासकसज्जा होती है। मुख तथा निर्वहण सन्धि होती है, लास्य के दस अङ्ग होते है। कुछ लोग इसमें प्रतिमुख के अतिरिक्त चारों सन्धियाँ मानते है।

---

१ साहित्यदर्पण- ६/२७४

२ भावप्रकाश- ९/३५

३ साहित्यदर्पण- ६/२७७-२७८

काव्य- साहित्यदर्पण के अतिरिक्त अग्निपुराण एवं भावप्रकाश मे भी काव्य को स्थान दिया गया है। भावप्रकाशकार ने इसमें सभी वृत्तियाँ मानी है किन्तु विश्वनाथ ने आरभटी को स्वीकार नहीं किया है तथा यह एक अङ्क वाला माना गया है। दोनो ने (साहित्यदर्पण, भावप्रकाश) इसे गर्भ एवं अवमर्श से रहित तीन सन्धियों से युक्त माना है। विश्वनाथ[१] ने हास्य रस से व्याप्त तीन गीतों से युक्त वर्णमात्रा, छगणिकाख्य छन्दो से युक्त, शृंगारभाषित मनोहर तथा नायक व नायिका के उदात्त होने पर 'काव्य' उपरूपक कहा है।

प्रेक्षण या प्रेङ्खण- भावप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं नाट्यदर्पण में स्वीकृत प्रेक्षण उपरूपक है। नाट्यदर्पण में कहा गया है गलियों में, समूह में चौराहों पर मद्यशालाओं में जो बहुत से पात्र मिलकर विशेष प्रकार के नृत्य के द्वारा किसी वस्तु का प्रदर्शन करते हैं वह 'प्रेङ्खण' कहलाता है।

भोज ने प्रेक्षणक के दो भेद किये हैं- (क) प्रेक्षणक (ख) नर्तनक। किन्तु भावप्रकाश में प्रेक्षणक में ही नर्तनक का प्रयोग हुआ है।

यह एक अङ्क का होता है। इसमें नायक को अस्वीकार किया गया है (साहित्य दर्पण) किन्तु शारदातनय ने उत्तम, अधम, कोटि का स्वीकार किया है। प्रेक्षण गर्भ एवं अवमर्श से रहित तीन सन्धियो से युक्त होता है।[२] साहित्यदर्पण[३] के अनुसार इसमें युद्ध सम्फेट व सभी वृत्तियॉं होती हैं तथा सूत्रधार, प्रवेशक, विष्कम्भक नहीं होते हैं।

भावप्रकाश के अनुसार इसमें मागधी, शौरसेनी भाषा का प्रयोग अधिक होता है यह रस एवं भावों से युक्त होता है। इसमें नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य में पढ़ी जाती है। इसका उदाहरण 'बालिवध' है।

---

[१] साहित्यदर्पण ६/२८४

[२] भावप्रकाश- ९/३०

[३] साहित्यदर्पण- ६/२८६-२८७

रासक- भावप्रकाश के अनुसार मण्डल रूप में जो नृत्य होता है वह 'रासक' कहलाता है। 'मण्डलेन तु यन्नृत्तं तद्रासकमिति स्मृतम्'।[1] साहित्यदर्पण[2] के अनुसार इसमें पाँच भाग होते है। मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। यह भाषा और विभाषा (प्राकृतभेद) से व्याप्त, भारती, कैशिकी वृत्तियो से युक्त सूत्रधार से रहित एक अङ्कों वाला वीथ्यङ्गों और कलाओं से युक्त होता है। इसमें नान्दी श्लिष्ट होती है। नायिका प्रसिद्ध व नायक मूर्ख होता है तथा यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों से युक्त होता है।

श्रीगदित- नाट्यदर्पण[3] एवं भावप्रकाश[4] के अनुसार जिसमे कोई कुलाङ्गना अपने पति के शौर्य, त्याग आदि गुणों का गीत के माध्यम से अपनी सखी के सामने उसी प्रकार वर्णन करती है मानो लक्ष्मी विष्णु के गुणों का वर्णन कर रही हो फिर अपने पति के द्वारा वियुक्त उसके गीत का स्वर क्रमशः उपालभ्यपरक होता जाता है उसे 'श्रीगदित' कहते हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार, प्रसिद्ध कथा वाला एक अङ्क से युक्त प्रसिद्ध, धीरोदात्त नायक से युक्त प्रख्यात नायिका वाला उपरूपक श्रीगदित कहलाता है। इसमें गर्भ व विमर्श सन्धि नहीं होती, श्रीशब्द एवं भारतीवृत्ति की अधिकता होती है।

भावप्रकाश के अनुसार इसमें कही-कही विप्रलम्भ शृंगार रस का प्रयोग होता है।

विलासिका- इसका एक मात्र उल्लेख साहित्यदर्पण में प्राप्त होता है। शृंगार बहुल एक अङ्क वाली, दस लास्याङ्गों से युक्त, विदूषक विट और पीठमर्द से सुभूषित गर्भ और विमर्श सन्धियों से रहित, हीनगणनायक से युक्त, अल्प कथा वाली, सुन्दर वेषादि से युक्त विलासिका होती है।[5]

---

1. भावप्रकाश- ९/४५
2. साहित्यदर्पण- ६/२९०
3. नाट्यदर्पण पृष्ठ- १९०
4. भावप्रकाश ९/१३
5. साहित्यदर्पण ६/३०१

हल्लीस- अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती[1] में कहा है कि यह एक प्रकार का नृत्य होता है जिसमें आठ दस स्त्रियाँ मण्डल बनाकर तथा एक नायक को मध्य में रखकर उसी प्रकार नाचती हैं जिस प्रकार व्रजभूमि मे गोपी कृष्ण नृत्य की परिपाटी है। हल्लीस एक अङ्क का होता है। उदात्त वाणी से युक्त नायक और उज्जवल कैशिकी वृत्ति होती है तथा ताल एवं लय का बाहुल्य होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।[2]

भाव प्रकाश के अनुसार इसमें ललित, दक्षिण, प्रसिद्ध पाँच छः नायक होते हैं। क्षत्रिय या ब्राह्मण, वैश्य पुत्र होते है, तथा इसके कार्यों की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है।[3]

प्रस्थान- प्र उपसर्ग स्थित्यर्थस्था धातु में लगाकर प्रस्थान बना है। इसमें दो अङ्क होते हैं। इसका नायक दास होता है। नायिका दासी होती है, तथा उपनायक हीन पात्र होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें भारती व कैशिकी वृत्ति होती है किन्तु भावप्रकाश के मत से इसमें केवल कैशिकी वृत्ति होती है।

अभीष्ट अर्थ का उपसंहार सुरापन के द्वारा किया जाता है तथा ताल व लय का इसमें मिश्रण रहता है और विलास की अधिकता होती है। भावप्रकाश के अनुसार यह विट, चेट आदि नायकों से युक्त निर्वहण सन्धि से युक्त होता है।[4]

शिल्पक- साहित्यदर्पण[5] में इसके चार अङ्क कहे गये हैं। इसमे चारों वृत्तियाँ होती हैं, शान्त हास्य रस से वर्जित तथा ब्राह्मणनायक होता है इसमें हीन पुरुष उपनायक होता है। यहाँ श्मशानादि का वर्णन होता है। भावप्रकाश के अनुसार इसमें

---

१ अभिनवभारती- भाग-१, पृठ- १८३

२ साहित्यदर्पण- ६/३०७

३ भावप्रकाश- ९/४९

४ भावप्रकाश- ९/२७

५ साहित्यदर्पण- ६/२८२-८३

नायिका पुनर्विवाहिता कन्या या सचिव और ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या होनी चाहिए। प्रयत्न, उत्कण्ठा के सत्ताईस अङ्ग होते हैं।[१]

संलापक- साहित्यदर्पण[२] के अनुसार इसमें तीन या चार अङ्क होते हैं। नायक पाखण्डी होता है शृंगार और करुण के अतिरिक्त अन्य रस होता है इसमें नगर, निरोध, छलयुक्त संग्राम और विद्रव होते हैं, किन्तु भारती व कैशिकी वृत्ति नहीं होती है। भावप्रकाशकार ने प्रतिमुख के अतिरिक्त चार सन्धियाँ मानी है।[३]

उल्लोप्यक- उत् उपसर्ग के साथ लप् धातु से बना है। भावप्रकाश[४] के अनुसार यह एक अङ्क का होता है जो अवमर्श सन्धि से रहित, जिसमें निष्प्रवृत्ति विधान हो तथा हास्य शृंगार व करुण रस हो वह 'उल्लोप्यक' कहलाता है। इसमें पात्रों की वेशभूषा चमकीली रखी जाती है तथा मुखौटे का प्रयोग होता है। साहित्यदर्पण के मत[५] से इसमें धीरोदात्त नायक एवं कथा दिव्य होती है। इसमें संग्राम बहुत होता है। यहाँ चार नायिकायें होती हैं।

नर्तनक- इस उपरूपक की चर्चा स्वतन्त्र रूप से किसी शास्त्रकार ने नहीं की है किन्तु नाट्यदर्पण के उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह एक प्रचलित उपरूपक था।[६] भावप्रकाश मे प्रस्थानक के निरूपण में नर्तनक को परिभाषित किया गया है।

दुर्मल्लिका- नाट्यदर्पण मे इसका नाम दुर्मिलिता लिखा गया है। जिसमें कोई दूती एकान्त में ग्राम्य कथाओं द्वारा कहीं युवक व युवतियों के प्रेम का वर्णन करती है

---

१ भावप्रकाश- ९/८
२ साहित्यदर्पण ६/२९२
३ भावप्रकाश ८/७
४ भावप्रकाश ९/४७
५ साहित्यदर्पण ६/२८३
६ नाट्यदर्पण- पृष्ठ २१५

और चौर्यरत का प्रकाशन व सलाह करती है नीच जाति की होने से धन माँगती है उसको 'दुर्मल्लिका' कहा जाता है। इस दुर्मल्लिका को कोई मतल्लिका भी कहते हैं।[1]

साहित्यदर्पण[2] के अनुसार इसमें चार अङ्क होते हैं। कैशिकी भारती वृत्ति व गर्भ सन्धि से रहित, होती है। नायक छोटी जाति का होता है। प्रथम अङ्क तीन द्वितीय पाँच, तृतीय, छः, चौथा दस नाड़ी से युक्त होता हैं।

मल्लिका[3]- इसका एक अन्य नाम 'मणिकुल्या' भी मिलता है। यह उपरूपक केवल भावप्रकाश में स्वीकृत है। यह एक या दो अङ्कों की होती है तथा संभोग शृंगार अङ्गी रस होता है इसमें कैशिकी वृत्ति पायी जाती है तथा विदूषक एवं विट की क्रीड़ा से युक्त होती है। इसमें पहले अलक्ष्य कथा होती है बाद में सलक्ष्य। इसमें गर्भ व अवमर्श के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ रहती हैं। इसके मणिकुल्या नाम का तात्पर्य है मणिनदी मे रहने वाले जल की तरह पूर्व रूप दिखाई नहीं देती बाद में दिखाई देती है इसी कारण मणिकल्या को मल्लिका कहते है।

परिजातक[4]- साहित्यदर्पण में इसे स्वीकार नहीं किया गया है। शारदातनय के अनुसार यह एक अङ्क वाला होता है, इसमे मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ हाती हैं। इसमे वीर तथा शृंगार रस होते हैं और देवता तथा क्षत्रिय नायक होते है। इसकी कलहान्तरिता नायिका, उदात्त नायिका अथवा भोगिनी-स्वीया गणिका नायिका होती है। इसे 'परिजातलता' कहते है कोई इसे परिजातक भी कहते हैं।

कल्पवल्ली[5]- इसकी भी चर्चा साहित्यदर्पण में नहीं की गई है। भावप्रकाश के अनुसार इसका नायक उदात्त व पीठमर्द उपनायक होता है।[1] अभिसारिका या

---

[1] एनां दुर्मल्लिकामन्ये प्राहुर्मत्तल्लिकामिति (भावप्रकाश ९/५२)

[2] साहित्यदर्पण- ६/३०३

[3] भावप्रकाश- ९/५४

[4] भावप्रकाश- ९/५६

[5] भावप्रकाश- ९/५५

वासकसज्जा नायिका होती है। यह हास्य शृंगार रस और भाव से युक्त होता है। यह तीन प्रकार के लय, दस लास्य से युक्त होता है इसमें मुख, प्रतिमुख निर्वहण सन्धियाँ होती हैं तथा उदात्त का वर्णन होने पर 'कल्पवल्ली' कहलाती है।

रामाक्रीड या प्रेरण- इसका सर्वप्रथम उल्लेख अभिनवभारती द्वारा उद्धत चिरन्तन आचार्यो के द्वारा दिये गये लक्षणों मे मिलता है जिनके अनुसार प्रहेलिकान्वित तथा हास्य प्राय नृत्य प्रेरण है। वही ऋतु वर्णन से युक्त होने पर रामाक्रीड कहलाता है।

त्रोटक[१]- त्रोटक शब्द त्रुट् धातु में ण्वुल प्रत्यय लगाकर बना है। यह शब्द नृत्य और क्षुब्ध वाणी का द्योतक है। त्रोटक का अन्तर्भाव नाटक में मानने के कारण तोटक रूपक ही है। नाटक का अनुकरण करने वाला तोटक दिव्य और मनुष्य (पात्रों) के संयोग वाला होता है। इसका उल्लेख भावप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में किया गया है। साहित्यदर्पण के अनुसार यह सात, आठ, नौ या पाँच अङ्कों से युक्त देवता और मनुष्य आश्रित दृश्यकाव्य को त्रोटक कहते हैं। इसके प्रत्येक अङ्क से विदूषक रहता है। यहाँ प्रधान रस शृंगार ही होता है क्योंकि विदूषक इसी रस में होता है।

सट्टक- सट्टक को तोटक का ही भेद कहा जाता है। नाटिका का प्रतिरूप होने से सट्टक भी रूपक कहलाता है। यह नाटिका से कुछ भिन्न हैं- इसमे प्रवेशक, विष्कम्भक नहीं होते तथा रचना प्राकृत में की जाती है। इसके अङ्कों को 'जवनिकान्तर' कहा जाता है। इसका नाम नृत्य के प्रकार का द्योतक है। सम्भव है कि इन रूपको मे इस प्रकार के नृत्यों के प्रयोग से उपरूपकों के एक भेद के रूप में सट्टक प्रारम्भ हुआ हो।

साहित्यदर्पण के मतानुसार इसमें प्रचुर अद्भुत रस होता है। सट्टक का नाम भावप्रकाश, साहित्यदर्पण[३] एवं नाट्यदर्पण में स्वीकार किया गया है। इसके सभी

---

[१] भावप्रकाश- ९/ पृष्ठ २६२

[२] साहित्यदर्पण- परिच्छेद ६/२७३

[३] साहित्यदर्पण- ६/२७६

लक्षण नाटिका के ही समान हैं। भावप्रकाश[1] में नाटिका को सट्टक नाम से कहा गया है। इसमें अङ्क के नाम पर चार यवनिका का विधान होता है। कैशिकी, भारती वृत्ति से युक्त तथा रौद्र रसादि से हीन होता है यह सभी सन्धियों से रहित होता है। इसकी शौरसैनी महाराष्ट्री वाच्य भाषा होती है।

इन सभी रूपकों उपरूपकों की संख्या तथा इनके स्वरूप को दृष्टिगत करने पर इनकी विस्तृत एवं लोकव्यापी छवि दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अनेक रूपकों, एवं उपरूपकों का परिचय केवल सैद्धान्तिक विवेचन के रूप में ही नही मिलता बल्कि शास्त्रकारो ने इनकी प्रयोगात्मक व्याख्या भी की है, जो दीर्घकाल तक लोकजीवन के प्रेरणादायी स्रोत बने रहे हैं, और आज तक इनकी लोकप्रियता तथा प्रभावशीलता में कोई न्यूनता नहीं आयी है बल्कि ये सर्वग्राह्य ही हैं।

रङ्गमञ्च की रूपरेखा

नाटक अपने प्रकृत रूप मे साहित्य की एक विधा है जो रङ्गमञ्च के बिना अपूर्ण है अतः एव रङ्गमञ्च इसका अपरिहार्य अङ्ग है। प्राचीन काल से नाट्य प्रदर्शन या तो राजमहलों मन्दिरों व गुफाओ मे होते थे या अस्थायी रङ्गमञ्च के द्योतक तम्बू आदि से बने नाट्यमंडपों में होते थे। संस्कृत रङ्गमञ्च राजतांत्रिक एवं अभिजात्य परम्पराओं से विकसित हुआ था एवं छोटे-छोटे रङ्गमञ्च की व्यवस्था होती थी। विन्सेन्ट स्मिथ[2] ने अपने इतिहास में निर्दिष्ट किया है कि रङ्गगृह अधिकांशतः राजमहलों से ही सम्बद्ध थे। विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्रम् व उत्तररामचरितम् आदि नाटको में नाट्यशाला के राजभवन तथा मन्दिरों से सम्बद्ध होने के सङ्केत मिलते हैं।

---

१ भावप्रकाश- ९/५७

२ नाट्यशिल्प और रङ्गमञ्च रामचन्द्र सरोज पृष्ठ- २२३

कामसूत्र[1] में प्रेरण तथा प्रेक्षागृह शब्द मिलते हैं। जातकों नट व नाटकों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध नाटक संघाराम में होते थे। नाट्यमंडप को 'पेच्छाघर मंडप' कहा जाता था। कई वेदियों वाले इस प्रेक्षागृह को अर्धचन्द्राकार तोरणो से सजाकर शालिभंजिकाओं तथा ईहामृगों से अलंकृत कर, सुन्दर चिकनी दिवारों पर अनेकानेक चित्र बनाये जाते थे।

प्राचीन काल से ही विविध प्रकार के नाट्यगृहों का विधान परिलक्षित होता है उन नाट्यगृहों में अवशिष्ट 'सीतावेगानाट्यगृह' का प्रमुख स्थान है। यह नाट्यगृह अर्धगोलाकार है तथा बाहर की ओर उठती हुई अर्धगोलाकार सीढियो से युक्त है। इस गुफा में पत्थरों में ऐसे छेद भी हैं जिनमें पर्दे के लिए लकड़ी की बल्लियाँ लगाई जा सकती हैं। गुफा की लम्बाई चौड़ाई का अनुपात ४६x२४ फीट है बाहर की ओर तीन-तीन कतारें सीटो की हैं जो २ १/२ फीट ऊँची ७ फीट लम्बी है, इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि दर्शक वर्षा के समय भीतर तथा शीत व ग्रीष्म मे बाहर बैठकर अभिनय का आनन्द लेते रहे होंगे।

इस प्रकार सर्वविदित सत्य यह भी है कि गुफाओं में केवल साधु सन्यासी ही नहीं रहते थे अपितु वह आमोद-प्रमोद के लिए भी प्रयुक्त होती थी क्योंकि नाट्य शास्त्र में भरतमुनि ने दो मंजिले गुफाकृति वाले सोपानकृत नाट्यगृहों का वर्णन किया है।

उपर्युक्त इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि रङ्गमञ्च का विधान प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक स्थित है। इसप्रकार क्रोचे[2] का कि नाटक की प्रस्तुति के लिए रङ्गमञ्च की आवश्यकता नहीं है, इसके अभाव में भी नाटक सम्पन्न हो सकता है यह कथन असत्यप्रतीत होता है क्योंकि नाटक को अभिनीत करने के लिए रङ्गमञ्च की व्यवस्था उसी प्रकार अपरिहार्य है जिस प्रकार बिना आधार भूमि के भवन निर्माण

---

[1] कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषाम् दद्युः कामसूत्र धूपविलेपन घटा प्रकरण १६ (नाट्यशिल्प रङ्गमञ्च रामचन्द्र सरोज पृष्ठ- २२१)।

[2] नाट्यशिल्प रङ्गमञ्च रामचन्द्र सरोज पृष्ठ- २२२ से उद्धृत।

असम्भव है, चाहे वह आधारभूमि किसी भी आकृति की हो अर्थात् समय के साथ रङ्गमञ्च का स्वरूप भी परिवर्तित हो सकता है। अतः रङ्गमञ्च को नाटक का अपरिहार्य अङ्ग कहने में अतिशयोक्ति नहीं होती।

इसप्रकार नाट्यशास्त्र को छोड़कर भारतीय वाङ्मय में प्रेक्षागृह का जो विवरण मिलता है वह अपूर्ण एवं अस्पष्ट है। नाट्योद्भव के प्रारम्भिककाल में प्रेक्षागृह राजभवनों की छत्रछाया में संगीतशाला व नृत्य-शालाओं के रूप मे पनपे और यह भी संभव है कि आर्यों की समृद्धि एवं वैभव के युग में ये रङ्गमंडप राजप्रासादों से लोक रङ्गमञ्च तक छाये।

अत एव रङ्गमञ्च विधान के संदर्भ में कुछ तथ्यों को स्पष्ट करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि प्राचीन काल से ही आचार्य भरत द्वारा विधान की गई रङ्गमञ्च की रूपरेखा किस प्रकार की है? इसलिए भरत द्वारा प्रतिपादित रङ्गमञ्च की संरचना पर विचार करना अति आवश्यक है।

आचार्य भरतमुनि प्रतिपादित नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में रङ्गमञ्च (प्रेक्षागृहों) के आकार एवं प्रकार का विस्तृत एवं विधिवत् विवेचन किया गया है। आकृति के अनुसार ये तीन प्रकार के (क) विकृष्ट, (ख) चतुरश्र, (ग) त्र्यस्र तथा इन तीनों को भी माप के अनुसार तीन प्रकार का माना गया है[१]- **क.** ज्येष्ठ **ख.** मध्य **ग.** कनिष्ठ।

इनमें ज्येष्ठ १०८ हाँथ, मध्य ६४ हाँथ तथा कनिष्ठ ३२ हाँथ लम्बा होता है।[२] ज्येष्ठ देवताओं के लिए मध्यम राजाओं के लिए तथा कनिष्ठ जनसाधारण के लिए उपयोगी होता है।[१]

---

१ विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणी प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् । (नाट्यशास्त्र २/८)

२ अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम् ।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते। (ना. शा. २/१०)

भरतमुनि ने नाट्यमण्डप (नाट्यशाला) के निर्माण के प्रसङ्ग मे सर्वप्रथम नाट्याला की विधिवत् पूजा का निर्देश दिया है। नाट्य प्रारम्भ के पूर्व यदि नाट्यशाला की पूजा नही की जाती तो नाट्यज्ञान व्यर्थ हो जाता है और नाट्यकर्ता पशुयोनि को प्राप्त करता है। इसकी विधिवत पूजा से शुभ अर्थों का लाभ व स्वर्ग की प्राप्ति होती है इसलिए नाट्यमण्डप की पूजा यज्ञ के समान श्रद्धेय एवं महत्त्वपूर्ण है जो नाट्यमंडप के निर्माण के पूर्व अनिवार्य है। इसके पूजन का एक अन्य कारण यह है कि इसकी रक्षा देवताओं द्वारा की गई एवं नाट्यगृह के मंडप की रक्षा के लिए चन्द्रमा को नियुक्त किया गया। दिशानुसार दिशाओ की रक्षा हेतु लोकपालों की नियुक्ति की गई तथा रङ्गपीठ के पार्श्व भाग में इन्द्र तथा मत्तवारिणी मे दैत्यों की नाशक बिजली को स्थापित किया गया है इसलिए प्रथम नाट्यमंडप की पूजा अति आवश्यक है।

नाट्य का प्रारम्भ नाट्यमण्डप से होता है अत एव नाट्य मण्डप निर्माण किस प्रकार का हो यह भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

नाट्यशास्त्र[२] में ज्येष्ठादि के आधार पर नौ प्रकार का तथा इन्हीं नौ भेदों को दण्ड व हस्त प्रमाण के आधार पर दो-दो भेद करके अठारह प्रकार का बताया गया किन्तु अभिनव[३] ने नौ प्रकार के ही नाट्यमण्डप माने हैं।

नाट्यविदो के मतानुसार आयताकार (विकृष्ट) को बड़ा व वर्गाकार (चतुरस्त्र) को मध्यम, तथा त्रिभुजाकार (त्र्यस्त्र) को छोटा प्रेक्षागृह कहा गया है।[४]

---

[१] देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीय संविधीयते। (ना. शा. २/११)

[२] नाट्यशास्त्र- २/१३-१६ तक ।

[३] अभिनवभारती- भाग-१, पृष्ठ- ४९

[४] 'कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्त्रं चतुरस्त्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्ट विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः।।' (नाट्यशास्त्र- २/११)

(क) विकृष्ट- सर्वप्रथम प्रयोजक अर्थात् रङ्गमञ्च निर्माता को भूमि परीक्षण करना चाहिए। शुभ रीति से निर्माण प्रारम्भ करके फिर भूमि की माप करनी चाहिए। भरत के अनुसार इसकी भूमि समतल, स्थिर, कठोर व काली मिट्टी होने पर ही नाट्यमण्डप बनाना चाहिए तथा चौसठ हॉथ लम्बी भूमि नापने के बाद दो भागों में बाँट दें और पीछे के भाग को भी दो भागो में बाँट कर रङ्गशीर्ष और नेपथ्यगृह की रचना करें।

अर्थात् नाट्यगृह का आधाभाग प्रेक्षकोपवेश तथा रङ्गभूमि के लिए होता है और उसके पीछे वाले दो भागों में विभक्त रङ्गभूमि के पिछले भाग को रङ्गशीर्ष[१] तथा आगे वाले भाग को रङ्गपीठ कहते है। रङ्गपीठ के दोनों ओर मत्तवारिणी रहती है। नेपथ्यगृह[२] के दो द्वार होने चाहिए। रङ्गशीर्ष दर्पणतल के समान बनाई जानी चाहिए।

भरतमुनि ने ध्वनि को गम्भीर करने के लिए छोटी-छोटी खिड़कियों को बनाने का वर्णन किया है जिससे वायु का प्रवेश न हो। दीवारों के बनने पर लेपन व उस पर चित्रों का अङ्कन होना चाहिए। इसप्रकार यह विकृष्ट आयताकार मण्डप बनाया जाना चाहिए।

भरत ने कहा है कि मत्तवारिणी डेढ़ हाँथ ऊँची होनी चाहिए[३] इसी के तुल्य रङ्गपीठ भी होनी चाहिए। अतः रङ्गपीठ प्रेक्षकोपवेश वाले स्थान से ऊँचा होता है तथा इन्होनें चौसठ हाँथ वाले नाट्यगृहों की व्यवस्था पर जोर दिया है क्योंकि बड़े नाट्यगृह में संवाद व अभिनय सभी दर्शकों के लिए स्पष्ट नहीं हो पाते तथा रङ्गमञ्च में गवाक्ष, स्तम्भों आदि व्यवस्था अभिनय एवं रसोद्बोधन की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर की जाती है, जिससे सर्वाङ्गपूर्ण नाट्याभिनय का सहज ही प्रयोग किया जा सके।

---

[१] नेपथ्य और रङ्गपीठ के मध्य का भाग रङ्गशीर्ष कहलाता है जहॉ पात्र नेपथ्य से आकर विश्राम करते हैं।

[२] **नेपथ्य-** कुशीलवा कुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते 'जहाँ अभिनेता नाटकोचित रूप धारण करते हैं' उसे नेपथ्य कहते हैं आजकल इसे ग्रीन हाउस कहते है।

[३] समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत् । (नाट्य २/१००)

चतुरस्र रङ्गमञ्च- चतुरस्र रङ्गमञ्च शुद्ध भूमि पर विभागपूर्वक स्थित चारों भुजाओं में बत्तीस हाँथ की नाप लेकर बनाना चाहिए। विकृष्ट नाट्यगृह की विधि लक्षण एवं माङ्गलिक कृत्यों का अनुपालन करते हुए भूमि मे भलीभाँति ईंट जमाकर दिवारे बनायें तथा भीतर रङ्गपीठ के ऊपर मण्डप को धारण करने में समर्थ दस स्तम्भ बनायें। इन स्तम्भों के आगे प्रेक्षकों के बैठने के लिए सीढ़ियो के आकार की ईंट व लकड़ी से आसन पंक्ति बनानी चाहिए। प्रेक्षागार में प्रत्येक दिशानुसार विधिपूर्वक छः स्तम्भ और स्थापित करना चाहिए। इन स्तम्भों में मण्डप धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। नेपथ्यगृह बनाने के बाद उसमे रङ्गपीठ पर प्रवेश करने वाले दो द्वार हों। दर्शकों का प्रवेश इसके सम्मुख बने दूसरे द्वार से कराये तथा रङ्गपीठ के सामने के दोनों द्वार रङ्गपीठ की ओर ही खुलने चाहिए। रङ्गपीठ चारों ओर से बराबर आठ हाँथ वाली होनी चाहिए।[१] रङ्गपीठ को वेदिका से सुशोभित करके वेदिका के दोनों ओर चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारिणी होनी चाहिए। इसमे रङ्गपीठ व रङ्गशीर्ष एक ही तल पर रहते हैं।[२]

त्रयस्र रङ्गमञ्च- त्रयस्र रङ्गमञ्च त्रिभुजाकार बनाना चाहिए। इसके बीच में त्रिकोणाकार ही रङ्गपीठ[३] तथा नेपथ्य बनाना चाहिए। इस नाट्यगृह मे प्रेक्षकों के लिए प्रवेश द्वार एक कोने पर बनाना चाहिए तथा दूसरा द्वारा रङ्गपीठ के पीछे अभिनेताओं के प्रवेश के लिए बनाना चाहिए।[४] इसप्रकार त्रयस्र नाट्यगृह निर्मित करना चाहिए।

---

[१] अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः।
चतुरश्रं समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् । (नाट्यशास्त्र २/९८)

[२] 'विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा। (नाट्य २/१००)

[३] त्रयश्रं त्रिकोणं कर्त्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठ तु कारयेत । (नाट्यशास्त्र २/१०२)

[४] द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः।। (नाट्यशास्त्र २/१०३)

अभिनवगुप्त[१] ने रूपकों के लिए अलग-अलग रङ्गमञ्च की व्यवस्था की है। इनके अनुसार समवकार व डिम आदि की प्रस्तुति के लिए ज्येष्ठ रङ्गमञ्च एवं सात्विक अभिनय से सम्बद्ध नाटक, प्रकरण व नाटिका के लिए मध्यम तथा दो तीन अभिनेता वाले प्रहसन, भाण के लिए कनिष्ठ नाट्यशाला की व्यवस्था बताई गई है।

आचार्य भरत ने नाट्यगृह का निर्माण हो जाने के पश्चात रङ्गदैवतपूजा का विधान नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में किया है।

रङ्गमञ्च विधान के बाद रङ्गदैवतपूजन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि सबसे पहले रात्रि में शरीर का मन्त्रों से पवित्र जल से प्रोक्षण करें, तीन दिन उपवास के बाद नवीन वस्त्र ग्रहण करें और नाट्याचार्य नाट्यगृह व रङ्गपीठ पर देवताओं को अधिवासित करें। इन देवताओ के सम्यक् पूजन के अनन्तर वाद्यों सहित नाट्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए जर्जर पूजन करे, तथा शास्त्रविधि से देवताओं को यथास्थान स्थापित कर पूजन करें। तत्पश्चात् मत्तवारिणी का पूजन करें। रङ्गपीठ के मध्य में पुण्यमालाओं से युक्त जल पूर्ण कुम्भ स्थापित कर वाद्ययन्त्रों को वस्त्र से ढ़ककर गन्धमाला, धूपादि से पूजन करना चाहिए। पुनः देवताओं एवं जर्जर की पूजा करके मन्त्र एवं आहुति से अग्नि में हवन करना चाहिए। हवन के पश्चात् प्रयोजक जलती समीधा से परिमार्जन करे जिससे राजा व नर्तकी की वृद्धि हो और इनका जल से प्रोक्षण करके आशीर्वचन कहे।

तत्पश्चात् कुम्भ को फोड़े। ऐसा माना जाता है कि कुम्भ के न फूटने पर राजा को शत्रुभय होता है तथा फूटने पर शत्रु नाश। कुम्भ के फूटने के बाद जलती दीपिका लेकर रङ्गमञ्च प्रकाशित करें तथा शंख, मृदङ्ग, पणव आदि वाद्ययन्त्रों के वादन के साथ रङ्ग में युद्ध कराना चाहिए। इसप्रकार विधिपूर्वक रङ्गपूजन होना चाहिए "यह यज्ञ के समान कल्याणकारी होता है और उसे सम्पादित करना आवश्यक है क्योंकि इसके

---

[१] डिमादौ आरभटीप्रधाने वितत रङ्गपीठोपयोगात् (अभिनवभारती २/११) नाटकादि प्रयोग सौकर्य भावात् मध्यम एव युक्तः २/१६, शेषास्तु प्रकृतयोभाणप्रहसनादौ... एवम्भूत प्रकृति प्रयोगे कनीयः प्रमाणो मण्डप इति। (अभिनवभारती-भाग- २/११)।

न करने पर आँधी से प्रज्जवलित अग्नि भी उतनी शीघ्रता से भस्म नहीं करती जितनी तेजी से नाट्य का अशुद्ध प्रयोग करता है।''[1]

इसप्रकार प्रयोक्ताओं को नवीन नाट्यगृह मे अभिनय के प्रारम्भ मे इसका अनुष्ठान अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

प्राचीन संस्कृत नाटकों का मञ्चन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कृत रङ्गमञ्च की प्रासङ्गिकता- रङ्गमञ्च ऐसी विधा है जिसमें हमारे सांस्कृतिक तत्त्व सर्वाधिक प्रतिफलित होते हैं एवं हमारी संस्कृति स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। प्राचीनकाल में नाटक कला समृद्ध नहीं थी और मञ्चन खुले आकाश के नीचे होता था। नाट्यशास्त्र मे 'असुरपराजयनामक' नामक प्रथम नाट्य प्रयोग का मञ्चन खुले आकाश के नीचे खुले मञ्च पर किया गया था जो इसका पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इस विषय में भरत ने नाट्यमण्डप के लिए द्वार, मत्तवारिणी, रङ्गप्रसाधन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जिससे रङ्गमञ्च की सुदीर्घ परम्परा का ज्ञान होता है कि इस समय पूर्णतया समृद्ध एवं स्वतंत्र रङ्गमञ्च निर्मित होने लगा और उसमें पूर्ण निष्ठा के साथ सदियों तक नाट्य प्रयोग होते रहे, अतएव रङ्गमञ्च के निर्माण की पद्धति पुष्ट थी यह नाट्यशास्त्र से ही स्पष्ट हो जाता है।[2]

वस्तुतः संस्कृत नाटकों को यदि अभिनय की कसौटी पर परखा जाय तो स्पष्ट है कि उसमें बहुत कम नाटक ही सफल होंगे क्योकि संस्कृत के नाटककारों ने नाटकों को एक मात्र उद्देश्य नाट्यशालाओं में प्रदर्शन हेतु नहीं लिखा तथा रङ्गमञ्चीय विधानो के अनुरूप नाट्य तत्वों के साँचों मे अपने नाटकों को ढ़ालने की अपेक्षा उसमें दृश्यात्मकता व श्रव्यात्मकता को अधिक उपयुक्त माना। यदि सामान्य रूप से देखा

---

१ 'न तथा प्रदहत्यग्निः प्रभञ्जनसमीरितः।
यथा ह्रदयप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् । (नाट्यशास्त्र- ३/९९)

२ नाट्यशास्त्र- अध्याय २।

जाय तो रङ्गमञ्चीय विधानों के आधार पर संस्कृत नाटकों की समीक्षा व मूल्यांकन करने के पक्ष में स्वयं भरत भी दिखाई नहीं देते।

सामान्यतः संस्कृत नाटककारो का उद्देश्य नाटको को नाट्यशालाओं में प्रदर्शित करने की चाह नहीं थी। यही कारण है कि नाट्यशालाओं की अपेक्षा ग्रन्थ शालाओं में बैठ कर भी पाठक उसमें उतना मनोरंजन प्राप्त कर सकता है जितना रङ्गमञ्च पर दर्शक। संस्कृत नाटकों की समीक्षा सन्दर्भ में यह अविस्मरणीय है कि ये प्रेक्ष्य व पाठ्य दोनों हैं। रङ्गमञ्च पर उनसे जो आनन्द प्राप्त हो सकता है वही आनन्द घर में बैठकर पढ़ने पर भी प्राप्त किया जा सकता है।

संस्कृत नाटककार नृत्य, गीत, वाद्य, अभिनय आदि शास्त्रीय विधि-विधानो के जानकार थे और अपने नाटकों मे भी उसका निर्वाह करते हुए एक ओर तो साहित्यिक कृतित्व की गरिमा को और दूसरी ओर नाट्यविधानों का समावेश किया।

नाट्यशास्त्र के पश्चात् हमारी रङ्गमञ्चीय परम्परा संस्कृत के भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति व शूद्रक आदि के नाटकों व अभिनयों से समृद्ध एवं विकसित हो गई। संस्कृत नाटकों की प्रस्तावनाओं से विदित होता है कि उसको अभिनय की दृष्टि से लिखा गया था अर्थात् प्रत्येक नाटक के आरम्भिक नान्दी पाठ में सूत्रधार या नट-नटी द्वारा नाटककार ने यह प्रतिज्ञा करायी है कि उसका कृतित्व अभिनेय है और उसे दर्शकों के मनोरञ्जनार्थ लिखा गया है। इसी के साथ इनसे यह भी सूचित होता है कि इस कारण नाटकों की रचना होती थी तथा कालिदास हर्ष एवं भवभूति आदि के नाटकों में रङ्गमञ्च का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसप्रकार संस्कृत नाटकों के रङ्गमञ्च पर अभिनीत होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

संस्कृत साहित्य में भास के नाटको से लेकर आज तक अनेक नाटक लिखे गये किन्तु सभी की समीक्षा न तो सम्भव है न समीचीन ही। इसलिए कुछ नाटकों के संदर्भ में यहाँ विचार करेंगे।

भास के सभी नाटकों को विद्वानों ने अभिनेय व रङ्गमञ्च के लिए सर्वथा उपयुक्त कहा है, क्योंकि रङ्गमञ्चपर नाटकों के अभिनय की मूर्त परम्परा इन्हीं के नाटकों से आरम्भ हुई तथा इसी अभिनेयता के कारण इनकी लोकप्रियता प्रतिष्ठित हुई। इनके नाटकों के अन्तःसाक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उस समय अभिनय के लिए सम्पन्न नाट्यशालाओ की व्यवस्था थी। प्रतिमानाटक के आरम्भ मे लिखा हुआ है कि महाराज रामचन्द्र के राजभवन मे एक पथ्य शाला या नाट्यशाला थी। प्रस्तावना मे प्रतिहारी कहता है आर्य सारिके, संगीतशाला मे जाकर अभिनेताओ से कहो कि वे आज एक सामाजिक अभिनय दिखाने की तैयारी करें। इस सन्दर्भ से यह प्रतीत होता है कि प्रतिमानाटक का अभिनय शरद ऋतु मे हुआ। इसी प्रकार भास के अन्य नाटकों की प्रस्तावनाओं से भी उनके अभिनीत होने के प्रमाण मिलते है।

भास के ही स्वप्नवासवदत्ता एवं शूद्रक के मृच्छकटिकम् आदि नाटकों की विवेचना से भी इसमें व्याप्त रङ्गमञ्च तथा इसका संरचनात्मक रूप आनन्दोल्लास विजययुक्त प्रतीत होता है। जो माङ्गलिक भावनाओ से पूर्ण है। इसप्रकार संस्कृत रङ्गमञ्च व नाटक के साथ भारतीय जीवन दर्शन की अन्तः-सलिला एवं प्राकृतिक चित्रण का बाहुल्य प्रतीत होता है।

भास के बाद कालिदास ने नाटकों में नाट्यशास्त्रीय विधानों का पूर्ण निर्वाह किया जिसमें अभिनय कला का महत्त्व दिखाई देता है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के आरम्भिक मङ्गलाचरण में भगवान शिव के आठ रूपो को वर्णित किया तदनन्तर नान्दीपाठ की समाप्ति पर सूत्रधार द्वारा यह कहलवाया कि 'विद्वानों से मण्डित विक्रमादित्य की सभा में अभिज्ञान शाकुन्तल का अभिनय करना चाहिए' इससे यह सिद्ध होता है कि इनके जीवन काल में इसका अभिनय हो चुका था। इसके साथ ही रङ्गशाला में इसका अभिनय हुआ इसकी पुष्टि में सूत्रधार द्वारा कहलाया गया यह संवाद कि- 'वाह आर्ये तुमने बहुत अच्छा गाया तुम्हारा ग्रीष्म ऋतु

का सान्ध्यराग सुनकर दर्शक ऐसे मंत्रमुग्ध हो गये कि सारी रङ्गशाला चित्रलिखित सी हो गई।

इसके नाट्यशाला में अभिनीत होने का एक अकाट्य प्रमाण अभिज्ञान (अङ्क पाँच) में और दिखाई देता है कि संगीतशाला में देवी हंसपदिका स्वरसाधना करती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय का अभिनय विक्रमादित्य की सभा में हुआ। नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा उसकी स्पष्ट घोषणा दिखाई देती है। जहाँ पारिपाश्विक को सम्बोधित कर सूत्रधार कहता है- मारिष पुराने कवियों के नाटक अनेक बार देखे गये आज मैं नवीन विक्रमोर्वशीय को दिखाना चाहता हूँ।

इसीप्रकार मालिविकाग्निमित्रम् नाटक में भी विक्रमादित्य की सभा में बसन्तोत्सव पर अभिनीत किये जाने का उल्लेख नाटक में ही किया गया। इस नाटक की प्रस्तावना में पारिपाश्वक द्वारा यह जिज्ञासा करने पर कि भास सौमिल्ल जैसे नाटककारों के नाटकों का अभिनय देखने हेतु क्यों उत्सुक हैं सूत्रधार कहता है- कि पुराने होने से ही न सब अच्छे होते हैं और न नये होने पर ही सब बुरे होते हैं, विद्वान परख कर अच्छे को अपना लेते हैं किन्तु अनभिज्ञ ऐसा नहीं करते। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक की प्रस्तावना से यह ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला के प्रशिक्षण के लिए संगीतशालाओं और नाट्यशालाओ का प्रबन्धन था तथा मालविकाग्निमित्रम् के दूसरे अङ्क में भी नेपथ्य, प्रेक्षागृह और यवनिका का विवरण मिलता है जो इसके लिए उचित साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

शूद्रक के काल में भी मृच्छकटिक जैसी बड़ी प्रकरण रचना के अभिनय के लिए सर्वसाधन सम्पन्न शास्त्रीय विधि से तैयार की गई नाट्यशाला वर्तमान थी। जिसका प्रमाण इसकी प्रस्तावना में मिलता है जहाँ सूत्रधार कहता है कि आप आदरणीय जनों के लिए मैं प्रकरण अभिनय हेतु उद्यत हूँ तथा उसके इस कथन कि- अरे हमारी संगीतशाला तो खाली है। इन कथनों स्पष्ट होता है कि इसका अभिनय संगीतशाला में हुआ था।

इसी क्रम में राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना से यह ज्ञात होता है कि इसका अभिनय रङ्गशाला में हुआ। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक की प्रस्तावना से भी यह विदित होता है कि इसका अभिनय परिषद् के समक्ष हुआ क्योंकि शरद् ऋतु मे अभिनीत इस नाटक की नाट्यशाला में सूत्रधार दर्शकों के समक्ष यह कहता है कि परिषद् ने मुझे आज्ञा दी है कि आज मुझे इस नाटक का अभिनय करना है।

इसी प्रकार भट्टनारायण का वेणीसंहार भी शरद् ऋतु में दर्शकों व श्रोताओं के समक्ष रङ्गमञ्च पर अभिनीत हुआ।

भवभूति के तीनों नाटक भगवान कालप्रियानाथ महादेव की यात्रा के अवसर पर सामाजिको के समक्ष अभिनीत हुए। रङ्गमञ्च पर अभिनीत होने वाले इनके नाटकों में उत्तररामचरितम् की प्रस्तावना से यह विदित होता है कि इस नाटक मे विराट रङ्गमञ्च की कल्पना है, जो मुक्ताकाश रङ्गमञ्च पर अभिनीत हुआ जहाँ रामायण देखने के लिए देव, असुर, निमंत्रित थे तथा नाट्य प्रयोग की सिद्धि एवं बाधा के लिए रङ्गप्राश्निक भी थे किन्तु स्पष्ट रूप से विचार करने पर भवभूति कल्पित प्रेक्षागृह लोकरङ्गमञ्च का निकटवर्ती प्रतीत होता है।

इसी संदर्भ में यदि हम हर्ष की कृतियों का पर्यविक्षण करें तो इनकी प्रस्तावनाओं से यह विदित होता है कि हर्ष के अधीन देश-देशान्तरो से आये राजाओं की गुणग्राहिणी परिषद् के समक्ष इसका अभिनय किया गया।

हर्ष के बाद संस्कृत नाटकों की स्थिति ठीक नहीं थी क्योंकि मध्ययुग में तुर्कों के आक्रमण ने संस्कृत व प्राकृत नाटकों को धराशायी कर दिया। इस समय अनेक नाट्य प्रतिमायें तो उदित हुई किन्तु रङ्गभवनों के अभाव में उन नाटकों का मञ्च पर प्रयोग न होकर विद्वानों के मध्य पाठ होता था।

इसप्रकार एक ओर तो संस्कृत नाटकों से नाट्यकला की मूर्त परम्परा की प्रतिष्ठा हुई और इसकी निरन्तर उन्नति होती रही तथा इसके अभिनय के लिए राजदरबारों एवं सार्वजनिक स्थानों पर नाट्यशालाओं का निर्माण हुआ तथा दूसरी ओर

संस्कृत नाटकों के ह्रास के बाद भारत में लोकनाट्य की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा ने करवट ली, जो लोकानुंरजन के लिए मनोरंजन का श्रेष्ठ माध्यम बनी तथा इस साहित्य के अभिनय कला का जीवित इतिहास उसके द्वारा आगे की पीढ़ियों को प्राप्त होता रहा।

वस्तुतः निष्कर्ष रूप में नाट्यशास्त्रोपदिष्ट समूची नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं को भास, कालिदास, शूद्रक भवभूति आदि की नाट्यकृतियों के आलोक में देखें तो इसका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता, क्योकि प्रेक्षागृह की संरचना मञ्चीय संविधानक तथा समूचे रङ्ग की तकनीकी से नाट्य प्रयोग सर्वथा पृथक है। स्वप्नवासवदत्ता, अभिज्ञानशाकुन्तल, मृच्छकटिकम् उत्तररामचरितम्, आदि कृतियाँ नाट्य प्रयोग मात्र हैं। इसप्रकार इन रचनाओं में भरतसम्मत रङ्गपरम्परा का केवल व्यवहारिक रूप साकार हुआ।

संस्कृत-साहित्य की प्राचीन प्रेक्षागृह सम्बन्धी मान्यता का अवलोकन करने पर यह विदित होता है कि वर्तमान संदर्भ में यह कुछ प्राचीन हो चुकी है, क्योंकि पहले नाटक में रस प्रक्रिया को ध्यान में रखकर प्रेक्षागृहों की व्यवस्था होती थी तथा रसोद्‌बोधन के लिए दर्शकों के अभिनय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भङ्गिमाओं को समझने की आवश्यकता होती थी इसलिए छोटे प्रेक्षागृहों मे थोड़े विशिष्ट दर्शकों के बैठने की व्यवस्था रहती थी, किन्तु आज नाटक के समक्ष बहुसंख्यक वर्ग की रीति, नीति, विश्वासों का प्रतिनिधित्व करने की समस्या है इसलिए बड़े प्रेक्षागृहों की आवश्यकता है। पहले रसोद्बोधन की दृष्टि से किये जाने वाले नाट्य प्रदर्शन की परिभाषा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में असंगत प्रतीत होती है क्योंकि आज संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन का उद्देश्य, संघर्षशील जीवन के यथार्थ को तथा सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं के प्रत्येक स्तर को जीवन्त करना है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि नाट्यशास्त्र एवं संस्कृत नाटक की परम्परायें किस सीमा तक हमारे रङ्गमञ्च को भारतीयता की पहचान करा सकने में

समर्थ है? इस सन्दर्भ मे ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत नाटक आज के रङ्गमञ्च के लिए कथ्य एवं अभिनय दोनो दृष्टियो से प्रासङ्गिक है। आज भारतीय रङ्गमञ्च बहुरङ्गी है क्योंकि प्रत्येक प्रादेशिक रङ्गमञ्च अपने स्वरूप एवं शिल्प की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी व्यापक रूप से एकता को अन्तर्निहित किये हुए है।

रङ्गमञ्च की अधिक प्रासङ्गिकता का एक अन्य कारण यह है कि ये गहन सौन्दर्यबोध, तथा समकालीन सौन्दर्यबोध को भी व्यापकता देने मे समर्थ हैं। यह रङ्गमञ्च आदि से अन्त तक धार्मिक परिवेश में जीवित है। आज हम कालिदास व शेक्सपियर के रङ्गमञ्च का निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि यह अपने युग की विशेष सृष्टि है, किन्तु जब तक हम नाट्यकृतियों को सम्यक् रूप से नहीं जान लेते तब तक अपने युग विशेष का रङ्गमञ्च निर्मित नहीं कर सकते।

निष्कर्ष रूप मे यह कह सकते हैं कि संस्कृत रङ्गमञ्च आधुनिक परिवेश में भी अधिक कलात्मक एवं जीवन्त है।

चतुर्थ अध्याय

प्रमुख संस्कृत नाटकों में पूर्वरङ्ग-विधान

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि से लेकर दशरूपककार एवं साहित्यदर्पणकार आदि अनेक लक्षणकारों के द्वारा पूर्वरङ्ग के स्वरूप सन्दर्भ मे दिये गये मतो के विस्तृत व क्रमबद्ध वर्णन के पश्चात् सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि रूपककारों ने उसका किस प्रकार पालन किया तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि ने इस पूर्वरङ्ग-विधान के प्रायोगिक पक्ष को कितना प्रभावित किया?

इन सभी प्रश्नों के संदर्भ में सर्वप्रथम रूपक भेदों मे मुख्य नाटक मे कुछ प्रमुख नाटकों की समीक्षा करेंगे क्योंकि रूपक भेदों में नाटक ही मुख्य व अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम है इसलिए दृश्यकाव्य परम्परा में रूपक भेद नाटक की हृदयग्राहिता एवं लोकप्रियता के कारण 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' यह वाक्य प्रसिद्ध है।

संस्कृत नाटको के विकास क्रम पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि रामायण व महाभारत के काल से ही नाटक प्रचलित हो चुके थे तथा नाटक के विकास का क्रम भी प्रगति की अवस्था पर था। तत्पश्चात् पाणिनि का 'पातालविजय' (जाम्बन्तीजय) एवं पतञ्जलि कृत 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटक इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि इस समय नाट्य व नाट्यकला दोनों ही पूर्ण विकसित थी। इसीप्रकार जैन-बौद्ध ग्रन्थ एवं कामसूत्र में भी नाटकों का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु जब भारतीय संस्कृत नाटककारों के विषय में अध्ययन करते हैं तो सबसे प्राचीन रचनायें महाकवि भास की ही प्राप्त होती है। महाकवि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्'[1] नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा यह कहलवाया है कि

---

[1] प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवे कालिदासस्य कृतौ बहुमानः। (कालिदाकृत- मालविकाग्निमित्रम्- अङ्क-१, प्रस्तावना)

प्रथित यश वाले भास, सौमिल्ल कविपुत्र आदि कवियों के नाटकों को छोड़कर कालिदास के नाटक को क्यों समादर की दृष्टि से देखते है? इससे यह स्पष्ट है कि उस समय भास के नाटको की लोकप्रियता थी। अत~एव भास कालिदास के पूर्ववर्ती एवं सबसे प्राचीन नाटककार हैं। इन्होंने ही रामायण की कथा को रङ्गमञ्च तक ले जाने का प्रयास किया। उसके पश्चात् रामायण नाटक लिखे जाने लगे आधुनिक युग की रामलीला इन्हीं नाटकों का विकृत रूप है।

भास- संस्कृत साहित्य में भास के तेरह नाटकों को 'नाटक चक्र' की संज्ञा दी गई है। इस 'नाटकचक्र' में प्रतिमानाटक' व 'अभिषेकनाटक' रामायण पर आधारित हैं तथा सात नाटक 'उरूभंग', 'दूतवाक्यम्', पञ्चरात्रम्', 'बालचरितम', 'दूतघटोत्कच', कर्णभार' एवं 'मध्यम-व्यायोग' महाभारत पर आधारित है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' 'स्वप्नवासवदत्ता' अर्धएतिहासिक एवं 'अविमारक', 'चारूदत्त' नाटक कल्पना मूलक हैं, जिसमें भास की कल्पना शक्ति दृष्टिगोचर होती है।

इन सभी नाटकों के रचनाक्रम के सम्बन्ध में तथा इन रूपकों की श्रेणी निर्धारण में विद्वानों में परस्पर मतभेद है जिसमे 'पञ्चरात्रम्' को तीन अङ्क का समवकार, 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' एवं 'उरूभङ्ग' को उत्सृष्टिकाङ्क तथा 'चारूदत्त', दूतवाक्य को 'व्यायोग' की श्रेणी में रखते हैं। इसके अतिरिक्त भास के तेरह नाटकों में कहीं भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लेखक का नाम निर्देश न होंने से यह विवादास्पद विषय हो जाता है कि ये रचनायें किसकी हैं? इस विषय मे बाणभट्ट (७ वी. शती.) का 'हर्षचरित' प्रमाण रूप है।[1] जिसके आरम्भ में भास की प्रशंसा करते हुए बाणभट्ट ने लिखा है कि सूत्रधार से प्रारम्भ किये गये, बहुभूमिका वाले, पताका से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से भास ने अत्यधिक यश प्राप्त किया।

---

[1] सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहु भूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।। (बाणभट्ट-हर्षचरित)

भास के सभी नाटको में 'नान्धन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' यह सङ्केत दिया गया है जिसका तात्पर्य है कि भास सूत्रधार के प्रवेश से ही नाटक का प्रारम्भ करते है। ये वाक्य इनके तेरह नाटकों में प्राप्त होते हैं। अत एव इनके नाटकों की यह एक प्रमुख विशेषता है कि ये नाटक नान्दी पाठ से प्रारम्भ न होकर सूत्रधार से ही प्रारम्भ होते हैं। इस प्रमुख विशेषता के अतिरिक्त दूसरी विशेषता यह है कि भास के नाटकों में अन्य नाटककारों के नाटक की अपेक्षा पात्र संख्या अधिक हैं। इसका सङ्केत बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'बहुभूमिकैः' कह कर दिया है। इसके साथ ही भाषा शैली, कविकल्पनाये, विचारों की आवृत्ति, भावाभिव्यक्ति की समानता, घटना, वर्णन की स्वाभाविकता एवं परिस्थितियों में साम्यता आदि विशिष्टताओं के कारण सभी रचनाये भास की ही प्रतीत होती हैं।

इस रचना क्रम में भास नाटक चक्र के आधार पर सर्वप्रथम भास के नाटकों में नाट्यशास्त्रीय नियमों के सन्दर्भ मे पूर्वरङ्ग-विधि के अनुपालन पर दृष्टिपात करेगे कि इन्होने अपने नाटकों में इस विधि के प्रयोग पर कितना बल दिया। संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम एकांकी नाटकों के प्रणयन का श्रेय भास को दिया जाता है क्योंकि भास ने ही सर्वप्रथम महाभारत पर आधारित 'मध्यम-व्यायोग', दूतवाक्यम्', 'कर्णभार', उरूभङ्ग', एवं दूतघटोत्कच', जैसे एक अङ्क वाले रूपकों की रचना की। एक अङ्क के होने से ये एकांकी रूपक कहे जाते हैं। अत एव सर्वप्रथम महाभारत पर आधारित एकांकी नाटकों का ही विश्लेषण करेगे।

सामान्य रूप से प्रारम्भिक नाटकों से लेकर आज तक के नाटको में नाट्यशास्त्र में निबद्ध अन्तर्जवनिकासंस्थ पूर्वरङ्गीय विधान का कहीं भी प्रयोग दिखाई नहीं देता। नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्रत्याहार से आसारित पर्यन्त अङ्गों का विवेचन नहीं किया तथा वर्हिजवनिकासंस्थ अङ्गों में भी कुछ अङ्गों को बहिष्कृत कर दिया। भरत के मतानुसार रङ्गमञ्च पर सूत्रधार कृत नान्दी मुख्य एवं अनिवार्य मानी जाती थी। यदि नान्दी के विषय में भास की रचनाओं की समीक्षा करें तो यह प्रतीत होता है कि नान्दी

वह श्लोक नहीं है जिसे सूत्रधार रङ्गमञ्च पर कर रहा है। इनके नाटकों की यह विशेषता है कि उसमें नान्दी अन्य नाटकों की तरह नटों द्वारा दर्शकों के समक्ष रङ्गमञ्च पर नहीं की जाती अपितु सूत्रधार अपने सहयोगियो के साथ पर्दे के पीछे से पहले ही नान्दी कर लेता है, तब रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर दर्शकों के लिए मङ्गलाचरण करता है। इस तरह इनके नाटकों में नान्दी पाठ नाटकों के भाग नहीं होते, और ये अपने नाटक सूत्रधार से प्रारम्भ करते हैं। इसलिए सभी नाटकों में 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' अर्थात् नान्दी के पश्चात् रङ्गमञ्च पर सूत्रधार का प्रवेश होता ऐसा लिखा रहता है। अत एव इनके सभी नाटक सूत्रधार से प्रारम्भ होते हैं जबकि अन्य संस्कृत नाटक नान्दी पाठ से प्रारम्भ होते हैं। नान्दी सम्बन्धी यही विशेषता भास को अन्य नाटककारों से भिन्न करती है।

उरूभङ्ग- भास ने इस एकांकी में भी नान्दी के पूर्वरङ्ग में निष्पन्न हो जाने के पश्चात् सूत्रधार के कृष्ण स्तुत्यात्मक मङ्गलश्लोक से नाटक का प्रारम्भ किया है। इस नाटक में सूत्रधार मङ्गलश्लोक के अनन्तर भीम तथा अर्जुन के गदायुद्ध प्रारम्भ होने व तीन योद्धाओं के आगमन की सूचना देकर रङ्गमञ्च से प्रस्थान करता है। तदनन्तर तीनों का मञ्च पर प्रवेश होता है और इनके वार्तालाप के माध्यम से भीम व दुर्योधन के गदा युद्ध का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इसप्रकार पूर्वनिर्दिष्ट पात्रों के तत्काल प्रवेश से यहाँ 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद है।

कर्णभार- इस नाटक मे सूत्रधार भगवान विष्णु के मङ्गल श्लोक के पाठ से नाटक का प्रारम्भ करता है। तत्पश्चात् महाराज कर्ण को युद्ध आरम्भ होने की सूचना देने के लिए दुर्योधन द्वारा भेजे गये भट के आगमन का सङ्केत देकर रङ्गमञ्च से चला जाता है। यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है। इसप्रकार उरूभङ्ग की भाँति पूर्व में कहे गये भट का प्रवेश होने से 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद होता है।

अभिषेक नाटक- रामायण मूलक अभिषेक नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः'वाक्य के बाद सूत्रधार के प्रवेश करने पर दर्शको की मङ्गल कामना हेतु राम

की वन्दना से प्रारम्भ होता है।[1] इस श्लोक में सूत्रधार द्वारा 'निशिचरेन्द्रकुलाभिहन्ता' का विशेषण नन्दवंश विनाशक चन्द्रगुप्त के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है। राम की वन्दना के अनन्तर कुछ शब्द जैसा सुनाई दे रहा है ऐसा अभिनय करता है तथा 'किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द श्रूयते' इस उक्ति द्वारा पारिपाश्विक का प्रवेश होता है। इस उक्ति द्वारा रङ्गमञ्च पर पात्रों का प्रवेश कराने की प्रक्रिया भास के बहुत से नाटकों में मिलती है। इस नाटक में पारिपाश्विक के लिए 'मार्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रधार पारिपाश्विक के साथ वार्तालाप करता हुआ दर्शकों को नाटक की कथावस्तु का परिचय देकर तथा कथावस्तु के प्रारम्भ के लिए उचित वातावरण का सृजन करके रङ्गमञ्च से चला जाता है। इस नाटक में 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद है।

प्रतिमानाटकम्- भास का यह नाटक सात अङ्कों से युक्त रामायण कथा पर आधारित है। भास ने अपने पाँच नाटकों 'स्वप्नवासवदत्ता', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', पञ्चरात्र', 'उरूभङ्ग' एवं 'प्रतिमानाटकम्' के प्रथम श्लोक में मुद्रालंकार का प्रयोग किया है। मुद्रालङ्कार की यह विशेषता है कि इसमें श्लेष अलङ्कार के आश्रय से कथावस्तु एवं नाटकीय पात्रों की सूचना दी जाती है। इसप्रकार 'प्रतिमानाटकम्' में मुद्रालङ्कार का प्रयोग करके मङ्गलाचरण में ही प्रमुख पात्रो का नाम दे दिया गया है।[2] इस विषय मे 'प्रतिमानाटक' से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रधार द्वारा मङ्गलाचरण में प्रयुक्त 'प्रतिम' शब्द के प्रयोग होने से प्रतिमा नाटक के नामकरण को और तृतीय अङ्क में दशरथ प्रतिमा को सूचित किया गया है। इसप्रकार सूच्यार्थ होने से मङ्गलाचरण में मुद्रालंकार का प्रयोग स्पष्ट प्रतीत होता है तथा सीता, सुग्रीव, राम, लक्ष्मण, विभीषण, व रावण

---

[1] 'यो गाधिपुत्रमखविघ्नकराभिहन्ता,
युद्धे विराधखरदूषण वीर्यहन्ता।
दर्पोद्धतोल्बणकबन्ध कपीन्द्रहन्ता,
पायात् स वो निशिचरेन्द्रकुलाभिहन्ता।। (अभिषेक नाटक- १/१)

[2] 'सीताभवः पातु सुमन्त्रतुष्टः सुग्रीवरामः सह लक्ष्मणश्च।
यो रावणार्यप्रतिमश्च देव्या विभीषणात्मा भरतोऽनुसर्गम् ।। (प्रतिमानाटक-१/१)

आदि प्रमुख पात्रों का श्लेष के द्वारा नाम भी दिया गया है। 'सीताभवः' में हेतु अलङ्कार तथा 'विभीषणात्मा' आदि पदों का साभिप्राय प्रयोग होने से परिकर अलङ्कार व उपजाति छन्द है।

इस मङ्गलाचरण मे ही एक ओर राम, भरत आदि की प्रशंसा की गई तो दूसरी ओर इसी ब्याज से आने वाले पात्र भी गिनाये गये हैं। इस नाटक में प्ररोचना का अभाव है जबकि नाट्यपरम्परानुसार यह आवश्यक है कि सूत्रधार नाटककार व नाटक की प्रशंसा करके रङ्गस्थ सामाजिको को नाटक की ओर आकृष्ट करे। यहाँ नाटक के प्रारम्भ मे सूत्रधार नाटक की भूमिका बाँधता है तथा 'चरति पुलिनेषु हंसी का शांशुकवासिनी सुसंहृष्टा' इस अर्धश्लोक के कहने पर ही नेपथ्य से आवाज आती है। तत्पश्चात् सूत्रधार अवशिष्ट श्लोकार्ध कहता है कि 'मुदिता नरेन्द्र भवने त्वरिता प्रतिहाररश्रीव।' इसप्रकार इस कथन से सूत्रधार दर्शकों को राज्याभिषेक की सूचना देता हुआ नाटक की स्थापना भी करता है। सूत्रधार नट, नटी, विदूषक व अन्य पात्रो के साथ मञ्च पर आकर आपेक्षोक्तियों से नाटक के कथावस्तु की ओर सङ्केत करता है जो प्रस्तावना है। यहाँ 'नरेन्द्रभवने चरति' और 'प्रविश्य' पद के प्रयोग से नाटक के आरम्भ को सूचित किया गया है तथा सूत्रधार के कथन से ही पात्र प्रवेश कराने के कारण 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद है। भास ने प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया है। इसे स्थापना इसलिए कहते हैं क्योंकि 'स्थाप्यते प्रस्तूयते कथावस्तु आस्याम् इति स्थापना' अर्थात् इसमें कथावस्तु की स्थापना की जाती है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण- यह भास कृत चार अङ्को का उत्कृष्ट नाटक है तथा 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के पश्चात् सूत्रधार के द्वारा कार्तिकेय के स्तुत्यात्मक मङ्गल श्लोक से प्रारम्भ होता है।[१] मङ्गलश्लोक में कवि ने पदरचना की चातुर्यविधा से श्लेष अलङ्कार के द्वारा मुद्रालङ्कार का प्रयोग करते हुए वासवदत्ता, महासेन, वत्सराज

---

[१] पातु वासवदत्तायो महासेनोऽतिवीर्यवान् ।
वत्सराजस्तु नाम्ना सशक्तियौगन्धरायणः।। (प्रतिज्ञायौगन्धरायण १/१)

एवं यौगन्धरायण इन चार प्रमुख नाटकीय पात्रों की सूचना दी है। यहाँ मङ्गलाचरण मे 'पत्रावली' नान्दी है। प्ररोचना का अभाव, व प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग भास की शैली को सङ्केतित करता है।

स्वप्नवासवदत्ता- छः अङ्कों से समन्वित भास का यह नाटक सूत्रधार के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके बलराम की भुजाओं की वन्दना से प्रारम्भ होता है।[१] इसके मङ्गलश्लोक के 'उदयनवेन्दुसवर्णौ एवं पद्मावतीर्णपूर्णौ' पदों में श्लेष है, इस कारण नाटक के प्रधान पात्रों उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती व वसन्तक का नामोल्लेख हुआ। यहाँ कवि ने सूच्यार्थ प्रकाशन बड़ी कुशलता से किया और श्लेष के द्वारा पात्रों एवं नाट्य की सूचना देने के लिए मुद्रालंकार का प्रयोग किया (सूच्चार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः)। आर्या छन्द मे प्रस्तुत मङ्गलाचरण आशीर्वादात्मक है जिसमें बलराम की भुजा वन्दना के ,द्वारा रक्षा करने का निवेदन है, साथ ही नाटक के कथानक की ओर भी सङ्केत है, इसलिए इस पद्य में वस्तुनिर्देशात्मक 'पत्रावली' नान्दी का प्रयोग किया गया है।

इस नाटक में भी नाट्य की ओर दर्शकों को उन्मुख करने वाली प्ररोचना का अभाव है तथा प्रस्तावना के स्थान पर नाटक की भूमिका के लिए 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्थापना में नाटककार व नाटक परिचय अप्राप्त है।

इसप्रकार संस्कृत साहित्य के प्राचीन नाटककार भास की रचनाओं के विश्लेषण से इनकी कुछ विशेषताये प्रतीत होती हैं, जिनके आधार पर पूर्वरङ्ग के अनुपालन सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र सम्मत नान्दी पाठ नहीं किया है, जिसमें नाट्यारम्भ के पूर्व सूत्रधार, देव, द्विजादि की मध्यम स्वर में स्तुति करता है और जो रङ्गमञ्च पर दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है किन्तु 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस शब्द के कथन द्वारा सूत्रधार के प्रवेश से नाट्यारम्भ करने वाले

---

[१] उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम् ।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम् ॥ (स्वप्नवासवदत्तम् - १/१)

भास ने नाट्यारम्भ में जो स्तुति की वह नान्दी परम्परा का निर्वाह करते हुए सूत्रधार के द्वारा केवल शिष्ट परम्परा रूप मङ्गलगान ही है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि इनके नाटकों में रङ्गमञ्च के पीछे से ही नान्दी नटों द्वारा सम्पादित कर दी जाती है, तदनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है। इस प्रकार यह मङ्गलाचरण रूप जो नान्दी है वह पूर्वरङ्ग का अङ्ग नही है। यद्यपि भास के नाटकों में नान्दी का प्रयोग नहीं है तथा सूत्रधार ही नाटक का आरम्भ करता है तथापि भास प्रयुक्त 'नान्द्यन्ते' शब्द के अर्थ की यह परिकल्पना की गई कि मङ्गलसूचक नगाड़ों के बजने के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु यह विचार भी निर्विवाद नही है। भास ने नाट्य की निर्विघ्न समाप्ति रूप मङ्गलाचरण का सम्पादन करते हुए उसमें इष्ट देव की स्तुति का विधान करके श्लेष अलङ्कार के द्वारा पात्रों के प्रवेश की सूचना देकर मुद्रालङ्कार का प्रयोग किया, जो किसी भी अन्य नाटककार के द्वारा नहीं किया गया। भास ने प्रायः कई नाटको में नारायण के अनेक रूपों का स्मरण किया है। इसप्रकार नान्दी का स्पष्ट प्रयोग न होने पर भी आशीर्वचनात्मिका की सत्ता भास के कुछ नाटकों में परिलक्षित होती है।

नाट्यशास्त्र में नान्दी मङ्गलाचरण पाठ था जो अवश्यमेव करणीय था, किन्तु भास ने प्रायः इसका उल्लेख मात्र ही किया है तथा नाटक के लिए किसी नान्दी की रचना नही की। इसका कारण यह है कि भास के सभी नाटक लोकनाट्य रङ्गमञ्च पर खेले जाने के लिए लिखे गये। जिसमें नान्दी या मङ्गलाचरण विधि की लोकमान्य अपनी परम्परा होती थी, तथा नाटककार के एक नान्दी श्लोक लिखने की अपेक्षा वह ज्यादा आकर्षक होती थी। 'स्वप्नवासवदत्ता' एवं 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' दोनो नाटको को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोकमञ्च पर पहले से अभिनीत होते रहे हैं तथा भास ने स्वयं इसमें अभिनय किया है।

नान्दी के पश्चात् आने वाले 'त्रिगत' का भी प्रयोग भास के नाटकों में नहीं किया गया है इसके साथ ही दर्शकों को नाट्याभिमुख करने का साधन 'प्ररोचना' को

भी प्रायः 'प्रतिमानाटक', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', एवं 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि नाटकों में स्थान नहीं दिया गया।

भास के नाटकों मे एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इन्होंने प्रायः प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु कर्णभार में प्रस्तावना शब्द का प्रयोग भी दिखाई देता है। इस स्थापना का प्रयोग भी सूत्रधार ही करता है। 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ दो प्रकार के सूत्रधार होते हैं जिसमें एक प्रधान सूत्रधार नान्दी (मङ्गलश्लोक) करता है और दूसरा स्थापक कथावस्तु का आरम्भ करता है। ऐसा होना नाट्यशास्त्र के नियमानुसार ही है किन्तु दशरूपक के अनुसार दूसरा नट भी सूत्रधार ही कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भास के नाटकों में स्थापना तो है परन्तु इसका प्रयोक्ता भी सूत्रधार ही है। इस विषय में पिशेल ने यह अनुमान किया है कि स्थापक का बहिष्कार भास ने ही किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भास ने नाट्यशास्त्रीय नियमो का पूर्ण पालन नहीं किया तथा स्थापक को ध्यान में न रखते हुए ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति' यह वाक्य लिखा।

यदि भास के नाटको में प्रस्तावना रूप स्थापना को देखें तो यह प्रतीत होता है कि भास के नाटकों में स्थापना बहुत ही संक्षिप्त होती है। ये कही भी अपना नाम तथा नाटक का नाम नहीं देते हैं जबकि भरत[१] ने प्रस्तावना में नान्दीपाठ के अनन्तर काव्य के नाम निर्देश का वर्णन किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि भास इतने प्राचीन हैं कि इनके समय में नाट्य में ऐसा विधान ही नहीं रहा होगा कि स्थापना में नाटककार एवं नाटक के नाम आदि दिये जायें अथवा ये इतने विनम्र और निरभिमानी थे कि इन्होंने नाटक में अपना व्यक्तिगत परिचय देना ठीक नहीं समझा।

---

१ नान्दी पदानां मध्ये.. .....प्रस्तावनां कृतः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्। (नाट्यशास्त्र- ५/१५८-१६१)

इस प्रकार पूर्ण रूपेण नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन न करने वाले भास के नाटको में कुछ नई विशेषतायें प्रस्तुत की गई है जिससे इनके चित्रण व प्रस्तुतिकरण में सफलता मिलती है।

कालिदास- कालिदास कृत पूर्वरङ्ग विधान उनकी शिवभक्ति को प्रदर्शित करता है। 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम मङ्गलाचरण श्लोक में शिव की वन्दना करते हुए अपनी शिव भक्ति को ही नहीं अपितु वेदान्तियों की भी शिव के प्रति आस्थावान विचारधारा को व्यक्त किया है। इसी प्रकार 'मालविकाग्निमित्रम्' के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में शिव को भक्तों का सभी दृष्टियों से कल्याण करने वाला त्यागी देव मानते हुए शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया किन्तु उसके स्वरूप को नही बताया। इस शिव के अष्ट रूपों का वर्णन 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम श्लोक में करते हुए पाठकों की रक्षा हेतु प्रार्थना की गई है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्- कलात्मकता का आश्रय लेकर सौन्दर्यभावित अनुभूति को सौन्दर्य प्रवण बनाकर अभिव्यक्त करने वाले कालिदास अत्यन्त असंलक्ष्य रूप से लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों भूमिकाओं को एक साथ लेकर चलते हैं। कालिदास ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ मे जो वन्दना की है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी जगत् की सृष्टि के बीच केन्द्रित शक्तिस्रोत के रूप में शिव तत्त्व की प्रतिष्ठापना के लिए की है। अभिज्ञानशाकुन्तल में एक ओर जहाँ भारत के प्रथम पराक्रमी चक्रवर्ती भरत की उद्भवभूमि, शकुन्तला की शक्ति का परिचय दिया गया है तो वहीं दूसरी ओर *शिव की अष्टमूर्ति का ध्यान किया गया है* अर्थात् प्रथम श्लोक[१] द्वारा *शिष्टाचारानुरोध* से नाटक की निर्विघ्न परिसमाप्ति की कामना से परमेश्वर नाम सङ्कीर्तन रूप,

---

१ 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।। (अभिज्ञानशाकुन्तल- १/१)

आशीर्वचन संयुक्त नान्दी (मङ्गलाचरण) प्रस्तुत करते हुए शिव की प्रसिद्ध दृश्यमान पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, आत्मा स्वरूप अष्टमूर्तियों से सभासदों की रक्षा की कामना की गई है।

कालिदास के 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' से प्रारम्भ होने वाले नाटकों में ध्वनि या व्यञ्जना का मुख्य स्थान है। इनके वर्णन और घटनायें सङ्केतात्मक होने के साथ भावी घटनाओं की ओर सङ्केत करती है। नाटक के प्रारम्भिक वर्णनो के द्वारा नाटक के कथानक की ओर सङ्केत किया गया है। नान्दी की शब्द व्युत्पत्तियो के लक्षण से यह ज्ञात होता है कि नान्दी श्लोक में द्विज, नृपादि की आशीर्वचन युक्त स्तुति होनी चाहिए तथा इसमें काव्यार्थ की भी सूचना दी जानी चाहिए। दशरूपककार ने भी नान्दीपाठ मे कवि काव्यार्थ को सूचित करने का निर्देश दिया है, इसका पूर्णतः प्रभाव कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में दिखाई देता है क्योंकि श्लोक का जो अर्थ दिया गया है उसमें शिव की स्तुति स्पष्ट होती है। उसी प्रकार इसमे नृप अर्थात् राजा दुष्यन्त की भी स्तुति है। इसप्रकार इस स्तुति के लिए श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जायेगा 'ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्न ईशः' अर्थात् प्रत्यक्ष अष्टमूर्तियों से सेवित प्रजापालक दुष्यन्त आप सब की रक्षा करें। राजा का शरीर पञ्च तत्त्वों से बना है और यज्ञानुष्ठानकर्ता दुष्यन्त यजमान रूप भी हैं, विशिष्ट तेजस्वी होने से सूर्य तथा प्रजारञ्जक व चन्द्रवंशी होने से चन्द्ररूपिणी मूर्ति से भी विशिष्ट है इसप्रकार वह भी अष्टमूर्ति रूप हैं।

'या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या'- इससे शकुन्तला की, तथा *'या विधिहुतं हविर्वहति'*- इस वाक्य से शकुन्तला के गर्भिणीत्व को सूचित किया गया। 'या च होत्री'- इससे कण्व की सूचना तथा 'ये द्वे कालं विधत्तः'- इससे अनुसूया और प्रियंवदा रूप दो सखियों की सूचना दी गई है। 'श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्य स्थिता'- से शकुन्तला के प्रत्याख्यान को सूचित किया गया है। 'यां सर्वबीजप्रकृतिरित्याहुः'- इससे भरत की उत्पत्ति सूचित की गई है अर्थात् शकुन्तला बीज रूप भरत की प्रकृति (जन्मदात्री) है।

'यया प्राणिनः प्राणवन्तः'- इससे शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनः संयोग तथा नाटक के सुखान्त होने का सङ्केत मिलता है। अतः नाटक के सुखान्त होने से सहृदयों को प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसप्रकार कवि ने प्रायः सभी मुख्य पात्रों की एवं कथावस्तु की संक्षिप्त सूचना देकर इस नान्दी श्लोक को काव्यार्थसूचक सिद्ध किया है।

नान्दी में माङ्गलिक वस्तुओं का भी परिगणन होना चाहिए इस दृष्टि से इसमें सूर्य, चन्द्र आदि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इस श्लोक में नान्दी के सभी लक्षण परिगणित किये गये हैं। नान्दी को अष्टपदात्मिका अथवा द्वादशपदात्मिका होना चाहिए (पदै र्द्वादशभिरष्टापि)। श्लोक का एक-एक पाद भी पद कहा जाता है और सुबन्त-तिङन्त आदि भी पद कहलाते हैं। श्लोकान्तर्गत एक-एक वाक्य भी एक-एक पद कहा जाता है, इस दृष्टि से यह 'अष्टपदात्मिका' नान्दी है। नान्दी के भेदों में यह 'पत्रावली' नान्दी है क्योंकि इस नान्दी मे अभिधेय कथावस्तु का श्लेष वा समासोक्ति के द्वारा बीज का विन्यास किया गया है तथा सूर्य एवं चन्द्र का उल्लेख होने से यह 'नीली' नान्दी भी कही जा सकती है। इस नान्दी में स्रग्धरा छन्द है। इस प्रकार इस श्लोक में नान्दी के समस्त लक्षण होने से इसे निर्विवाद नान्दी कहा जा सकता है।

वस्तुतः सूत्रधार ही रङ्गमञ्च का प्रमुख अधिष्ठाता होने के कारण रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर नान्दी पाठ करता है तथा नाटकीय कथावस्तु का आरम्भ करते हुए अन्य नाटकीय पात्रों के स्वागत का निर्देश देता है।

नान्दी श्लोक पाठ के पश्चात् यही सूत्रधार रङ्गमञ्च के देवता की पूजा भी करता है और नाटकीय वस्तु का बीजारोपण करते हुए नाटक प्रारम्भ करता है। कथावस्तु का बीज सहित नाट्य का अनुष्ठान ही 'सूत्र' कहा जाता है और इसे सञ्चालन करने वाला रङ्गमञ्च की पूजा करने वाला 'सूत्रधार' कहा जाता है।

प्रस्तुत अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक मे यह एक ही प्रधान सूत्रधार है जो सर्वप्रथम नान्दी पाठ करता है और रङ्गपूजा के पश्चात् कथावस्तु को आरम्भ करता है किन्तु अन्य नाटकों में दो प्रकार के सूत्रधार दिखाई देते हैं। जहाँ दो प्रकार के सूत्रधार

होते हैं वहाँ प्रायः 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' यह पाठ मिलता है जो भास तथा अन्य नाटककारों के नाटकों मे देखा जा सकता है, ऐसा होना नाट्यशास्त्र के नियमानुसार ही है। दशरूपककार के अनुसार दूसरा नट भी सूत्रधार ही कहा जाता है। इसकी वेशभूषा भी प्रधान नान्दी पाठ कर्ता सूत्रधार जैसी ही होती है तथा इस सूत्रधार को हम 'नटोपाध्यक्ष' या 'स्थापक सूत्रधार' कह सकते हैं। नान्दी पाठ कर्ता प्रधान सूत्रधार के मङ्गलाचरण रूप नान्दीपाठ एवं पूजा करके चले जाने पर स्थापक रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके कथासूत्र को प्रारम्भ करता है किन्तु प्रस्तुत नाटक में 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' केवल इतना ही पाठ है। अतः यहाँ एक ही प्रधान नट सूत्रधार है जो नान्दी पाठ भी करता है और कथासूत्र को आरम्भ भी करता है।

सूत्रधार का कथन कि 'आर्ये अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्' अर्थात् सभा मे विद्वज्जनों की संख्या अत्यधिक है और अभिज्ञानशाकुन्तल नवीन नाटक का अभिनय करना है। तत्पश्चात् नटी कहती है 'सुविहित प्रयोगतयार्यस्य न किमपिपरिहास्यते' अर्थात् आपके अभिनय व्यवस्था की सुन्दरता के कारण कोई न्यूनता नहीं रहने पायेगी। इस प्रकार इन वाक्यों द्वारा नटी सूत्रधार के अनुभव की प्रशंसा करती है जिससें दर्शकों का ध्यान नाट्याभिनय की ओर आकृष्ट हो जाय। अत एव दर्शकों का ध्यान नाट्य की ओर आकृष्ट कराने के कारण यहाँ 'प्ररोचना' नामक भारती वृत्ति का अङ्ग है।

सूत्रधार के द्वारा व्यक्त 'दिवसाः परिणामरमणीयाः'[१] में 'परिणाम रमणीया' पद से ध्वनित होता है कि इस नाटक का अन्त सुखद होगा। संस्कृत नाटकों की एक मुख्य विशेषता यह है कि ये प्रायः सुखान्त ही होते हैं। यहीं पर भारती वृत्ति का प्ररोचना नामक अङ्ग समाप्त होता है।

---

[१] सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्- १/३ पृष्ठ- ९)

कालिदास ने अपने 'ऋतुसंहार' एवं 'अभिज्ञानशाकुन्तल' दोनों नाटकों में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया है। इन्होंने ग्रीष्म की प्रचण्ड गर्मी की विशेषता को उद्घाटित करते हुए 'परिणाम' शब्द का प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तलम् में किया है। इसप्रकार ऋतुसंहार में दिन का अन्त है तो अभिज्ञान में दिन का परिणाम है। प्ररोचना नामक अङ्ग के पश्चात् 'प्रस्तावना' नामक अङ्ग प्रारम्भ होता है इसी को 'आमुख' भी कहा जाता है।

नटी के द्वारा 'ईषदीषच्चुम्तिानि'[१] यह श्लोक गीत सारङ्ग राग में गाया गया क्योंकि यह राग मध्याह्न मे गाया जाता है और मध्याह्न में ही दुष्यन्त कण्व के आश्रम में पहुँचते हैं इसीकारण यह पद्य कहा गया है। इस श्लोक मे भ्रमर पद से दुष्यन्त की ओर सङ्केत किया गया है जिसका शकुन्तला से अस्थायी मिलन हुआ है और उसने भी इसका (शकुन्तला का) ईषद् ही रसास्वादन किया है। शिरीष पुष्प ग्रीष्मकाल में विकसित होता है। इस ग्रीष्म का वर्णन सूत्रधार ने भी 'सुभगसलिलावगाहा' के द्वारा किया अर्थात् जहाँ सूत्रधार के वर्णन में वाह्य तथ्यों का ही उल्लेख किया गया है वही नटी के गीत में स्त्री सुलभ कोमलता व सरसता तथा एक प्रेमिका के हृदय की अभिव्यक्ति है।

'तवास्मि गीतरागेण'[२] इस श्लोक में कवि ने सूत्रधार और नटी के कथोपकथन के द्वारा प्रस्तुत नाटक के कथानक की ओर भी सङ्केत दिया है। इस नाटक में विस्मरण एक विशेष महत्त्व रखता है जैसे- नाटक के स्थान पर 'प्रकरण'[३] शब्द का प्रयोग

---

१ ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।।
(अभिज्ञानशाकुन्तल- १/४ पृष्ठ- ११)

२ तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।। (अभिज्ञानशाकुन्तल- १/५ पृष्ठ- १३)

३ सूत्रधार- आर्ये, साधुगीतम् । अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानी कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः।। (अभिज्ञानशाकुन्तल-१ पृ -११)

सूत्रधार द्वारा किया गया। कवि ने यहाँ इस बात को उठाकर नटी के विमुग्धकारी गीत माधुर्य की ओर सङ्केत किया है। नटी के द्वारा याद दिलाने पर वह (सूत्रधार) समझ जाता है कि नाटक का अभिनय करना है, इसलिए सूत्रधार कहता है 'आर्ये सम्यगनुबोधितोऽस्मि'।

जब नटी के गीतराग से सभी सामाजिक मन्त्रमुग्ध होकर चित्रलिखित से हो गये हैं तो सूत्रधार का भी गीत राग से मन्त्रमुग्ध होकर सब कुछ भूल जाना स्वाभाविक था। अतः कवि ने यहाँ वार्तालाप के द्वारा प्रायः सम्पूर्ण कथानक का चित्र प्रस्तुत कर दिया है यही नाट्यकौशल है।

तवास्मि० इस श्लोक के बाद नटी व सूत्रधार रङ्गमञ्च से बाहर चले जाते हैं, यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है। अतः 'ततः प्रविशति' मृगानुसारी से मुख्य नाटक आरम्भ होता है। इस नाटक में भारती वृत्ति के चार भेदों में से दो का प्रयोग कवि ने स्वेच्छानुसार किया है जिसमें नाटक के तृतीय श्लोक की समाप्ति तक 'प्ररोचना' और उसके बाद 'आमुख' है अर्थात् प्रस्तावना के अनन्तर मुख्य कथानक प्रारम्भ होता है।

इसमें 'एषः राजेव दुष्यन्तः' कहकर सूत्रधार ने मुख्य पात्र के रङ्गमञ्च पर प्रवेश की सूचना दी है, इसलिए 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी यहाँ 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद को माना है किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे 'अवगलित' आमुख भेद कहा है क्योंकि मनोहारी गीत राग की प्रशंसा के सादृश्य के द्वारा सूत्रधार ने मृगया-बिहारी दुष्यन्त को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किया। इसप्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक सम्पूर्ण पूर्वरङ्गीय अङ्गों से युक्त है।

विक्रमोर्वशीय- कालिदास रचित 'विक्रमोर्वशीय' नामक त्रोटक का आरम्भ पूर्वरङ्ग के अनिवार्य अङ्ग नान्दी से होता है जिसमें इनके आराध्य देव शिव की वन्दना की गई।[1] नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है तत्पश्चात् इसका

---

[1] वेदान्तेषु *यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यस्थितं* रोदसी,

सहचर पारिपाश्विक प्रवेश करता है और परस्पर वार्तालाप से अभिनेयनाटक की घोषणा करके कालिदास का परिचय देता है। इसके बाद 'परित्रायतां पत्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य बाडम्बरतले गतिरस्ति' ऐसी नेपथ्य की ओर से आयी रक्षासूचक आवाज को सुनकर सूत्रधार विस्मय से कहता है यह कुररी पक्षियों की भांति अन्तर्नाद सुनाई दे रहा है। इससे सूत्रधार यह निष्कर्ष निकालता है कि उर्वशी को असुरों ने पकड़ लिया है इसलिए अप्सरायें विलाप कर रहीं हैं। इसप्रकार नाटकीय कथावस्तु एवं मुख्य घटनाओं को प्रस्तावित करके सूत्रधार चला जाता है और रक्षार्थ पुकारती रम्भा, मेनका, सहजन्या कन्याओं का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है।

'नान्द्यन्तेसूत्रधारः' से प्रारम्भ होने वाले कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के 'वेदान्तेषुयमाहुः' श्लोक को आचार्य विश्वनाथ ने नान्दी न मानकर रङ्गद्वार कहा है[१] क्योंकि रङ्गद्वार से ही कवि निर्मित नाट्य का आरम्भ होता है तथा इसी में सबसे पहले वाणी और व्यापार से संयुक्त रूप मे अभिनय उपलब्ध होता है। अपने इस तर्क के समर्थन में शारदातनय आदि कुछ नाट्याचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा कि इन आचार्यों ने सामाजिकों के लिए आशीर्वचन (नान्दी) से पूर्व रङ्गशाला मे नाट्यारम्भ के लिए नटों द्वारा (देवादि स्तुति रूप) वाचिक, आङ्गिक अभिनेय को नाटक प्रयोग के द्वार रूप होने के कारण रङ्गद्वार नामक पूर्वरङ्ग का अङ्ग माना है। विश्वनाथ ने अपने तर्क की पुष्टि हेतु भरत के मतानुसार यह कहा कि पूर्वरङ्ग के अङ्गों मे रङ्गद्वार से पूर्व जिस नान्दी का निर्देश दिया है उसी का सम्पादन होता है। अतः इस नान्दी का नाटककार के साथ कोई सम्बन्ध नही होता है। यह नटों का अपना कार्य है तथा यह सभी नाटकों में एक समान होता है। अतएव नाटककार को नाटक में इस निमित्त किसी विशेष रचना की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह नाटक का अङ्ग नहीं है।

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिर भक्तियोगसुलभी निःश्रेयसायाऽस्तु वः।। (विक्रमोर्वशीय- १/१)

१ साहित्यदर्पण- विश्वनाथ- ६/२५ तथा गद्य भाग

कालिदास आदि के नाट्य प्रयोगो में जो नान्दी है इसमें पूर्वरङ्ग के अङ्गभूत नान्दी का लक्षण दिखाई नहीं देता क्योकि यह न तो आठ पद वाली नान्दी है न ही बारह पद वाली नान्दी। यह नान्दी नाटक से सम्बद्ध है नाटक की पूर्वरङ्ग विधि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्य भरत ने पूर्वरङ्ग के अङ्ग रङ्गद्वार में यह बताया है कि कवि को अपने नाटक का आरम्भ रङ्गद्वार से ही करना चाहिए। इसी कारण कालिदास के विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि नाटकों की प्राचीन प्रतिलिपियों मे 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' और उसके बाद नाटककार रचित नान्दी (रङ्गद्वार) का उल्लेख है। इसके बाद की प्राप्त नाटक की प्रतियों में नाटककार रचित नान्दी के बाद 'नान्द्यन्तेसूत्रधारः' का निर्देश प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्वरङ्ग की नान्दी के बाद नाटककार रचित नान्दी गायन सूत्रधार का कार्य है अर्थात् वेदान्तेषु आदि नाटककार रचित नान्दी (रङ्गद्वार रचना) सूत्रधार का कार्य है, जिसके पश्चात् कवि का नाटक प्रारम्भ होता है।

विश्वनाथ के तर्क का व्यापक दृष्टि से विचार करने पर भास और कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' व 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम श्लोक में नान्दी ही प्रतीत होती है क्योंकि इसमें आशीर्वचन व मङ्गलकामना का विधान है।

कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में लोकहित की तथा राजा के कर्तव्य की भावना को मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया। साथ ही प्रस्तावना में नाटक की कथावस्तु का भी परिचय दिया है। इसप्रकार कालिदास के तीनों रूपकों के नान्दी पद्यों में शिव के प्रति अराधना और उनके कल्याण या रक्षा की कामना का विधान है, तथा नाटक के कथानक के सूत्रों को भी अप्रत्यक्ष रूप से समाविष्ट किया गया है। अत एव 'मालविकाग्निमित्रम्' में कालिदास की नाट्यकला का अंकुरण हुआ, 'विक्रमोर्वशीय' में वह पुष्पित हुई और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में संस्कृत नाट्यकला के मधुरतम् एवं श्रेष्ठ फल के रूप में परिणत हुई।

नाट्य परम्परा में रङ्गमञ्च पर पात्रों का प्रवेश महत्त्वपूर्ण नाट्य प्रयोग प्रक्रिया है, क्योंकि पात्रों के प्रवेश से सामाजिकों के हृदय में सुख-दुःखात्मक संवेदनायें उत्पन्न होती हैं। पात्र प्रवेश को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही भरत ने भाण्ड-वाद्य पुरस्कृत 'मार्ग' और रसोपेत 'ध्रुवागान' का विधान पात्र प्रवेश काल में किया है। आचार्य कोहल और अभिनवगुप्त ने भी इस विधान का समर्थन किया है। इस परम्परा का विधान 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक के आरम्भ में पात्र प्रवेश के पूर्व सूत्रधार का 'तदारभ्यताम् सङ्गीतम्' यह वाक्य इस तथ्य के प्रयोग की पुष्टि करता है। नान्दी क्रिया के बाद ही पात्रों का प्रवेश कालिदास के रूपकों में मिलता है तथा नान्दी में ही सङ्गीत एवं वाद्य का भी विधान किया गया है।

पूर्वरङ्ग सम्पूर्ण नाट्य का प्राणतत्त्व है इसलिए पूर्वरङ्ग के सुष्ठु प्रयोग से ही नाट्य की सफलता निश्चित होती है। नाट्यशास्त्रीय रङ्गपरम्परा में भरत स्पष्ट कहते हैं कि गति, छन्द, वाद्य तथा नृत्य मे एक ही वस्तु (भाव या कथानक) की प्रस्तुति होनी चाहिए।[१] भरत की इस रङ्ग परम्परा का पालन भी कालिदास ने किया क्योंकि 'मालविकाग्निमित्रम्' में 'छलिक' नृत्य की प्रस्तुति दृष्टिगोचर होती है। इस नृत्य की विशेषता है कि मालविका शर्मिष्ठा की (ययाति के प्रति) जिस दुर्वार उत्कण्ठा को गीत में व्यक्त करती है उसी भाव को छलिक जैसे कोमल नृत्य मे भी प्रस्तुत करती है। इतना ही नहीं मृदङ्ग वाद्य की मयूरी मार्जना भी सर्वथा नृत्य व गीत के अनुकूल है।

इस प्रकार कालिदास आचार्य भरत के नृत्त, गीत, वाद्य के भावैक्य विषयक मन्तव्य का अनुपालन करते दिखते हैं किन्तु भास प्रणीत 'बालचरितम्' में प्रस्तुत 'हल्लीसक' नृत्य की ऐसी कोई पृष्ठभूमि अथवा औचित्य प्रतीति नहीं दिखाई पड़ती।

इस रङ्गपरम्परा का एक और गौरव बिन्दु है- चारीविधान कालिदास के नाटकों में इन चारियों के अनेक भेद अनुगत परिलक्षित होते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में

---

१ प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतके सर्ववस्तुकम् ।
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ॥ (नाट्यशास्त्र- ४/३००)

शरपतनभय वश शरीर के पश्चादर्ध भाग को पूर्वकाय अर्थात् शरीर के अगले भाग में समेटता हुआ सा वन्यमृग अपनी उदग्रप्लुतता के कारण भरत सम्मत हरिणीप्लुता, चारी को ही प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। ऐसे ही आबिद्ध, प्रक्षिप्त, दोलापाद तथा भुजङ्गत्रासित आदि आकाशीय चारियों का अनुसरण भी कालिदासीय नाट्यकृतियों में उपलब्ध होता है। 'यातं यच्च नितम्बयार्गुरूतया मन्दं विलासादिव' कहकर कालिदास शकुन्तला की जिस गमनविधि को सङ्केतित करते है वह शत-प्रतिशत 'समपादा भौमी' चारी के अनुकूल है।

आचार्य भरत पूर्वरङ्ग का जो संविधान प्रस्तुत करते हैं उसके चार प्रमुख अङ्ग हैं- उत्थापन, आश्रवणा, नान्दी, प्रस्तावना। इन प्रमुख अङ्गों के आधार पर भास व कालिदास की कृतियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भास पूर्वरङ्ग की इस वृहद विधि से सर्वथा अपरिचित है क्योंकि इनकी कृतियों में सूत्रधार नान्दी (जिसका पाठ नहीं दिया गया है) के अन्त में मञ्च पर प्रवेश करके श्लोक पाठ करता है जो प्रत्यक्षतः शास्त्रीय नान्दी नहीं है किन्तु उसी प्रकार का (आशीर्वचन) है, जिसकी चर्चा बाणभट्ट ने हर्षचरित में की है।

कालिदास भरत की रङ्गपरम्परा के निष्ठावान पोषक कहे जाते हैं फिर भी भरत सम्मत पूर्वरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग चित्रण प्रस्तुत नहीं करते हैं। ये उत्थापना व आश्रवणा को छोड़कर मात्र नान्दी व प्रस्तावना को ही उपन्यस्त करते हैं। सम्भवतः इसका मुख्य कारण उत्थापना व आश्रवणा को नान्दी तथा प्रस्तावना से अभिन्न मानना है क्योंकि भरत के अनुसार उत्थापन में मुख्यतः नान्दी पाठक प्रयोग को उठाते है। आश्रवणा तथा प्रस्तावना का उद्देश्य भी समान है क्योंकि दोनो का उद्देश्य अभिनेय नाट्य तथा कवि का परिचय देना है। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि आश्रवणा नेपथ्यगृह (पर्दे के पीछे से) में प्रस्तुत की जाती है जबकि प्रस्तावना नेपथ्यगृह से बाहर अर्थात् रङ्गमञ्च पर की जाती है। इस उद्वेजक पुनरावृत्ति को ध्यान में रखकर ही कालिदास नान्दी, प्रस्तावना युक्त संक्षिप्त पूर्वरङ्ग का प्रयोग करते हैं। अत एव कालिदास की कृतियों में

पहला पद्य नान्दी है और इसकी समाप्ति पर सूत्रधार कथोपकथन से नाटक प्रारम्भ करता है परन्तु कालिदास के युग की यथार्थ पद्धति की जानकारी के विषय में हम हस्तलेखों पर विश्वास नहीं कर सकते क्योकि 'विक्रमोर्वशीय' मे उसके प्रथम पद्य को नान्दी के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है और इसलिए उस रूपक को भास द्वारा प्रभावित रूपक में गिना गया। इसप्रकार यह मान सकते हैं कि कालिदास ने भास की पद्धति को स्वीकृत किया है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि भास ने भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट नाट्य नियमों का अक्षरशः पालन नहीं किया किन्तु अपनी अद्वितीय कल्पना शक्ति से नाटक को रोचक अवश्य बना दिया तथा कहीं-कहीं परोक्ष घटनाओं एवं पात्रों को रङ्गमञ्च पर बिना उपस्थित किये ही दर्शको की उसमें पूर्ण रूचि अपने कलात्मक कौशल से उत्पन्न कर देते है।

विशाखदत्त

मुद्राराक्षस- संस्कृत के मूर्धन्य प्रगतिवादी तथा मौलिकता से पूर्ण विशाखदत्त ने अपने सात अङ्कों से युक्त राजनीतिक विषयक नाटक मुद्राराक्षस के प्रारम्भ में नाटक की निर्विघ्न परिसमाप्ति की कामना से अपने अभीष्ट देव की स्तुति के साथ पूर्वरङ्ग के अद्भुत आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण रूप नान्दी के द्वारा शब्दतः और अर्थतः दोनों ही दृष्टियों से नाटकीय कथावस्तु का निर्देश दिया है। इस नान्दी विषयक प्रारम्भिक दो श्लोकों में शिव की वन्दना की गई है।

प्रथम श्लोक 'धन्याकेयम्'[१] आदि से व्यक्त होता है कि जिस प्रकार शिव की शठता ने पार्वती से गङ्गा की रक्षा की है उसी प्रकार चाणक्य की शठता ने राक्षस से

---

[१] धन्याकेयंस्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या,
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दुर्देव्या,
निह्नोतुमिच्छरिति सुरसरित शाठ्यमव्याद्विभोर्वः। (मुद्राराक्षस- १/१)

चन्द्रगुप्त की रक्षा की है। इस श्लोक में 'पत्रावली' नान्दी है क्योंकि शिव पार्वती के उत्तर-प्रत्युत्तर के द्वारा प्रकाशान्तर से नाटक के कथानक की सूचना प्राप्त हो जाती है।

'पादस्याविर्भवन्तीम्' इस द्वितीय श्लोक[1] मे शिव के ताण्डव नृत्य की स्थिति का वर्णन है। शंकर का दुःखनृत्य नाटकीय परिप्रेक्ष्य में कठिनाई से प्रयुक्त हुई चाणक्य की कुटिल नीति ही है। इसप्रकार नाटक के नान्दी पद्य में जहाँ कवि ने अपने इष्ट शिव की स्तुति की वहीं साथ-साथ नाट्य के इतिवृत्त की भी सूचना प्रदान की है इसलिए इसमें भी 'पत्रावली' नान्दी है।

'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' से प्रारम्भ होने वाले मुद्राराक्षस नाटक की नान्दी को भी कालिदास के विक्रमोर्वशीय के समान रङ्गद्वार कहा जा सकता है क्योंकि नान्दी तो नटों के स्वरूप रचना किये बिना मङ्गलापाठ मात्र करने को माना जाता है और यहाँ तो नाटक के विषय का सूक्ष्म आभास भी प्रतीत होने लगता है अर्थात् छल-कपट की सूचना मिल जाती है। इसप्रकार दानों नान्दी पद्य मुद्राराक्षस के कथानकों को बड़े अभिप्राय रूप से सङ्केतित करते हैं।

इस नाटक की प्रस्तावना मे विशाखदत्त की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है। नाटकों की प्रस्तावना में पारिपाश्विक के अतिरिक्त सूत्रधार के साथ प्रायः नटी भी वर्तमान रहती है। मुद्राराक्षस की नटी सूत्रधार की पत्नी के रूप में प्रस्तुत हुई और सूत्रधार ने उसे 'प्रिये' कहकर सम्बोधित किया। इस नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के संवाद में एक 'चन्द्रग्रहण' का उल्लेख है। सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त 'चन्द्रग्रहण' शब्द यहाँ किसी वास्तविक चन्द्रग्रहण की ओर सङ्केत नहीं करता अपितु श्लेष से चाणक्य (गुप्त) को जोड़कर चन्द्रगुप्त के ग्रहण या पकड़े जाने की ओर सङ्केत करता

---

[1] पादस्याविर्भवन्तीमवनतिभवने रक्षतः स्वैरपातैः,
संकोचेनैव दोष्णां महुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते,
रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम् ।। (मुद्राराक्षस- १/२)

है। इस प्रकार अप्रतीत अर्थ की प्रतीति होती है जिस कारण यहाँ प्रस्तावना भेद में 'उद्घात्य' भेद होता है। साथ ही यहाँ बुध के योग से चन्द्र की रक्षा की बात भी कहीं गई है।

इस नाटक की नाट्यविधा परम्परागत संस्कृत नाट्य परम्परा से भिन्न है तथा इस नाटक की भावभूमि भी पृथक है क्योंकि इसमें शृंगार, वीर, करुण, किसी भी रस का अभीष्ट नाटककार को नहीं है। इसके अतिरिक्त इष्ट की वन्दना में ही कथानक की पूर्वपीठिका को अवतरित करके प्रस्तावना में ही 'चन्द्रग्रहण' शब्द के द्वारा अपनी दक्षता को फैलाते हुए कवि ने गोपुच्छाग्रवत् कथावस्तु विन्यास एवं घटनाओं का विस्तृत जाल फैलाया तथा अन्त में उसके एकतार को भी बिना उलझाये कुशलता से समेट लिया।

कालिदास के नाटको के समान ही इस नाटक में भी 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' ऐसा प्रयोग मिलता है अर्थात् नान्दी के बाद ही सूत्रधार का प्रवेश होता है। नान्दी के अनन्तर सूत्रधार नाटक तथा नाटककार का संक्षिप्त परिचय देता है।

मुद्राराक्षस नाटक अनेक विधि-विधानों में प्राचीन नाट्य परम्पराओं को तोड़ता हुआ स्त्री पात्रों का अभाव व प्रणय व्यापार का अभाव प्रदर्शित करता है। इसप्रकार संस्कृत नाटक साहित्य की रोमनी परम्परा व प्रणय चित्रण को छोड़कर एतिहासिक, राजनीतिक नवीन एवं मौलिक घटना का आधार लेकर रचना करने वाले विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक का विशेष महत्त्व है।

भट्टनारायण

वेणीसंहार- भारतीय नाटककारों में अपूर्व स्थान रखने वाले भट्टनारायण ने संस्कृत नाटकों के प्रथम श्रेणी के नाटकों में 'वेणीसंहार' नामक नाटक की रचना की। छः अङ्कों से समन्वित महाभारत पर आधारित इस नाटक में भीम के द्वारा द्रौपदी के वेणीसंहार (वेणी सवारने या बाँधने) का वर्णन है। भीम द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिए प्रतिज्ञा करता है कि वह दुःशासन का खून पीयेगा और दुर्योधन की जॉघ

तोड़ेगा। इन दोनों प्रतिज्ञाओं के पूर्ण होने पर द्रौपदी की वेणी बाँधता है इसलिए इस नाटक का नाम 'वेणीसंहार' रखा गया जो पूर्णरूपेण सार्थक प्रतीत होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से इसकी विवेचना करने पर यह स्पष्ट होता है कि भट्टनारायण ने शास्त्रीय नियमों का विधिवत् पालन किया है। 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' से प्रारम्भ होने वाले इस नाटक के सर्वप्रथम तीन श्लाकों में नान्दी रूप मङ्गलाचरण का निर्वाह करते हुए प्रथम अङ्क में कृष्ण का विष्णु रूप में वर्णन किया है। मङ्गलाचरण के प्रथम[१] श्लोक में 'निषिद्ध' पद के द्वारा यह ध्वनित होता है कि दुर्योधन के मित्रों के द्वारा युद्ध के लिए रोके जाने पर भी उसने अपने अभिमान के कारण उनकी बातो पर ध्यान नहीं दिया और युद्ध के लिए उद्धत ही रहा। इसीप्रकार 'मधुकर' पद के द्वारा दुर्योधन के परिवार की ओर सङ्केत किया गया है। 'सभिन्नमुकुलः' पद के द्वारा युधिष्ठिर आदि के वनवास आदि दुःखों के पश्चात् सुख की प्राप्ति की ओर निर्देश दिया गया है।'हरिचरणयोरञ्जलिः' पद के द्वारा उन युधिष्ठिर आदि का कृष्ण के चरणों में प्राप्त हो जाना अर्थात् उनकी शरण को प्राप्त कर लेना सूचित किया गया है। इसप्रकार इस पद्य मे 'उत्प्रेक्षालङ्कार' एवं 'शिखरणी' छन्द है तथा यह 'द्वादशपदा' नान्दी श्लोक है।

नान्दीपरक द्वितीय श्लोक[२] मे राधा कृष्ण की भावपूर्ण स्तुति से नाटककार की वैष्णवी आस्था प्रगट होती है। इसमें राधा के पद चिह्नों पर कृष्ण के पैर पड़ने पर जो रोमाञ्च हो गया, उसी प्रकार कृष्ण द्वारा राधा के प्रति किया गया सफल अनुनय दर्शकों

---

[१] निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो मधुकरैः,
करैरिन्दोरन्तश्छुरित इव संभिन्नमुकुलः।
विधत्तां सिद्धिं नो नयनसुभगामस्य सदसः,
प्रकीर्णः पुष्पाणां हरिचरणयोरञ्जलिरयम् ।। (वेणीसंहार- १/१)

[२] कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्यरासे रसं,
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्योऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः।। (वेणीसंहार-१/२)

व सामाजिकों की रक्षा करे अर्थात् छिपी हुई राधिका स्वयं पर कृष्ण का अनुराग जानकर जिस प्रकार प्रसन्न हुई उसी प्रकार प्रियानुनय आप सब के मनोरथ को पूर्ण करें। इसमे 'रास' एक प्रकार के लीलानृत्य का वर्णन है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध भाग में राधा के माध्यम से द्रौपदी का क्रोधित होकर रोना सूचित किया गया तथा उत्तरार्ध में दुर्योधन के वध के पश्चात् भीम द्वारा द्रौपदी की अनुनय तथा प्रार्थना सूचित की गई है। इसप्रकार इस श्लोक मे एक भाव का दूसरे पदार्थ का अङ्ग होने पर अत्यन्त प्रिय हो जाने के कारण 'प्रेय अलङ्कार' तथा 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है।

इसी प्रकार नान्दी परक तृतीय श्लोक[१] में 'मय' नामक राक्षस के द्वारा निर्मित किये गये त्रिपुरासुर के नगरों को नष्ट करते हुए शिव को पार्वती ने अत्यन्त स्नेह के साथ देखा और अन्य लोगों द्वारा अन्य प्रकार से देखे जाते हुए शिव आप सभी सामाजिकों की रक्षा करें, ऐसा वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक से यह भी ध्वनित होता है कि महाभारत का युद्ध भी देवी द्रौपदी द्वारा पूर्वोत्पन्न शत्रुता के कारण अति प्रेम से, आसुरी स्वभाव को धारण करने वाली दुर्योधन पत्नी भानुमती द्वारा भय व घबराहट के साथ व्यास आदि ऋषियों द्वारा दया के साथ, घटोत्कच आदि दैत्यों द्वारा अभिमान के साथ, शास्त्रों को धारण कर इन्द्रादि देवताओ के द्वारा प्रसन्नता के साथ तथा श्री कृष्ण द्वारा मुस्कुराहट के साथ देखा गया। इस श्लोक में शृंगार, भयानक, शान्त, वीर रसों के साथ शिव विषयक रति का अङ्ग होने से 'रसवत्' अलङ्कार व 'स्रग्धरा' छन्द है।

अत एव नान्दी के तीनों श्लोक मे क्रमशः विष्णु, कृष्ण व शिव की स्तुति तथा अलग-अलग छन्दों व रसों का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार नान्दी के तीनों

---

१ दृष्टसप्रेमदिव्या किमिदमिति भयात्संभ्रमाच्चासुरीभिः,
शान्तान्तसतत्त्वसौरः सकरूणमृषिभिर्विष्णुना संस्मितेन।
आकृष्यास्त्रं सगर्वैरूवशमितवधूसंभ्रमैर्दैत्यवीरैः,
सानन्दं देवताभिर्मयपुरदहने धूर्जटिः पातु युष्मानः।। (वेणीसंहार- १/३)

श्लोकों में नाटकीय कथावस्तु के बीज का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है, जिस कारण इसे 'पत्रावली' नान्दी कह सकते हैं।

नान्दी के पश्चात् सूत्रधार 'अलमतिप्रसङ्गेण' कहता है जिसका तात्पर्य है अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। सूत्रधार को यह विदित है कि प्रस्तुत किये जाने वाले नाटक का आधार महाभारत है इसलिए वह महाभारत रचयिता महर्षि वेदव्यास को भी प्रणाम करता है। सूत्रधार ने प्रथम पुष्पाञ्जलि का प्रथम श्लोक में वर्णन किया है जिसको विष्णु के चरणों में अर्पित किया तथा वेणीसंहार की द्वितीय पुष्पाञ्जलि राधाकृष्ण, शिव के रूप में कवि द्वारा दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत की गई है। यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि नान्दी श्लोक पाठ कर्ता कौन है? नाट्यशास्त्र में 'सूत्रधारः पठेन्नान्दो मध्यम स्वरमाश्रितः'[१] यह कहा गया है अर्थात् सूत्रधार ही मध्यम स्वर में नान्दी पाठ करे। इस दृष्टि से कवि को सूत्रधार का नाम सर्वप्रथम लिखना चाहिए था किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता क्योंकि ग्रन्थारम्भ में सर्वप्रथम मङ्गलाचरण किया जाना आवश्यक है इस कारण यद्यपि सूत्रधार द्वारा ही मङ्गलाचरण किया जाता है परन्तु उसका नाम मङ्गलाचरण के पूर्व नहीं लिखा जाता। अतएव ऐसा ही दृश्य वेणीसंहार नाटक में दिखाई देता है।

वेदव्यास को नमस्कार करने के पश्चात् ही नेपथ्य से आवाज आती है कि शीघ्रता करें। आर्य विदुर की आज्ञा से सभी नट त्रुटि से रहित चारों प्रकार के वाद्यों[२] के बजाने की विधियाँ प्रारम्भ करें क्योंकि कृष्ण के प्रवेश का समय हो रहा है।

नान्दी के बाद सूत्रधार ही प्रस्तावना का कार्य भी करता है अतः एक ही सूत्रधार नाटक में नान्दी और प्रस्तावना दोनों कार्य करता है यहाँ शरद् ऋतु का आश्रय

---

१ नाट्यशास्त्र- ५/१०४

२ आतोद्यविन्यास- आतोद्य चार प्रकार के वाद्यों का समूह है जिसमें -
(क) रगड़कर बजाये जाने वाले (ख) चमड़े की डोरी से आनद्य वीणादि वाद्य (ग) पीटकर बजाये जाने वाले मृदंग आदि, (घ) परस्पर लड़ाकर बजाये जाने वाले मंजीरा झाँझ आदि वाद्य। - उद्धृत वेणीसंहार, पृष्ठ-८।

लेकर गीत गाया जाता है।[1] इस गीत मे श्लेष अलंकार का प्रयोग करते हुए हंस पक्ष और दुर्योधन आदि से सङ्केतित दोनो ही अर्थ निकलते है। इसप्रकार सूत्रधार श्लिष्ट पद के द्वारा सामाजिकों को दोनों पक्ष में समझौता कराने हेतु कौरवों के पास कृष्ण को पाण्डवों का दूत बनकर जाने की सूचना देता है। शरदृऋतु की वर्णना के माध्यम से यहाँ प्रयोग का आरम्भ कराने के कारण 'प्रवर्तक' नामक आमुख भेद है। शरदऋतु के वर्णन के बाद सूत्रधार ने 'निर्वाणवैरदहना'[2] इस वाक्यार्थ को पढ़ा और इसी समय इस वाक्यार्थ को सुनकर क्रोध से भीमसेन यह कहते हुए मञ्च पर प्रस्तुत होते है कि दुरात्मन् यह व्यर्थ मङ्गलपाठ है,मेरे जीवित रहते ये धृतराष्ट्रादि स्वस्थ कैसे हैं। इस प्रकार सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्यार्थ सूत्र के सहारे भीमसेन का मञ्च पर प्रवेश होने से 'कथोद्घात' नामक आमुख भेद है भीमसेन के प्रवेश करने पर सूत्रधार आदि मञ्च से चले जाते हैं और यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार यदि हम इस नाटक का नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करें तो यह नाटक अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। इस नाटक में सूत्रधार को 'भाव' तथा पारिपाश्विक को 'मार्ष' कहकर सम्बोधित किया गया है।

अत एव इस नाटक के प्रथम अङ्क में कृष्ण का विष्णु रूप में वर्णन किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि कवि वैष्णव रूप एवं शिव भक्त है तथा इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है वेणीसंहार की प्रस्तावना में भट्टनारायण ने अपने को 'मृगराजलक्ष्मा' 'कवेर्मृगराजलक्ष्मणोभट्टनारायणस्य' कहा है। इन्होंने नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए नाटकीय नियमो की पूर्ति हेतु वीर रस प्रधान नाटक में भी श्रृंगार रस की उद्भावना करके आकर्षण व रोचकता उत्पन्न की। कृष्ण के अवतरण के

---

१ सत्यपक्षा मधुर गिरः प्रसाधिताश मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे।। (वेणीसंहार १/४)

२ निर्वाण वैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन, रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरूराजसुताः संभृत्या।
(सूत्रधार), वेणीसंहार पृष्ठ ९२

साथनाटक का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। यद्यपि युद्ध एवं संघर्ष से पूर्ण इस नाटक में शान्त रस का प्रयोग कम हुआ है किन्तु भट्टनारायण ने श्री कृष्ण का परमतत्त्व के रूप में निर्वचन करते हुए एक पद्य में इस रस को पूर्णरूपेण हृदयङ्गम करा दिया है।[1]

इस प्रकार यह नाटक उत्तम नाटक की कोटि मे परिगणति किया जाता है क्योंकि इसमें नान्दी, एवं प्रस्तावना का विवेचन अति विस्तृत ढंग से करते हुए इष्ट की वन्दना के साथ, कथावस्तु का चित्रण भी बड़े सौन्दर्यपूर्ण ढंग से किया गया है।

भवभूति- संस्कृत-साहित्य में कालिदास के बाद भवभूति ही उत्कृष्ट कोटि के नाटककारों में गिने जाते है। संस्कृत-साहित्य की समृद्ध रूपक परम्परा के क्षेत्र में इन्होंने तीन नाटको 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरितम् ' की रचना की। इन रूपकों में भवभूति ने नाट्यशास्त्रीय नियमों का कितना पालन किया यही प्रश्न विचारणीय है।

मालतीभाधव- इस संदर्भ में नाटक को काव्यात्मक रूप देने वाले भवभूति के दस अङ्कों से समन्वित प्रकरण नाटक भेद रूप शृङ्गार रस प्रधान 'मालतीमाधव' नामक प्रथम प्रकरण (नाटक) की विवेचना करेंगे। प्रकरण के लिए मृच्छकटिकम् एवं कथानक के लिए कालिदास के ऋणी भवभूति ने इस नाटक में मालती और माधव तथा मकरन्द और मदयन्तिका के प्रणय और परिणय का वर्णन किया गया है। ग्रन्थारम्भ में नान्दी का विधान एक से अधिक पद्यों अर्थात् चार श्लोकों में किया गया है। चूड़ापीडकपाल में भगवान शङ्कर के जटाओं की स्तुति करते हुए मङ्गलकामना की गई। इसके प्रथम पद्य[2] में ही 'इन्दु' शब्द का प्रयोग रससिद्धि की दृष्टि से शुभ है।[1] चन्द्रनामाङ्किता होने

---

[1] वेणीसंहार- अङ्क १/२३

[2] 'चन्द्रापीडकपालसङ्कुलगलन्मन्दाकिनीवारयो
विधुत्प्रायललाटलोचनशिखिज्वाला विभिश्रत्विषः।
पान्तु त्वामकठोरकेतवशिखासन्दिग्धमुग्धेन्दो,

के कारण यह 'नीली नान्दी है। टीकाकार त्रिपुरारि के अनुसार इसप्रथम पद्य में 'जटाजूट' से अलंकृत प्रशान्त आकार वाले शङ्कर से धीरशान्त कथानक को सूचित किया गया है।[1] इसी प्रकार दूसरे पद्य में[3] विनायक गणेश का विनोद पूर्ण स्मरण तथा सामाजिकों के लिए मङ्गलकामना की गई। कुछ टीकाकारो के अनुसार ये दोनो पद्य मिलकर 'अष्टपदा' नान्दी का रूप प्रस्तुत करते हैं। इस नाटक के चार पद्यों में से प्रथम तीन में शिव की स्तुति एवं एक में गणेश की स्तुति की गई है।

नान्दी के अन्त में सूत्रधार के प्रवेश के पश्चात् प्ररोचना प्रारम्भ होती है, जिसमें 'उदितभूयिष्ठ-आदि के द्वारा काल निर्देश किया गया तथा 'कल्याणानां त्वमसि- में सूर्य की अराधना के साथ ही कवि ने काव्यार्थ सूचन बड़ी. कुशलता से किया है। ऐसे ही 'भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायाम्' के द्वारा देश की सूचना तथा 'भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः'- आदि से कवि काव्य नटादि की प्रशंसा द्वारा महाकवि ने इस प्ररोचना को सर्वथा नाट्यशास्त्रानुकूल बना दिया है।

प्ररोचना के अनन्तर आमुख तथा प्रस्तावना का आरम्भ नट की उक्ति 'तावद्भूमिकास्तथैव- से होता है, जिसमें भारती वृत्ति के प्रयोग द्वारा सूत्रधार व नट का सम्पूर्ण वार्तालाप संस्कृत में है। अतः प्रस्तावना मे प्राकृत का प्रयोग नहीं हुआ। यहीं सूत्रधार और नट प्रकरण में प्रस्तुत किये जाने वाले पात्रों की भूमिका के सम्बन्ध में चर्चा करने लगते हैं। इस प्रस्तावना में सूत्रधार स्वयं 'कामन्दकी' की तथा नट

भूतेशस्य भुजङ्गवल्लिवलयस्रङ्नद्धजूटा जटाः।। (मालतीमाधव १/१)

[१] चन्द्रनामाङ्किता कार्या रसानां य यतो निधिः।
प्रीते चन्द्रमसि स्फीता रसश्रीरिति भाल्लुकि।। (मालतीमाधव-टीका जगद्धर, भवभूति के नाटक- ब्रजवल्लभशर्मा, प्रथम संस्करण, १९७३, पृष्ठ- ३

[२] भवभूति के नाटक- ब्रजबल्लभशर्मा- पृष्ठ-४

[३] सानन्दं नन्दिहस्ताहतमुरजखाहूतकौमाश्वर्हि -
त्रासान्नासाग्ररन्ध्रं विशति फणिपतौ भोगसङ्कोचभाजि।
गण्डोड्डीनालिमालामुखरितककुभस्ताण्डवे शूलपाणे-
वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतयः पान्तु चीत्कारवत्यः।। (मालतीमाधव-१/२)

'अवलोकिता' की भूमिका ग्रहण कर लेता है और प्रस्तावना समाप्त होने पर विष्कम्भक के आरम्भ मे इन्हीं दोनो पात्रो का प्रवेश होता है।

संस्कृत नाटकों में अपनी अन्य रचनाओं व अपना परिचय देना आधुनिक पद्धति है। कुछ नाटककार इससे अपरिचित है किन्तु भवभूति ने अपने प्रकृत नाटक का परिचय, वंश परिचय तथा जीवनवृत्त इन सभी का परिचय अपने तीनो नाटको की प्रस्तावना में दिया है। यही वर्णन भवभूति को कालिदास आदि नाटककारों से पृथक रूप में सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है।

महावीरचरित- मालतीमाधव के वर्णन के अनन्तर रामायणकालीन समाज एवं संस्कृति का वर्णन करने वाले रामचरित के पूर्वभाग का समाहार करने वाले, वीर रस प्रधान, सात अङ्कों से समन्वित भवभूति की द्वितीय रचना 'महावीर चरित' की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। 'महावीरचरित' का आरम्भ 'अष्टपदा' नान्दी पद्य से होता है।[१] छोटे से अनुष्टुप छन्द में चैतन्यज्योतिस्वरूप[२] परमात्मा को नमस्कार करके कवि आगे बढ़ गया है। शास्त्रकारों के अनुसार नान्दी में शब्दतः अथवा अर्थतः काव्यार्थ की थोड़ी सूचना आवश्यक मानी गई है।[३]

भवभूति ने इस छोटे से छन्द में नाटक की कथावस्तु के अनेक अंशो को अर्थों द्वारा तथा शब्दों द्वारा सूचित कर दिया है अर्थात् ब्रह्मस्तुति के माध्यम से इतिवृत्ति की यह सूचना दी गई है कि परब्रह्म ज्ञानस्वरूप वे स्वाधार में स्थित उत्पत्ति आदि क्रम शून्य हैं।

---

१ रूपगोस्वामी कृत- नाटकचन्द्रिका- पृष्ठ-6

२ अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
व्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः।। (महावीरचरित- १/१)

३ अर्थतः शब्दतो वापि मनाक्काव्यार्थसूचनम् ।

इसके प्रथम पद्य[1] मे प्रयुक्त 'देवाय' पद से राम के पुरुषोत्तम चरित का सङ्केत मिलता है तथा जानकी के साथ उनकी क्रीडादि की भी सूचना मिलती है। इस नाटक के सात अङ्कों में राम का चरित्रोत्कर्ष अनेक स्थलो पर लक्षित होता है। समस्त पात्र राम का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गुण कीर्तन करते है। रावण का आमात्य माल्यवान राम को अद्भुत प्राणी मानता है- 'उत्पत्तयैव हि राघवः किमपि तद्भूतं जगत्यद्भुतं। मर्त्यत्वेन किमस्य यस्य चरितं देवासुरैर्गीयते।'[2]

'हतपाप्मने' पद से यह सूचना मिलती है कि बाली, रावण आदि के वध का वर्णन होगा। राम प्रत्यक्ष युद्ध करते हुए बाली का वध करते है। रावण अत्यन्त विलासी है तथा सीता के सौन्दर्यवलोकन में लीन रहता है। युद्ध के समय वह मायाशक्ति का प्रयोग करता है तथा देवगण से आदिष्ट हो राम रावण का वध करते हैं।

'चैतन्यज्योतिषे' पद के द्वारा नायक का प्रख्यातत्त्व तथा उदात्तता द्योतित होती है। परशुराम राम की प्रशंसा करते है- 'त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः। क्षात्रो धर्मः श्रितः इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै। सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणानां प्रादुर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माण राशिः'।[3]

'व्यक्तक्रमविभागाय' पद से जामदग्न्य प्रभृति का अनुवर्तनीयत्व प्रगट होता है। परशुराम अहंकार दमन के अनन्तर अत्यन्त विनम्र हो जाते हैं तथा कहते है- 'इदमिदानीमशक्यम् अनतिक्रमणीयो रामनिदेशः।'[4] अतएव नान्दी के इस प्रथम पद्य से ही नाटक की समस्त घटनायें अभिव्यञ्जित हो जाती हैं।

---

[1] 'अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
व्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः।। (महावीरचरित- १/१)

[2] महावीरचरित- २/६ का पूर्वार्द्ध

[3] महावीरचरित- २/४१

[4] महावीरचरित- ४/२३-२४

नान्दी के अनन्तर काव्यार्थ की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को नाट्याभिमुख करना प्ररोचना है। इस नाटक की प्ररोचना में सूत्रधार नान्दी के पश्चात् कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर 'महावीरचरित' नाटक के अभिनय की सूचना देता है[1] इसलिए 'कालप्रियानाथस्य' पद के द्वारा देश तथा 'यात्रायाम्' के द्वारा काल निर्देश प्राप्त होता है। 'महापुरुषसंरम्भ' आदि से प्रयोज्य वस्तु की सूचना मिलती है। 'वश्यवाचः कवेर्वाक्यं सा च रामाश्रयाकथा लब्धश्च वाक्यनिष्यन्दनिष्येषनिकाषो जनः' आदि पद से कवि, काव्य एवं सामाजिको की प्रशंसा द्योतित होती है। इसप्रकार प्ररोचना में नाटक के प्रति सामाजिकों की प्रवृत्ति को उन्मुख करने की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

नट के प्रवेश से आमुख (प्रस्तावना) का आरम्भ होता है। इसमें सूत्रधार पूर्वकथा की ओर सङ्केत कर देता है जो वर्ण्य विषय का सन्दर्भ समझने के लिए आवश्यक है। अपने कथन के अन्त में वह सीता तथा उर्मिला के साथ कुशध्वज के आगमन की सूचना भी दे देता है और इन पात्रों के प्रवेश के साथ ही प्रथम अङ्क प्रारम्भ हो जाता है। शास्त्रानुसार यह आमुख के पाँच भेदों में 'प्रयोगातिशय' प्रस्तावना भेद है।

भवभूति ने वीरसयुक्त इस नाटक की प्ररोचना प्रसङ्ग में अपने आपको 'वश्यवाक' कहा है तथा अपना लक्ष्य बताया कि इसमें प्रसाद व ओज गुण का समन्वय करते हुए अर्थगाम्भीर्ययुक्त भारती वृत्ति[2] का आश्रय लिया गया है। इसप्रकार सर्वगुणप्रधान भवभूति उच्चकोटि के नाटककार है किन्तु उत्तरामचरित में कालिदास से

---

[1] **सूत्रधारः** - भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्राः समादिशन्ति महापुरुषसंरम्भो यत्त गम्भीरभीषणः। प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती।
(महावीरचरित- १/२)

[2] प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती। (महावीरचरित-१/२)
अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः। (महावीरचरित- १/३)
वश्यवाचः कवेर्वाक्यम् । (महावीर चरित- १/४)

भी बढ़कर अपनी कवित्व प्रतिभा को प्रदर्शित करते है। अत एव कहा जाता है- 'उत्तररामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

उत्तररामचरितम् - भवभूति के तीनों नाटकों में 'उत्तररामचरितम्' ही सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। करूण रस प्रधान, सात अङ्कों से युक्त रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा पर आधारित है, जिसमे राम के लङ्का से लौटने के बाद की घटनाओं का वर्णन है। इसका प्रारम्भ 'इदंकविभ्यः' नान्दी पद्य' से होता है। सुबन्तादि पदों की गणना से इसमें ग्यारह पद होते हैं किन्तु कुछ लोगों ने 'नमोवाकम्' को नमस्+वाकम् दो शब्द मानकर बारह पद तथा कुछ ने प्र+शास्महे में उपसर्ग व धातु को अलग कर दो पद माने हैं। इसप्रकार यह बारह पदो वाली नान्दी कही गई है। 'द्वादशपदा' नान्दी रूप एवं अनुष्टुप छन्द युक्त इस पद्य में भवभूति ने वाल्मीकि आदि पूर्वकवियों तथा अमरवाणी सरस्वती को प्रणाम किया है जो शब्द ब्रह्म रूप है अर्थात् वाग्देवी शब्दब्रह्म की कला का अंश है। यह परमात्मा की कला स्वरूप है। इस श्लोक से यह तथ्य भी सङ्केतित होता है कि भवभूति एक शब्द क्रम वेत्ता कवि के रूप में जाने जायें।

इस नान्दी मे सामाजिकों की रक्षा का वरदान नहीं माँगा गया। सूर्य, चन्द्र का नामोल्लेख न होने से यह 'शुद्धा' नान्दी भेद है। इसे पत्रावली नान्दी तभी कहा जा सकता है जबकि टीकाकार घनश्याम के अनुसार यह मान लिया जाय कि आत्मा और कला शब्दों से राम और सीता की सूचना मिलती है।'

नान्दी पाठ समान्यतया सूत्रधार ही करता है वही नान्दी पाठ के बाद सञ्चालक के रूप में नाटक को प्रारम्भ करता है। अत एव नान्दी पाठ के बाद 'सूत्रधारः प्रतिशति' का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता।

---

१ इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥ (उत्तररामचरितम् - १/१)

२ उत्तरामचरित (१/१ घनश्याम टीका)

नान्दी की समाप्ति पर सूत्रधार की प्रथम उक्ति 'अलमतिविस्तरेण' एक ओर नाटक में प्रयुक्त गीत, वाद्य, नृत्य आदि का निर्देश करती है तो दूसरी ओर यह स्पष्ट होता है कि कवि शीघ्रातिशीघ्र मूल कथावस्तु को प्रेक्षको के समक्ष ला देना चाहता है। इसी आशय से इस नाटक में कवि परिचय भी अन्य दो नाटको की (मालतीमाधव, महावीरचरित) अपेक्षा अत्यधिक संक्षिप्त कर दिया गया है। केवल तीन, चार पंक्तियो की प्ररोचना में देशकाल तथा प्रयोज्य वस्तु का निर्देश कर कवि ने रङ्गमञ्च पर ही सूत्रधार को 'अयोध्यक' बना दिया। यही पर कवि ने स्वतः को 'परिणतप्रज्ञ' भी कहा है।[1]

प्ररोचना में शास्त्रीयनियम का उल्लंघन करने में सम्भवतः समय की बचत करना ही कवि का उद्देश्य रहा है। कवि की यह संक्षेपवृत्ति सराहनीय है।

इसप्रकार नान्दी के अन्त मे सूत्रधार भवभूति का परिचय देकर नाटक के कथावस्तु की प्रस्तावना करता है। महाकवि ने प्रस्तावना को संक्षिप्त किया है। इसका प्रत्येक शब्द महत्त्वपूर्ण है इसमें नाट्यशास्त्र के आदेशों का ही पालन नही किया गया अपितु बड़े कौशल के साथ नाटक की कथावस्तु से सम्बन्धित अनेक तथ्यों की ओर सङ्केत कर दिया गया है। सूत्रधार का कथन कि राम के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में माङ्गलिक वाद्यों के वादन का अवसर होने पर राजगृह चारणों से रहित क्यों है? इससे नाटक का रहस्य सङ्केतित हो जाता है।

तत्पश्चात् नट प्रवेश करके कहता है सभी राजर्षियों एवं ब्रह्मर्षियों के स्वागतार्थ यह हो रहा था अब सब विदा हो गये हैं। तदनन्तर कहता है आप राजा के लिए प्रशंसात्मक स्तुतिपाठ का विचार करें किन्तु सूत्रधार का कथन है कि सर्वत्र निर्दोषिता सम्भव नहीं है। इन्हीं वाक्यों द्वारा प्रस्तावना की सूचना मिल जाती है। जिस प्रकार

---

१ अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि अस्ति खलु तत्रभवान् काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः। (उत्तररामचरितम् - पृष्ठ-३)

मनुष्य स्त्रियों की पतिव्रत्य में छिद्रान्वेषी होते हैं उसी प्रकार वाणी के विषय में भी होते हैं[१] इससे यह बात भी सूचित हो जाती है कि आगे आने वाली कथा मे भी सीता की पातिव्रत्या में लोगों को अविश्वास है। यही पर प्रस्तावना समाप्त हो जाती है। प्रस्तावना के अन्त में सूत्रधार कहता है- 'देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय धर्मासनाद् विशति वासगृहं नरेन्द्रः'- इसके पश्चात् ही राम व सीता का प्रवेश होता है यह 'प्रयोगातिशय' प्रस्तावना भेद है, क्योकि यहाँ सीता के अपवाद का प्रसङ्ग छोड़कर राम के शयनगृह मे जाने का प्रसङ्ग उपस्थित किया गया और राम-सीता का रङ्गमञ्च पर प्रवेश दिखाया गया है।

इसप्रकार भवभूति के नाटकों में नान्दी पद्य के प्रारम्भ में 'सूत्रधारः प्रविशति' का उल्लेख न होने के कारण यह स्पष्ट है कि कविकृत नान्दी सूत्रधार के द्वारा ही की गई। इनके तीनों नाटकों के नान्दी पद्य इनकी विशिष्ट कविदृष्टि प्रतिभा व नयेपन को प्रस्तुत करते हैं। कालिदास व भवभूति दोनों ने ही अपने नान्दी पद्यों मे अपने जीवन दर्शन और मूल्य बोध को व्यक्त किया है। भवभूति 'महावीरचरित' के प्रथम नान्दी पद्य में 'चैतन्यज्योति' की वन्दना करते हैं तथा मालतीमाधव की नान्दी में गणेश के विकट नृत्य का स्फुरित प्राय पदावली में आकर्षक चित्र प्रस्तुत करते है जो संस्कृत नाटकों के नान्दी पद्यों में निराला ही है। उत्तररामचरितम्, की नान्दी भी विशिष्ट है जिसमें पहले के कवियों को नमन करते हुए अपनी ही आत्मा की अमृतकलावाणी की प्राप्ति या उसके प्रति प्रणति निवेदित की गई। उत्तररामचरित के अन्त में कवि ने शब्द ब्रह्मवित कवि की वाणी को भावित किये जाने की कामना की है तथा इन्होंने शब्द ब्रह्म की साधना पर जोर देते हुए शब्द साधना से ही संस्कृत काव्य को समृद्ध किया। भवभूति की साधना के तीन आयाम है- (क) शास्त्रज्ञान और नवशास्त्र रचना की क्षमता (ख) लोकव्यवहार या लोकभाषाओं का अभ्यास (ग) सहजबोध या स्वानुभूति। शूद्रक

---

[१] सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनोजनः।। (उत्तररामचरितम् - १/५)

के मृच्छकटिकम् के पश्चात् प्रकरण विधा पर लेखनी चलाकर भवभूति ने एक सफल नाटककार का परिचय देते हुए अपने मालतीमाधव (प्रकरण) की प्रस्तावना मे इन तीन आयामों के प्रकारान्तर से इंगित किया है।

यदि हम भवभूति के रङ्गमञ्च परम्परा की ओर ध्यान दें तो यह विदित होता है कि भवभूति ने संस्कृत नाटक के नाट्यानुभव को नया संस्कार दिया। संस्कृत नाटक व उसके रङ्गमञ्च की परम्परा अति प्राचीन है। संस्कृत नाटकों का अभिनय राजसभा की रङ्गशाला में चुने हुए रसिको तथा पण्डितों की मंडली के समक्ष होता रहा है परन्तु संस्कृत के अनेक नाटककार ऐसे भी हैं जो राजसभा की रङ्गशाला से नही जुड़े अपितु अपने नाटक उन नाटक मंडलियों को खेलने के लिए दिये जो मंदिरो व देवालयों के यात्रा महोत्सव के अवसर पर प्रदर्शन करती हैं। ऐसे महोत्सवों मे दूर-दूर से नाटक देखने वालों की भीड़ होती थी और यह नाटक कई दिनों तक चलता था। संस्कृत के श्रेष्ठ नाटककारों में भवभूति व कालिदास हैं। कालिदास के नाटक राजसभा की रङ्गशाला में खेले गये तो भवभूति के तीनों नाटकों का अभिनय मंदिर के कालप्रियानाथ के यात्रामहोत्सव के अवसर पर एकत्र जनसमुदायके समक्ष किया गया जो इनकी प्रस्तावनाओं से ही ज्ञात हो जाता है। यात्रामहोत्सव में कई दिनो तक रात-रात भर विविध प्रकार के प्रदर्शन होते थे। अन्य ग्रन्थों में यात्राओं के जो विवरण मिलते हैं उससे पता चलता है कि सारे भारत से यहॉ तक कि उत्तर के मंदिरों के यात्रा महोत्सवों में दक्षिण के दूर-दूर के क्षेत्रों से भी नाटक मंडलियॉ अपने नाटक दिखाने आती थी। साथ ही लोक नाट्य या अन्य कोटि के नाट्य भी इस उत्सवों पर खेले जाते थे जिन्हें नाट्यशास्त्रीय परम्परा में उपरूपक कहा गया है। ऐसी स्थिति मे भवभूति के तीनों रूपकों में लोक नाट्य परम्परा का गहन संस्कार दृष्टिगत होता है।

यात्रा महोत्सव में जुटे विराट जनसमुदाय की लोकरुचि मंदिर ने और यात्रामहोत्सव के वातावरण तथा विशाल रङ्गमञ्च की अपेक्षा ने निश्चित रूप से मंदिर की रङ्गशाला के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की संरचना को प्रभावित किया। भवभूति

के तीनों नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि दिशा-दिशा से बहुत सारे लोग नाटक देखने के लिए आये हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भवभूति के नाटक सभी रसिकों एवं पण्डितों के लिए हैं, कालिदास की भाँति गिने-चुने रसिकों के लिए ही नहीं हैं। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों के प्रयोग में सूक्ष्म अभिव्यञ्जना शैली अपेक्षित है किन्तु भवभूति के नाटकों के प्रयोग के लिए उच्च स्वर मे वार्ता और उनके साथ स्थूल आङ्गिक व्यापार का समायोजन अपेक्षित रहा होगा क्योंकि इनके नाटकों को सहस्रों लोग एक साथ देखने वाले हैं, इस बात को दृष्टि मे रखते हुए नाटक की रचना की गई होगी। उत्तररामचरित की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि प्रयोजनवश यह मैं अयोध्यावासी रामायण के काल का एक पात्र बन गया हूँ। अतः एव जनसामान्य के लिए रचे होने से इनके नाटकों पर लोकनाट्यों की परम्परा का गहरा प्रभाव है क्योंकि इसके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध नाटकों में सूत्रधार या कोई अभिनेता अपनी आगे की भूमिका की घोषणा करके रङ्गमञ्च पर ही भूमिका धारण करता हुआ प्रदर्शित किया जाय ऐसा नहीं होता है, यह तो लोकनाट्य परम्परा की रूढ़ि है।

इसीप्रकार 'मालतीमाधव' मे भी सूत्रधार और पारिपार्श्विक 'कामंदकी' एवं 'अवलोकिता' की भूमिका में इसी तरह अपनी भूमिका बताकर मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त दो या इससे अधिक पात्र अलग-अलग पात्रों के संबोध्य कोई संवाद एक साथ बोलें यह प्रयोग भी भवभूति ने अनेक बार किया है जैसे- उत्तरामचरित में (३/४८) तमसासीता के लिए, बासंती राम के लिए एक ही पद्य एक साथ बोलती है। महावीरचरित के तीसरे अङ्क में परशुराम के साथ विश्वामित्र, वशिष्ठ की झड़प में इस तरह के प्रयोग बार-बार है। ये प्रयोग लोक नाट्य या लीलानाट्य की परम्परा के सम्पर्क सूचक हैं।

इस प्रकार लोकनाट्यपरम्पराओं का आधार लेकर नाट्य की रचना करने वाले भवभूति ने नान्दी, प्ररोचना और प्रस्तावना का सम्यक् रूप से अपने नाटकों में विस्तार किया। विविध शास्त्रों के विशेषज्ञ होने के कारण स्वयं को 'परिणतप्रज्ञ' कहने वाले

इनके नाटकों में सार्थकता, स्वाभाविकता एवं परिपक्वता दिखाई देती है। इनके तीनों नाटकों का अभिनय इनके जीवनकाल में ही हो गया था। शृंगार एवं वीर रस प्रधान काव्य रचना के अनन्तर इन्होंने करूण रस प्रधान नाटक की रचना की तथा अद्भुत रस का आश्रय लेकर नाटक को सुखान्त बना दिया जो इनके दिगदिगन्त यश को विस्तारित करने के लिए पर्याप्त है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा शताब्दियों से निरन्तर विकसित होती रही है। इसके परिणाम स्वरूप रङ्गमञ्च और नाटककार के नाटकों की विकासयात्रा प्रतिफलित हुई। भास, कालिदास भवभूति आदि प्रथम पंक्ति के नाटककारों के साथ अन्य नाटककार भी हुए जिन्होंने इन्हीं पूर्व नाटककारों के पथ का अनुगमन करते हुए अपने नाटकों में कुछ ही नाट्यनियमों का पालन किया और अधिकांशतः भागो को छोड़ दिया। इन्हीं नाटककारों में हम सर्वप्रथम मुरारि के 'अनर्घराघव' नामक नाटक की समीक्षा करेंगे।

मुरारि

अनर्घराघव- मुरारि का एक मात्र ग्रन्थ 'अनर्घराघव' ही प्राप्त होता है, जो सात अङ्कों से युक्त रामायण की कथा पर आधारित नाटक है। इसमे विश्वामित्र के यज्ञ के रक्षार्थ दशरथ से राम लक्ष्मण को माँगने से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन है। इस नाटक में अधिकांश कल्पनायें मौलिक रूप में नहीं हैं फिर भी यह नितान्त गौरवपूर्ण ग्रन्थ बनकर साहित्य का मेरुदण्ड व व्याकरण का नैपुण्य निकष माना जाता है तथा नाटक और काव्य को मिश्रित रूप में प्रस्तुत करने के कारण 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' मुरारि का तीसरा नया मार्ग कहा जाता है।

इस नाटक के प्रारम्भिक दो श्लोकों में नान्दी की गई है। जिसके प्रथम पद्य[१] मे अष्टपदा नान्दी है- विघ्नशान्ति के लिए कौमोद नामक गदा से विभूषित भगवान् विष्णु

---

१ निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः।

के उन नयनों की उपासना की गई जिसमे कोक की प्रीति और चकोर के व्रतान्त भोजन, सूर्यचन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है। इस नान्दी श्लोक मे कोक एवं चकोर पद का वर्णन किया गया है।

नान्दी विषयक द्वितीय श्लोक[१] में विष्णु के नाभिकमल में रहने वाले त्रिभुवन निर्माण कर्ता ब्रह्म के द्वारा संसार की स्थिति व अधिकरण आदि को प्रत्यक्ष देखने के लिए विष्णु के उदर में प्रवेश किया गया। इसप्रकार प्रलयकाल में संसार को उदर में समेट लेने वाले विष्णु की स्तुति की गई।

नान्धन्ते के बाद सूत्रधार कहता है 'अलमतिविस्तरेण' अर्थात् अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है तथा यह प्रदर्शित किया गया कि श्याम वर्ण भगवान पुरुषोत्तम की यात्रा में उपस्थित सभासदों, अन्य द्विप से आये 'कलहकन्दल' नामक नट ने रौद्र, वीभत्स व भयानक रस से ओतप्रोत कोई प्रबन्ध नित्य दिखाकर यहाँ के लोगो को उद्वेजित कर दिया है। अतः बहुरूप के शिष्य 'सुचरित' नामक (मुझ) नट को आज्ञा दें कि मै अभिनय रस वाले रूपक का अभिनय करूँ क्योंकि सदस्यों की प्रीति नाट्योप-जीवी नटों की प्रियतमा होती है।

अतः उसे छीनकर ले जाने वाले उस दुष्ट को जीतकर मैं उस प्रीति रूप प्रियतमा को वापस लाने के लिए अभिनय करना चाहता हूँ[२] यही आशय सूत्रधार का है।

कोकप्रीतिचकोरपारणपटु ज्योतिष्मती लोचने।।
याभ्यामर्धविवोधमुग्धमधुश्रीरर्धनिद्रापितो
नाभीपल्लवपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः।। (अनर्घराघव- १/१)

[१] विरमतिमहाकल्पे नाभीपथैकनिकेतन-
स्त्रिभुवनपुरः शिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मभूः।
किमधिकरणं कीद्धककस्य व्यवस्थितिरित्यसा-
बुदरमविशद्द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः।। (अनर्घराघव- १/२)

[२] प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः।

इस नाटक में मञ्च पर ही सूत्रधार के द्वारा आकाशभाषित का अभिनय किया गया है और इसके माध्यम से ही सूत्रधार के एक विशेष गुण का उद्‌घाटन किया गया है। यहाँ इस प्रकार का दर्शन कराया गया कि नाट्य देखने वालों की संख्या अधिक नहीं है और आकाशभाषित के द्वारा ही यह कहा गया कि आप (सूत्रधार आदि पात्रों) को प्रसन्न करने की ही प्रवृत्ति पात्र जुटाने में सहायता देगी क्योंकि न्याय पर चलने वालों को पशु-पक्षी भी सहायता देते हैं और अन्याय पर चलने वालों को उनके मित्र भी छोड़ देते हैं। पुनः आकाशभाषित के द्वारा सूत्रधार को आज्ञा पत्रिका की सूचना दी गई है। उसी समय एक नट का मञ्च पर प्रवेश होता है जो सूत्रधार को आज्ञापत्रिका देता है और सूत्रधार उसका पाठ करता है।

इस प्रबन्ध में चतुर्विध पुरुषार्थ का रहस्य भी प्रतिपादित होता है।

सूत्रधार के द्वारा नट को इक्ष्वाकुवंशियों के यशशरीर रूप रामायण से सम्बन्धित प्रबन्ध के अभिनय की सूचना दी गई। नट के द्वारा रामायण रचयिता वाल्मीकि कविता को कविगण के द्वारा उपजीवन बताते हुए इनकी प्रसिद्धि का वर्णन किया गया किन्तु सूत्रधार के द्वारा सामाजिकों की उत्सुकता बनाये रखने के लिए बड़े अन्तराल के बाद ही यह उद्‌घाटित किया गया कि किस नाटक का अभिनय किया जाय। इसके साथ ही कविवंश का परिचय और अभिनय होने वाले नाटक का परिचय दिया गया कि तन्तुमती नामक माता के गर्भ से उत्पन्न मुरारि के 'अनर्घराघव' नाटक के द्वारा दर्शकों का मनोरञ्जन किया जाय। इसप्रकार दर्शकों की उत्सुकता को स्थायित्वता देने की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

प्ररोचना का आश्रय लेकर सूत्रधार ने अपने सहयोगियों को पदपाठ, गीतिकला एवं सर्वनाट्याङ्गों में सिद्धहस्त बताया तथा कवि की रचना की भी विशेषता बताते हुए उसे गम्भीर मधुर 'उद्‌गारशालिनी' कहा है। इसके साथ ही नाटक के प्रधान नायक

जित्वा तद्‌पहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् । (अनर्घराघव- १/३)

श्रीरामचन्द्र को उदात्त गुणों से युक्त बताते हुए कवि की वाणी को दिव्यवाणी के रूप में स्थान दिया।

इसप्रकार सूत्रधार ने कवि, नायक एवं काव्य सभी की प्रशंसा करते हुए महाकवि मुरारि के अतिशय गुणों का वर्णन किया कि इन्होंने अपने कविता के प्रारम्भ में स्वतः प्रकाश शब्द ब्रह्म वाले प्राचेतस वाल्मीकि एवं सरस्वती की वन्दना की है। इस वर्णन के द्वारा यह सूचित होता है कि मुरारि के अनर्घराघव नाटक का मञ्चन करते समय जो नान्दी की गई वह मूल नाटक की नहीं है अपितु यह नाटक के प्रारम्भ में परम्परा का निर्वाह मात्र करने के लिए की गई सूत्रधार की नान्दी रूप मङ्गलाचरण है।

नट के द्वारा मुरारि के गोत्र व इनकी कविता की विशेषता का प्रतिपादन नाटक मञ्चन के समय अनेक बार किया गया जो प्ररोचना की पुष्टि परम्परा का निर्वाह करती है।

कवि काव्यादि की प्रशंसा के पश्चात् नेपथ्य गीत[१] के माध्यम से प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु की ओर सङ्केत किया गया। इसप्रकार कमलकुल की गोद रूप दशरथ की गोद से राम को अलग करने वाले विश्वामित्र की सूचना देने वाले इस गीत का पूर्ण तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कमल कुल के गोद से भ्रमर को सूर्य की किरण समुदाय निकाल देती है और लोगों को आनन्दित करती है, उसी प्रकार दशरथ के गोद से राम को निकालकर विश्वामित्र यज्ञरक्षार्थ आश्रम ले जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कथानक का परिचय इस गीत के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया गया है।

इस नेपथ्य गीत के पश्चात् सूत्रधार का कथन कि वामदेव और दशरथ में वार्तालाप हो रही है और दो व्यक्तियों के रहस्य में नहीं पड़ना चाहिए। अत एव इस मनोहारी गीत के द्वारा ही मञ्च पर दशरथ और वामदेव के प्रवेश होने के कारण

---

१ दिनकर किरणोत्करः प्रियाकरः कोपि जीवलोकस्य।
कमलमुकुलाङ्कपालीकृतमधुकरकर्षण विदग्धः।। (अनर्घराघव- १/४)

'अवगलित' नामक प्रस्तावना का भेद प्रतीत होता है। यहीं पर प्रस्तावना की समाप्ति हो जाती है और नट तथा सूत्रधार दोनो मञ्च से चले जाते हैं तथा वास्तविक नाटक प्रारम्भ हो जाता है।

इस प्रकार कुछ नवीनता लिये हुए यह नाटक नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से पूर्णतया खरा नहीं उतरता फिर भी कुछ अंशों का पालन करते हुए श्रद्धेय नाटकों की कोटि मे स्थान ग्रहण करने में अवश्य समर्थ है।

दिङ्नाग

कुन्दमाला- पाचवीं शताब्दी ई० के बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग से भिन्न कुन्दमाला नाटक के रचयिता दिङ्नाग का यह नाटक १९२३ मे मद्रास से प्रकाशित हुआ। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सर्वप्रथम नाट्यदर्पण में कुन्दमाला का उल्लेख किया है।[1] भास के रूपकों की भाँति यह नाटक कई शताब्दियो तक विलुप्त रहा, किन्तु आचार्य परम्परा में इसका नाट्यदर्पण की भांति अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। इसीप्रकार भास की भाँति ही इसके प्रणेता के वास्तविक नाम के संदर्भ में भी समस्या है।

यह नाटक भवभूति के उत्तररामचरितम् के अनुकरण पर लिखा गया। इसमें राम के द्वारा सीता के परित्याग से लेकर रामसीता के मिलन तक की घटना है, अर्थात् रामकथा की नाटकीय सम्भावनाओ को नाटककार ने प्रस्तुत किया। सम्पूर्ण नाटक में छः अङ्क हैं तथा सभी अङ्कों का दृश्य विधान तपोवन परिसर में केन्द्रित है। जो करुण रस प्रधान होते हुए सुखान्त नाटकों की श्रेणी में स्थित है।

दिङ्नाग ने भारतीय परम्परानुसार अनुष्टुप छन्द से नाटक के प्रारम्भ में नान्दी का प्रणयन करते हुए गणेश की वन्दना की है।[2] इस नान्दी श्लोक मे रूपक अलंकार

---

[1] यथा वीरनागनिवद्धायां कन्दमालायां, -नाट्यदर्पण-रामचन्द्र-गुणचन्द्र, पृष्ठ ४८

[2] जम्भारिमौलिमन्दारमालिकामधु चुम्बिनः।
पिबेयुरन्त[illegible]रायाब्धिं हरेम्वपदपांसवः। (कुन्दमाला- १/१)

है क्योंकि विघ्नों में समुद्र का आरोप वर्णन किया गया और धूलिकणों में पान शक्ति का आरोप वर्णन है। इसप्रथम नान्दी श्लोक मे गणेश की स्तुति परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रतीत होती है क्योंकि विघ्नों का हरण कर्ता गणेश को माना जाता है और यहाँ विघ्न विनाश के लिए गणेश की ही वन्दना की गई है अर्थात् गणेश से विघ्न हरण की मङ्गलकामना होने के कारण नान्दी भेदों में यह शुद्धा नान्दी प्रतीत होती है। विघ्नहरण की कामना के लिए की गई स्तुति से यह तात्पर्य निकलता है कि नाटक में विघ्न ही मुख्य है। इस नान्दी श्लोक से कथानक की सूचना भी मिल जाती है।

इस नान्दीपरक प्रथम श्लोक के अनन्तर ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' का उल्लेख मिलता है इसका तात्पर्य यह है कि नान्दी के पश्चात् ही सूत्रधार का प्रवेश होता है जो भास के नाटकों से साम्य प्रदर्शित करता है क्योंकि ऐसा ही वर्णन भास के नाटकों में भी दिखाई देता हैं किन्तु यहाँ भास से कुछ भिन्नता दिखाई देती है। भास ने अपने नाटक के प्रारम्भ में सर्वप्रथम 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' लिखा है परन्तु इस नाटक मे एक श्लोक के पश्चात् यह वाक्य लिखा गया है इससे यह तात्पर्य निकाल सकते हैं कि सूत्रधार ने पहले इस नान्दी श्लोक का पाठ किया तत्पश्चात् वह मञ्च पर प्रवेश करता है इसके बाद जो द्वितीय नान्दी की गई वह परम्परा निर्वाह करते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु सूत्रधार द्वारा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार प्रथम नान्दी नाट्य परम्परा का पूर्ण निर्वाह करती है।

प्रथम नान्दी श्लोक के अनन्तर द्वितीय पद्य[1] में उपमालंकार के माध्यम से शंकर की स्तुति करते हुए कवि ने शिव के जटासमूह से सामाजिकों की रक्षा के लिए प्रार्थनाकी है। इसमें कवि शैव मतावलम्बी प्रतीत होता है तथा इस पद्य में

---

[1] ज्वालेवोर्ध्वविसर्पिणीपरिणतस्याऽन्तस्तपस्तेजसो।
गङ्गातोयतरङ्ग सर्पवसतिर्वल्मीकलक्ष्मीरिव।।
सन्ध्येवाऽऽर्द्र मृणालकोमलतनोरिन्दो सदास्थायिनी
पापाद्वस्तरूणाऽरुणांशुकपिलाशम्भोर्जटासंतति।। (कुन्दमाला- १/२)

शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग करते हुए नटी को नृत्य के लिए बुलाने वाला सूत्रधार यह वाक्य सुनता है 'देव उतरिये' और इसका तात्पर्य सीता की ओर समझा जाता है जो कि निर्वासित की जा रही है।

कुन्दमाला मे 'इतइतः' इत्यादि नेपथ्य की ओर से सुनकर सूत्रधार ने कहा 'कोऽयं खल्वार्याह्वानेन सहायकमिव में संपादयति' यह कहकर नृत्यप्रयोग के लिए अपनी पत्नी नटी को बुलाता है इसी समय सूत्रधार ने लङ्केश्वरस्य भवने .. लक्ष्मणोऽयम्' इस श्लोक का कथन करके सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया और मञ्च से चला गया। इसलिए यहाँ प्रयोगातिशय प्रस्तावना भेद है। यहाँ कवि ने अपने प्रयोग से उत्कृष्टता दिखायी है तथा ऋतु का वर्णन करके, इसके अनन्तर शरद् ऋतु के आश्रय से उसी रूप मे राम का प्रवेश दिखाया है इसलिए प्रवर्तक नामक प्रस्तावना भेद भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार पूर्व आचार्यों की भाँति ही नाट्यशास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए थोड़ी उत्कृष्टता प्रदर्शित की है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रङ्गमञ्च की दृष्टि से कुन्दमाला एक प्राणवान् रचना तथा श्रेष्ठ सफल नाटक है। अत एव सजीवता और क्रियाशीलता की दृष्टि से भी अनुपम रचना है इसकी भाषा-शैली एवं संवाद भी रोचक है।

कृष्णमिश्र

प्रबोधचन्द्रोदय- संस्कृत-साहित्य में प्रतीक (साध्यवसान) या रूपात्मक नाटकों के रूप में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं, जिसमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थो को नाटकीय पात्र बनाया गया है। इस प्रकार के नाटकों को प्रतीक नाटक इसलिए कहा गया है क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थो के प्रतीक मात्र होते हैं तथा उनकी भौतिक जगत् में स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। अश्वघोष के समय में प्रस्फुटित हुई प्रतीक या प्रतीकात्मक नाटक की परम्परा में ग्यारह सौ इसवी के लगभग कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक रूपात्मक नाटक प्राप्त होता है। डॉ. कीथ ने इस विषय में कहा कि यह नहीं कहा जा

सकता कि यह नाटक उस रूप का (जो अश्वघोष के समय से ही एक छोटे पैमाने पर प्रयुक्त होता रहा) पुर्नजीवन है या सर्वथा नवीन रचना (जिसका होना सहज सम्भव है) किन्तु बलदेव उपाध्याय[1] ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक को इस परम्परा को पुर्नजीवन प्रदान करने वाला कहा है। इसके बाद भी संस्कृत प्रतीक या रूपात्मक नाटकों की परम्परा चलती रही क्योंकि इसी परम्परा मे जैन कवियों ने तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अपने धर्म प्रचार के लिए उपयोगी 'मोहराजपराजय' नामक रूपात्मक नाटक की रचना की जो प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर ही रचित है।

इसके पश्चात् अनेक रूपात्मक नाटकों की रचना हुई जिनका उद्देश्य धार्मिक, दार्शनिक तत्त्वों का सरस निरूपण करना है। अतः इनसे जनता का मनोरञ्जन एवं शिक्षण दोनों कार्य सम्भव हुए। इस सन्दर्भ में 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक प्रसिद्ध नाटक का विवेचन अति आवश्यक है।

ग्यारहवी शताब्दी में श्रीकृष्णमिश्र चन्देलराजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए। श्रीकृष्ण के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की प्रस्तावना में यह उल्लेख है कि श्रीमान् गोपाल के आदेश से कीर्तिवर्मा की उपस्थिति में इस नाटक का अभिनय किया गया। इससे यह भी सङ्केत मिलता है कि गोपाल इनको प्रकृत नाटक की रचना के लिए प्रोत्साहित करता था। बारहवीं शताब्दी के नाटककार की कृष्ण मिश्र ने छः अङ्कों से युक्त अमूर्तभावों के विशुद्ध मानवीकरणके माध्यम से इस प्रतीकात्मक नाटक की रचना की। यह एक गम्भीर दार्शनिक प्रतीक नाटक है जिसमें सम्पूर्ण मानव जीवन का चित्रण किया गया है किसी एक गुण या दोष का नहीं। इसके साथ ही यह नाटक मानव हृदय की शक्तियों के अन्तर्विरोध का सफल उपस्थापन है इस उपस्थापन में मानव हृदय की दो स्वाभाविक वृत्तियों के चित्र हैं, जिनमें एक पक्ष की वृत्तियाँ आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करती हैं तथा दूसरे पक्ष की वृत्तियाँ उसके विमुख हैं। मन के दो शक्तिशाली पुत्रो के

---

[1] संस्कृत-साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय,
पञ्चम संस्करण, पृष्ठ ६२१-२२

विरोध की कल्पना की गई। ये दोनों सतौले भाई है जो मन की स्त्रियॉ प्रवृत्ति तथा निर्वृति से उत्पन्न हुए हैं, जिनका नाम 'मोह' तथा 'विवेक' है।

शान्त रस प्रधान इस नाटक में मानव आत्मा के शाश्वत संघर्ष का कलात्मक नाटकीय चित्र प्रस्तुत किया गया जो मनोहर है। साथ ही सुखान्त नाटक के रूप मे प्रस्तुत इस नाटक में कहीं भी नाटकीय नियमों का उल्लंघन नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से यह नाटक अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मवाद और विष्णु भक्ति का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत करते हुए समन्वयात्मक रूप उपस्थित करता है।

संस्कृत के अन्य नाटकों की भॉति इस नाटक का प्रारम्भ भी नान्दी पद्य से होता है, जिसमें प्रथम नान्दी पद्य[1] में ब्रह्म की उपासनाकी गई है। इसमें मध्याह्न सूर्य की मरीचिका में जलराशि की तरह जिसके अज्ञान से अर्थात् मोह, आकाश, वायु, जल, तेज, पृथ्वी पञ्च महाभूत से निर्मित त्रयलोक्य प्रकट होता है और इसके ज्ञान से अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान से माया सर्प की तरह लीन हो जाती है। इस प्रकार विवेक प्राप्त हो जाता है उस ज्ञान अज्ञान के अवभासक आनन्द स्वरूप तथा स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म की उपासना की गई है।

इसके अनन्तर नान्दी विषयक द्वितीय श्लोक[2] में सुषुम्ना नाड़ी मे प्राण को अवरुद्ध करके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेशित करने के लिए शान्ति युक्त हृदय में आनन्दरूप से

---

१ मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव् पयः पूरो यद्ज्ञानतः।
एवं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।।
यत्तत्वं विदुषां निमीलतिपुनः स्त्रग्भोगिभो गोपमं।
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्भावबोधं महः।। (प्रबोधचन्द्रोदय- १/१)

२ अन्तर्नाद्रीनियमितमरुल्लङ्घिब्रह्मरन्ध्रं।
स्वान्ते शान्तेप्रणयिनिसमुन्मीलदानन्दसान्द्रम् ।
प्रत्यग्ज्योतिर्जयति यमिनः स्पष्टलालाटनेत्र
व्याजव्यक्तीकृतमिव जगद्वयापि चन्द्रार्धमौलेः।। (प्रबोधचन्द्रोदय- १/२)

प्रकटित होने वाले तपोनिष्ठ महादेवकी तृतीय दृष्टि के रूप में प्रकटीभूत महादेव की सम्यक् या प्रत्यक् ज्योति की वन्दना सम्पादित की गई है।

इसप्रकार एक ओर तो ब्रह्मवाद को स्थापित किया गया और दूसरी ओर अविद्या आदि के अन्धकार को पार करके मानव विष्णुभक्ति की कृपा से सम्यक् ज्योतिरूप अपने वास्तविक स्वरूप विष्णु पद को प्राप्त करता है ऐसा सुन्दर वर्णन किया गया है। इस नाटक के मङ्गलाचरण से ही इस नाटक की दार्शनिकता का स्पष्ट सङ्केत मिलता है।

इसमें नान्दी के पश्चात् ही 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' यह वाक्य मिलता है और सूत्रधार कहता है अलमतिविस्तरेण अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यहीं सूत्रधार का कथन है कि गोपाल ने आज्ञा दी है कि राजा कीर्तिवर्मा की दिग्विजय यात्रा के प्रसङ्ग में ब्रह्मानन्द पराङ्मुरव होकर तथा अनेक विषय रसो को दूषित दिन बिताये हैं परन्तु अब राजा के सभी शत्रु मार दिये गये और पृथ्वी की रक्षा का भार मन्त्रियों को सौप दिया गया इसलिए शान्तरस के नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। अतः प्रबोधचन्द्रोदय का अभिनय करो, इसे राजा अपने सभासदों के साथ देखना चाहते हैं। इन पंक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गोपाल के ही आदेश से इनके नाटक का मञ्चन किया गया। यहीं पर राजा की प्रसिद्धि तथा सम्पूर्ण कथानक का अवलोकन भी हो जाता है।

तत्पश्चात् सूत्रधार नटी को बुलाकर कीर्तिवर्मा व गोपाल की प्रशंसा करताहै जिससे सभी सामाजिकों एवं दर्शकों का ध्यान आकर्षित होता रहे। नटी के द्वारा विस्मय पूर्वक सूत्रधार से यह प्रश्न किया गया कि पराक्रमी राजा मुनियो द्वारा प्रशंसित शान्ति के उपासक किस प्रकार हो गये? सूत्रधार इस प्रश्न का उत्तर देता है कि स्वभावतः शान्त वाह्य तेज किसी कारणवश विकार को प्राप्त कर लेता है पुनः अपने स्वभाव का अवलम्बन कर लेता है जिस प्रकार जामदग्न्य क्षत्रियों के वध के बादशान्त कोप होकर लीन हो गये, उसी प्रकार ये राजा भी शान्ति में निरत होकर शान्तरस का अभिनय देखना चाहते हैं। दूसरे उदाहरण के रूप में सूत्रधार कहता है कि जिस प्रकार विवेक ने

मोह को जीतकर प्रबोध को उदय प्रदान किया उसी प्रकार गोपाल भूपाल ने कर्ण को जीतकर कीर्तिवर्मा को उदय प्रदान किया। इस प्रकार नटी और सूत्रधार की प्रस्तावना के द्वारा सम्पूर्ण कथावस्तु की सूचना प्राप्त हो जाती है।

सूत्रधार व नटी के वार्तालाप के समय मे ही नेपथ्य से आवाज आती है कि स्वामी महामोह का विवेक से हारना बताते हो। तभी सूत्रधार कहता है रति द्वारा आलिङ्गित कामदेव आ रहा है जो हमारे वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है इसलिए हम दोनों को यहाँ से चलना चाहिए। सूत्रधार और नटी मञ्च से चले जाते हैं यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है और रति व काम का प्रवेश होता है यही से वास्तविक नाटक प्रारम्भ हो जाता है। इसमें सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त वाक्यार्थ के सूत्र के सहारे ही काम व रति का प्रवेश कराया गया है इसकारण यहाँ कथोद्घात नामक प्रस्तावना भेद है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो यह एक अनोखे ढंग का दार्शनिक नाटक है जो वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है सामान्यरूप से किसी भाव विशेष को गतिशील मनुष्य की तरह चित्रित करने के प्रयास मे पूरी तरह सफलता प्राप्त करना असम्भव होता है किन्तु कवि सफल रहा लेकिन शुद्ध नाट्य कला की दृष्टिसेयह नाटक बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। यदि इस नाटक के पठन-पाठन में ध्यान दें कि यह नाटक ही नहीं दार्शनिक नाटक है तो इसका वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा अथवा अन्य नाटकों की भाँति इसमें रस या आनन्द का परिपाक नहीं मिलेगा। सामान्य रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों में नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन दुष्कर होता है किन्तु इन्होंने इस नाटक में दार्शनिकता के निर्वाह के साथ कथावस्तु को नाट्यशास्त्रीय स्वरूप देने की पूर्णता का कार्य किया।

रूपगोस्वामी ललितमाधव- संस्कृत-साहित्य में पन्द्रह सौ इसवी के श्रेष्ठ नाटककारों में रूपगोस्वामी का नाम श्रद्धा से लिया जाता है। इन्होने अपने रचनाकाल में दो नाटकों की रचना की जो 'ललितमाधव' एवं 'विदग्धमाधव' की संज्ञा से अभिषिक्त है। रूपगोस्वामी ने अपने नाटकों में प्राचीन नाटककारों की ही परम्परा का

निर्वाह किया क्योंकि इनके नाटक ललितमाधव का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक दो पद्यों में नान्दी के पश्चात् ही सूत्रधार का रङ्गमञ्च पर प्रवेश कराया गया है। इन्होने ललितमाधव के प्रथम नान्दी पद्य[1] में कोक, कमल, चकोर एवं शशि शब्द का प्रयोग किया तथा द्वितीय नान्दी पद्य[2] में कृष्ण की नमस्कारात्मक स्तुति करते हुए चन्द्र शब्द का प्रयोग किया। इस पद्य में चन्द्र शब्द का प्रयोग होने से इसे 'नीली' नान्दी कह सकते हैं तथा कृष्ण को नमस्कार करने के कारण 'शुद्धा' नान्दी भेद भी हो सकता है। इन सभी वर्णनों से यह स्पष्ट है कि इन्होंने नाट्यशास्त्रीय नियमो का पूर्णतया पालन किया।

इस नाटक में सूत्रधार का कथन है कि यहाँ बड़े उत्साह के साथ उत्सव मनाया जा रहा है जिससे विष्णवों की सभायें निरन्तर प्रकाशित हो रही हैं अर्थात् श्री हरि की विमल कीर्ति की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है, तथा मधुर स्वरूपधारी कृष्ण यहाँ स्वयं विराजते हैं इसलिए आप सभी सामाजिको के लिए इससे पवित्र पुण्योदायी एवं सद्माग्य सूचक अवसर क्या होगा? इसप्रकार यहाँ शरत्काल के, संभ्यो, गिरि आदि देश की अमल यश धारारूपी कथा की प्रशंसा एवं नायक की प्रशंसा के द्वारा श्रोताओ के नाट्य की ओर उन्मुखीकरण रूप प्रोचना परिलक्षित होती है। अतः कृष्णकथा से युक्त यह नाटक सभी दृष्टियों से उपादेय है। इसी क्रम में इनके 'विदग्धमाधव' नामक नाटक की रूपरचना पर भी ध्यान देना अति आवश्यक है।

---

१ सुररिपुसुदृशामुरोजकोकान् मुखकमलानि च रवेदयन्नखण्डः।
चिरमखिलसुहाच्चकोरनन्दी दिशतु मुकुन्दयशः शशी मुदं वः।।
ललितमाधव १/१)

२ अष्टौ प्रोक्ष्य दिगङ्गना घनरसैः पत्राङ्कुराणां श्रिया।
कुर्वन्मञ्जुललताभरस्य च सदा रामावली मण्डनम् ।।
यः पीनै हृदि भानुजामतुलभाश्चन्द्राकृतिश्चोज्वैलां।
रून्धानः क्रमते तमत्र मुदिरं कृष्णं नमस्कुर्म हे।। (ललितमाधव- १/२)

विदग्धमाधव- इस नाटक के भी दो पद्यों में नान्दी का विधान किया गया है। प्रथम नान्दी[1] विषयक मङ्गलश्लोक मे नाटककार ने भगवान की लीलाको शिखरिणी का रूपक दिया है। शिखरिणी शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ पेय (विशेष) पदार्थ भी है जिसके पान से पथिकों की मार्गभ्रमणजन्य प्यास दूर हो जाती है। यहाँ नाटककार की दृष्टि में जीव की तृष्णा को दूर करने का एक मात्र उपाय भगवान की अद्भुत लीलाओं का कीर्तन, श्रवण व मनन है। यही लीला शिखरिणी का अपना रस है। इस प्रकार यहाँ शिखरिणी रूप पदार्थ से मार्ग भ्रमण जन्य प्यास के दूर होने की भाँति भगवानकी लीलाओं के कीर्तनादि से तुष्टि होने के कारण, भगवान की लीला को शिखरिणी के रूपक के रूप में प्रतिपादित किया गया है जो नाटककार की विलक्षण प्रतिभा की परिचायक है।

द्वितीय नान्दी पद्य[2] में नाटककार ने हरिलीला को नाटक के रूप मे उपनिबद्ध करने के प्रेरक अपने गुरू श्रीकृष्ण 'चैतन्य' की स्फूर्ति का सङ्केत दिया हैं हरि के लिए 'शचीनन्दनः' यह विशेषण इस सङ्केत का आधार है क्योंकि चैतन्य महाप्रभु की माता का नाम शची देवी था। चैतन्य महाप्रभु ने ही रूप गोस्वामी को भगवत्भक्ति की दीक्षा दी जिसकी प्रेरणा से कवि ने कृष्णलीला को भक्ति रस में सम्पुटित कर नाटक में निबद्ध किया। इस प्रकार अपने गुरू चैतन्य महाप्रभु को सामाजिकों की हृदयरूपी गुफा में प्रकाशित कराना ही इनका लक्ष्य स्पष्ट होता है।

---

[1] सुधानां चान्द्रीणमपि मधुरिमोन्माददमनी।
दधाना राधादिप्रणयधनसारैः सुरभिताम् ।।
समन्तात्संतापोद्गम विषम संसार सरणि।
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी।। (विदग्धमाधव- १/१)

[2] अनर्पितचरीं चिरात्करूणयावतीर्णः कलौ।
समर्पयितुमन्नतोज्ज्वलरसां रसभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः।
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः।। (विदग्धमाधव- १/२)

इस पद्य में 'हृदयकन्दरे हरिः स्फुरतु' यह अंश अनेकार्थक होने के कारण सहृदयों को विशेष चमत्कृत करता है।

इस पद्य का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार कन्दरा में विद्यमान अन्धकार समूह को हरि (सूर्य) प्रकाशित होकर नष्ट करते हैं उसी प्रकार दर्शकों के हृदय मे विद्यमान अज्ञान को महाप्रभु अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से दूर करे। इस नान्दी श्लोक के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर सूचित करता है कि अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है और विभिन्न दिशाओं से वृन्दावन दर्शनार्थ आगत कृष्णभक्त रसिक सम्प्रदाय केशितीर्थ में ठहरे हुए हैं। वे कृष्ण विरह मे सन्तप्त है। अतः उनके मनोरञ्जन के लिए कृष्ण की मनोहर लीला को रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करने का आदेश स्वप्न में उसे भगवान् शङ्कर ने दिया है। यही सूत्रधार पारिपाश्विक (मारिष) से कहता है-

'गूढ़ग्रहा रूचिरया सह राधयासौ।

रङ्गाय संगमयिता निशि पौर्णमासी।।

प्रारम्भिक प्रस्तावना के पश्चात् इस द्वयर्थक पद्य द्वारा परिजनों के साथ पौर्णमासी के रङ्गमञ्च पर प्रवेशकी सूचना दी गई। अतः पौर्णमासी रङ्गमञ्च पर उपस्थित होती है और वास्तविक नाटक प्रारम्भ होता है। इस नाटक में पौर्णमासी का प्रधान कार्य राधा-कृष्ण का शृंगारमय मिलन कराना है।

इस प्रकार रूपगोस्वामी के नाटकों में नान्दी, प्ररोचना एवं प्रस्तावना का उल्लेख किया गया जिससे यह कहा जा सकता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्रीय नियमों का कुछ अंशों में पालन किया।

निष्कर्ष- इन सभी नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि प्रायः संस्कृत-साहित्य के सभी नाटककारो ने पूर्वरङ्ग विधानकी परम्परा का निर्वाह किया किन्तु जिस प्रकार नाट्यशास्त्र में इसका विधिवत्

विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन किया गया है उस प्रकार का प्रयोग नाटकों में नहीं किया गया अपितु सभी ने केवल परम्परा का निर्वाह मात्र किया।

रूपक भेद नाटक का पर्यावेक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि लगभग सभी नाटककारों ने नान्दी, प्ररोचना, एवं प्रस्तावना नामक पूर्वरङ्गीय अङ्गों को अपने नाटक में अल्प या अधिक रूप से स्थान दिया है किन्तु नाट्य में मुख्यएवं अनिवार्य अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित नान्दी के विषय मे अनेक प्रश्न उपस्थित होते है तथापि सबसे बड़ी समस्या नान्दी पाठ कर्ता के विषय मे है क्योंकि सामान्यतः नाटकों में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' लिखा रहता है जिसका तात्पर्य यह है कि नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश हो।

इस विषय के कई आधार हो सकते है परन्तु दो प्रमुख आधारों में पहला आधार यह है कि सूत्रधार ही पर्दे के पीछे से नान्दी पाठ करता होगा तथा दूसरा आधार यह है कि सूत्रधार से भिन्न कोई दूसरा नट नान्दी पाठ करता हो। इस नान्दी के बाद सूत्रधार मञ्च पर प्रवेश करके प्रस्तावना को सम्पादित करता है तदनन्तर नाटक का मञ्चन प्रारम्भ हो जाता है।

इस प्रकार रूपक भेदों मे प्रमुख नाटक के सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक व धार्मिक सभी पक्षों का अवलोकन करने के पश्चात् संक्षेप रूप में यह कह सकते हैं कि प्रायः इन पक्षों का आश्रय लेकर रचे गये सभी नाटकों में नाटककारों की दृष्टि पूर्वरङ्ग के प्रयोग के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न है क्योंकि पूर्वरङ्ग विधान का प्रयोग सामान्यतः सभी रचनाकारों ने अपनी स्वेच्छा से करते हुए नाट्यशास्त्रीय नियमों को कुछ ही अंशों में ग्राह्य किया तथा यह भी स्पष्ट है कि प्रारम्भिक नाटकों में इस विधान का अधिक पालन किया गया किन्तु उत्तरोत्तर इसका विवेचन न्यून होता गया तथा यह परम्परा आज प्रतीक के रूप में ही अवशेष दिखाई देती है।

✿❀✿

पञ्चम अध्याय

संस्कृत के अन्य रूपक भेदों में पूर्वरङ्ग का अनुपालन -

इस शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में रूपक के पर्याय के रूप में प्रचलित नाटकों में कुछ प्रमुख नाटकों की समीक्षा करने के पश्चात् इस पञ्चम अध्याय में रूपक के अन्य भेदों का पूर्वरङ्गविधान के संदर्भ मे विवेचन अति आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम रूप भेदों मे नाटक के पश्चात् मुख्य स्थान प्राप्त करने वाले प्रकरण नामक रूपक भेद की समीक्षा करेंगे, जिसमें शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' प्रकरण का विवेचन प्रस्तुत है।

मृच्छकटिकम् प्रकरण- भारतीय संस्कृत रूपकों में शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम् ' का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रकरण के लिए दिये गये सभी लक्षणों का पालन करने के कारण इसे रूपक के दस भेदों मे प्रकरण रूपक कहा जाताहै जो दस अङ्कों से युक्त है। इस प्रकरण में निर्धन ब्राह्मण चारुदत्त का बसन्तसेना नामक गणिका (वेश्या) से प्रेम वर्णित किया गया है। भासकृत चारूदत्त एवं मृच्छकटिकम् के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह चारूदत्त पर आधारित प्रकरण नाटक है। इसमें जनजीवन का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करते हुएसमाज के प्रत्येक वर्ग का यथार्थ स्वरूप वर्णित किया गया है। मृच्छकटिककार आचार्य शूद्रक ने नाट्योचित शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए अपने प्रकरण को नान्दीपाठ से प्रारम्भ किया है। आरम्भ में स्रग्धरावृत्त[१] द्वारा आशीर्वाद के रूप में शङ्कर

---

[१] पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणित भुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रत्नः प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या।
शम्भोर्वः पातुः शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः।। (मृच्छकटिकम् १/१)

की समाधि और फिर अनुष्टुप् वृत्त[1] द्वारा आशीर्वाद के साथ नीलकण्ठ के गले में पड़ी गौरी की भुजलता का मनोरम वर्णन किया है इस शृंगारपरक पद्य में शिवपार्वती के प्रति अराधना का भाव है। नान्दी का प्रारम्भिक अक्षर 'प' नायक की सुखावहता का द्योतक है। नान्दी पाठ वास्तव में प्रस्तुत नाटक के कथानक की निर्बाध ध्वनि को व्यक्त करता है। यदि यह कहा जाय तो अनुचित नही है कि नान्दी द्वारा कथानक की मुख्य रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। बात कुछ भी हो किन्तु सभी का एकमत यह है कि संस्कृत का प्रत्येक नाटक अपने नान्दीपाठ द्वारा नाटकीय वस्तु का समुचित प्रकाशन करता है।

मृच्छकटिक में नीलकण्ठ और गौरी क्रमशः नायक और नायिका के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं तथा नीलकण्ठ एवं गौरी रूप नायक-नायिका का मिलन नान्दी पाठ के अनुष्टुप वृत्त के द्वितीय चरण द्वारा सङ्केतित किया गया है। 'श्यामाम्बुदोपम' और 'विद्युल्लेखा' द्वारा यह सूचित होता है कि जैसे कोई आपत्ति का झंझावत आया हो। एक ओर काले बादल और उनमें बिजली की रूपरेखा इस बात की द्योतक है कि नायक चारूदत्त के आपत्तिग्रस्त जीवन में बसन्तसेना बिजली की किरण के समान उसे आलोकित करती रही। इस प्रकार शङ्कर के कण्ठ के उल्लेख से कवि (नाटककार) ने शिव से वाणी के वरदान की याचना की और बादल तथा बिजली की उपमा से इस स्थापना की पुष्टि की है कि पुरुष बादल व नारी बिजली रूप है।

द्वितीय नान्दीविषयक पद्य मे शिव को 'नीलकण्ठ' कहना जिसमें उनके विषपान का अभिप्राय गुप्त है, इस बात काद्योतक है कि जैसे उन्होंने विषय पीकर दूसरों को अहित से बचाया और स्वयं भी विष कोगले सेन उतारकर अपना हित किया ठीक उसी प्रकार इस नाटक के नायक का भी यही गुण है कि उसने अन्य लोगों का अहित नहीं होने दिया तथा अन्त में स्वयं का भी हित किया, परन्तु एक मर्यादित रूप में अर्थात्

---

[1] पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः।
गौरी भुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते।। (मृच्छकटिकम् १/२)

बसन्तसेना को इस भाँति अपनाया कि दूसरों के सम्बन्ध भी पूर्ववत् रहें और किसी का अनौचित्य प्रतीत न हो।

प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरम्भ नान्दी से होता है और इस प्रसङ्ग में सूत्रधार की चर्चा भी आरम्भ में ही होती है, क्योंकि नान्दीपाठ कर्ता सूत्रधार होता है। मृच्छकटिक में नान्दी में ही सम्पूर्ण कथानक की सूचना प्राप्त हो जाने से 'पत्रावली' नामक नान्दी है जिसका पाठ सूत्रधार करता है। किसी-किसी नाटक में नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार चला जाता है और दूसरा नट स्थापक आकर कवि और कृति का परिचय देता है किन्तु मृच्छकटिक में नान्द्यन्ते के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है अर्थात् सूत्रधार ही स्थापना का कार्य भी करता है। यह सूत्रधार भारती वृत्ति का आश्रय लेकर कवि का परिचय देता हुआ काव्यार्थ की सूचना देता है। तत्पश्चात् अलमनेन द्वारा मङ्गलाचरण की समाप्ति की सूचना देता है।

मङ्गलाचरण की समाप्ति के अनन्तर प्ररोचना का स्थान है। इसका अभिप्राय नाटक आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को नाट्य की ओर आकृष्ट करना है। इस प्रकरण रूपक में 'एतत्कविकिल.......शूद्रको नृप यह प्ररोचना है इसमे कवि भी प्रशंसा एवं काव्यार्थ की भी सूचना दी गई है। इस प्रकरण की प्रस्तावना में सूत्रधार व नटी के हास्यपरक वाक्यों के द्वारा पूरे प्रकरण के मर्म को प्रस्तुत कर दिया गया है तथा यह हास्य इतना भावोत्तेजक है कि इसमें वास्तविकता को ढूढ़ना कठिन लगता है क्योंकि प्रस्तावना के एक प्रसङ्ग मे सूत्रधार नटी से कुछ खाने के लिए मांगता है कि कुछ है, तो नटी परिहास के माध्यम से उत्तर देती है कि सब कुछ है (बाजार में)। इसी तरह हास्य का एक अन्य पुट भी दिखाई देता है जहाँ नटी ने उपवास किया है और सूत्रधार के द्वारा उपवास का नाम पूछे जाने पर कहती है 'अभिरूपपतिर्नाम्' अर्थात् अनुकूल पति के लिए (परलोक में) व्रत है। इस वाक्य से क्रोधित सूत्रधार से वह कहती है आर्ये प्रसन्न हो जाइये। आप ही दूसरे जन्म मे पति होगे इसलिए यह व्रत कर रही हूँ।

इन हास्यपरक उक्तियों के द्वारा प्रकरण के प्रतिपाद्य, निर्धनता, व्यङ्गता एवं सामाजिकता आदि विषयों की सूचना प्रस्तावना में ही देदी गई है।

इस प्रकार प्रस्तावना रूप में सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ सम्भाषण करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर कतिपय सङ्केत करता है। इसकी प्रस्तावना सार्थक है इसमें लेखक के परिचय देने के साथ मुख्य कथानक तथा उससे सम्बन्धित अन्य कथाओ की सुन्दर विज्ञप्ति है। कथानक के सङ्केत के साथ 'मैत्रेय' (विदूषक) के प्रवेश की सूचना दी गई अर्थात् इसमें एक ही प्रयोग से दूसरे प्रयोग के प्रारम्भ हो जाने के द्वारा पात्र का प्रवेश होता है इसलिए प्रस्तावना के पाँच प्रकारों मे 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना है। अतः 'एषः चारूदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति' इस वाक्य के द्वारा निमन्त्रण के लिए किसी ब्राह्मण को खोजते हुए सूत्रधार ने 'मैत्रेय' का प्रवेश सूचित किया है। इसप्रकार सूत्रधार स्वयं ही अपने पूर्ण प्रयोग अर्थात् निमन्त्रणार्थ ब्राह्मणान्वेषण का अतिक्रमण करके मैत्रेय के प्रवेश की सूचना देता है। अत एव अभिनेय वस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाता है और प्रस्तावना समाप्त हो जाती है तथा प्रस्तावना के बाद नाटकीय कार्य प्रारम्भ होता है।

संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने नाटक की प्रस्तावना मे पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख करते हुए अपने वंश तथा विद्वता आदि का परिचय दिया है। शूद्रक ने प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख तो नहीं किया तथापि अपना कुछ परिचय अवश्य दिया है।

मृच्छकटिकम् की प्रस्तावना में वाद्य के साथ नृत्य की भी चर्चा की गई है। यहाँ 'चिरसंगीतोपासनेन' इस उक्ति से लगता है कि प्रस्तावना वाले दृश्य का कार्य भी उस दिन सम्भवतः सायंकाल तक चला क्योंकि सङ्गीत का कार्यक्रम बहुत देर तक चलने के कारण सूत्रधार प्रातः काल भोजन नहीं कर सका और भूख से व्याकुल है। ऐसा प्रतीत होता है कि सङ्गीत और वाद्य उस समय समाज के मनोरञ्जन के विषय थे किन्तु

कलाकारों की स्थिति ठीक नहीं थी क्योंकि प्रारम्भ में सूत्रधार को चिन्ता है कि 'अस्ति किञ्चित्प्रातराशो' अर्थात् प्रातः काल हमारे घर में अल्पाहार नहीं है उधर शर्विलिक चारूदत्त के घर मृदङ्ग, वीणा आदि को देखकर कहता है यहाँ मृदङ्गादि है।

मृच्छकटिकम् एक दृश्य काव्य है जो अधिक रसमयता प्रदान करता है और मनुष्य की प्रवृत्ति भी सदैव ही आनन्द प्राप्ति की रही है। यद्यपि श्रव्य काव्य तो रस के माध्यम से ही इस दिशा में उपयोगी हैं किन्तु दृश्य काव्य दर्शक को कहीं अधिक रसामग्न कर देते हैं। नाटकीय पात्रों के द्वारा जब उनके क्रियाकलाप आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से स्थायी होता है। संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिकम् का एक महत्वपूर्ण स्थान है और पाश्चात्य नाटकों से तुलनात्मक विवेचन करते हुए भी पश्चिमी नाटककारो ने भी इसे श्रेष्ठ माना है। यह नाटक विदेशों में भी रङ्गमञ्च पर अभिनीत किया गया। इसका एक मुख्य कारण यह है कि यह एक ऐसा प्रकरण है जो हमारे यर्थाथ जीवन की ओर आदर्श प्रस्तुत करता है। इसका लक्ष्य अभिनय द्वारा सामाजिकों को मनोरञ्जन तथा रसास्वादन कराना है।

प. बलदेव उपाध्याय ने इस प्रकरण के विषय में कहा कि यह एक सफल व सुन्दर नाटक है क्योंकि संस्कृत नाटककार प्रायः उच्च श्रेणी के पात्रों के चित्रण में ही कला दिखाते हैं किन्तु इसमें पहली बार मध्यम श्रेणी के लागों को नाटक का पात्र बनाया गया है।

मृच्छकटिकम् में पूर्वरङ्गीय नान्दी पाठ, सूत्रधार, प्रस्तावना इत्यादि का औचित्य पूर्ण निःसन्देह युक्तियुक्त एवं समुचित विधान किया गया किसी प्रकार की शिथिलता इनकी नाट्यविधा में दिखाई नही देती। अत एव सुगठित एवं क्रमानुसार इसका औचित्य सराहनीय है।

संस्कृत साहित्य के रूपकों को दृष्टिगत करते हुए शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' प्रकरण का मूल्याङ्कन करने पर यह विदित होता है कि सभी घटनाओं का वास्तविक

चित्रण करने के कारण यह सार्वभौम एवं लोकप्रिय हुआ, इसलिए सभी रूपक प्रकरण ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं ख्याति प्राप्त है।

इस मृच्छकटिक के पंश्चात् यदि हम बीसवी शताब्दी के वेंकटराममाधवन के प्रकरण 'अनार्कली' को देखे तो पूर्वरङ्ग के अङ्गों का ठीक प्रकार से पालन न करने वाले इन्होंने इस प्रकरण में सात पृष्ठ की लम्बी प्रस्तावना में अनेक ऐसी बातें समाविष्ट की हैं जो प्रेक्षकों की सहिष्णुता की परीक्षा लेने के लिए सिद्ध होगी न कि उन्हें उत्सुकता या मन्त्रमुग्ध करने केलिए। इसमें सूत्रधार का इक्कीस पंक्तियों का व्याख्यान नाट्योचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रारम्भ से आज तक हुए प्रकरणों की रचना के विषय में देखें तो नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से आज इन रूपकों में कोई विशेषता दिखाई नहीं देती अपितु प्राचीन परम्पराओं का अन्त अवश्य दिखाई देता है।

प्रहसन- संस्कृत का नाट्य साहित्य प्राचीनता तथा विविधता की दृष्टि से विश्व साहित्य में अद्वितीय है। प्राचीन काल से संस्कृत में नाटक की अविच्छिन्न समृद्ध परम्परा रही है, इसी के साथ रूपक की अन्य विधाओं की रचनायें भी निरन्तर होती रही हैं। इन्ही विधाओं में प्रहसन एक प्राचीनतर विधा है जिसका अस्तित्व ऋग्वेद के संवाद सूक्तों से ही माना जा सकता है। आज जो 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' एवं 'दशधैवरसाश्रयम्' के आधार पर दस रूपक भेद प्राप्त होते हैं उनमें सर्वप्रथम प्रहसन एवंभाण का ही प्रादुर्भाव हुआ क्योंकि ये एक अङ्क वाले थे। भाण, प्रहसन के तुलनात्मक अध्ययन के आधार परप्रहसन भाण के पूर्व की रूपक विधा प्रतीत होती है। ये प्रहसन प्रारम्भिकावस्था में आर्यों के जीवन में घटने वाली सामान्य घटनाओं पर आधारित थे तथा इसमें संवाद प्रधान भारती वृत्ति रहती है। प्राचीनतम प्रहसन के अभिनय का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। इसके अनुसार भरत के शिंष्य ऋषियो पर व्यंग्य प्रहार करने वाले (ऋषीणां व्यङ्ग्यकरणम्) छोटे-छोटे रूपकों का अभिनय करते थे। वैदिक काल में बीजारोपण होने के बाद रामायण, महाभारत काल में पल्लवित पुष्पित होने वाले प्रहसन विकास की ओर अग्रसित होते रहे किन्तु रामायण

और महाभारत में रचित प्रहसन प्रकाश में आने के पूर्व ही कालान्तर में विलीन हो गये परन्तु यह विकास प्रक्रिया निरन्तर ही गतिशील रही जिस कारण इनकी रचनायें निरन्तर हो रही हैं।

प्रहसन रूपककी उन विधाओं में है जिसमें नाटककार अपने समयके समाज का जीता जागता चित्र प्रस्तुत करता है तथा ये हास्य एवं व्यङ्ग्य के पुट के कारण अधिक लोक प्रिय होते हैं। इन प्रहसनों के द्वारा तत्कालिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान सरल ढंग से किया जा सकता है, जिसमें हास्य की प्रमुखता परिलक्षित होती है। संस्कृत-साहित्य मे विदूषकों के द्वारा हास्य के विविध रूप प्रस्तुत किये गये हैं जिसमेंकालिदास, भास आदि के नाटको में अनेक प्रकार के विदूषक दिखाई देते हैं। इसी प्रकार प्रहसन के तत्त्व प्रायः सभी रूपकों में न्यूनाधिक मिलते हैं। इसीलिए भारतीवृत्ति का एक अङ्ग प्रहसन भी कहा गया है। भारतीवृत्ति सभी रूपकों में रहती है। पूर्वरङ्ग के 'त्रिगत' व संस्कृत नाटक की 'प्रस्तावना' में भी प्रहसन के तत्त्व मिलते हैं। प्रहसन के विषय में अध्ययन के पश्चात् यह जानना अति आवश्यक है कि इनमें पूर्वरङ्ग का विधान किस प्रकार किया गया है।

भगवदज्जुकीयम् - प्रहसन की उपलब्ध सामग्री के आधार पर सबसे प्राचीन प्रहसन भगवदज्जुकीयम् है जो 'बोधयन' कवि विरचित है तथा इसे ईसाकी प्रथम दो[१] शताब्दियों केआस-पास का माना गया है किन्तु इसके सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। 'पल्लव नरेन्द्र महेन्द्र विक्रम' के एक शिलालेख में भी 'मत्तविलास' प्रहसन के साथ इस प्रहसन का उल्लेख मिलता है। इस प्रहसन की उपलब्ध व्याख्या दिङ्मात्रदर्शिनी के अनुसार इसे बोधायन की ही रचना माना गया है किन्तु इसके विषय में भी आचार्यों में मतभेद है क्योंकि संस्कृत में दो बोधायन का उल्लेख मिलता है। इस प्रहसन में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है जो मञ्च पर आकर मङ्गल श्लोक का गान करता है, इस शिष्ट परम्परा का निर्वाह करते हुए शिवके पूज्य चरणों की

---

[१] वाचस्पति गैरोला-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ- ७०३

वन्दना करता है। अन्य रूपकों में मङ्गलाचरण के पश्चात् पारिपाश्विक व नटी का प्रवेश होता है किन्तु इसमें विदूषक का प्रवेश कराया गया क्योंकि हास्य की सारी क्रियायें विदूषक का ही गुण है। इसमें सूत्रधार और विदूषक का वार्तालाप होता है, जिसमें सूत्रधार ब्राह्मण की भविष्यवाणी से उत्साहित होकर किसी हास्य रस प्रधान नाटक का अभिनय करने की इच्छा करता है। यहाँ विदूषक स्वयं अपने गुणों को प्रकट करता है और प्रहसन को जानने की इच्छा व्यक्त करता है। भास के समान नाटकीय विशेषताओं से युक्त इस प्रहसन की प्रस्तावना में तद्वत उसके रचयिता और स्थितिकाल का उल्लेख नहीं मिलता।

मत्तविलास- इस प्रहसन के पश्चात् प्राप्त होने वाला द्वितीयप्रहसन मत्तविलास है। इस प्रहसन की प्रस्तावना में सूत्रधार ने पल्लव नरेश सिंह विष्णु वर्मा के पुत्र 'महेन्द्र विक्रम वर्मा' (प्रथम) को इस प्रहसन का प्रणेता माना है।[१] यह एकांकी प्रहसन संक्षिप्त व रोचक है तथा हास्य का पुट देकर इसे रोचक शैली में चित्रित किया गया है किन्तु इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें तत्कालीन धार्मिक दशा का भी चित्रण किया गया है। नाटकीय परम्परानुसार इसमें नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश कराया गया है जो नाटक के अभिनय के पूर्व मङ्गलाचरण में भगवान् शङ्कर की प्रशंसा करते हुए दीर्घायु की कामना करता है। इस प्रकार यह प्रहसन तात्कालिक बौद्ध सन्यासियों की चारित्रिक दुर्बलताओ पर कुठाराघात करते हुए अश्लीलता से दूर होने के कारण अनुपम है।

हास्यचूड़ामणि- प्रहसनो के विकास में आमात्य वत्सराज विरचित 'हास्यचूड़ामणि' प्रहसन आता है। इसका समय १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का माना गया है। इस प्रहसन में भगवत सम्प्रदाय के आचार्य ज्ञान राशि के अध्यापन के विचित्र ढंग तथा उनके केवलीगत ज्ञान का अतिशय हासिक

---

१ महेन्द्र विक्रमवर्मा-मत्तविलास, व्याख्या कपिलदेवगिरि, पृ०- ४
पल्लवकुलधरणिमण्डलकुलपर्वतस्य ... श्री महेन्द्र विक्रम वर्मा नाम।

शब्दों के माध्यम से उपहास किया गया है। गुरु और शिष्य के वेश्यागत, प्रेम पर भी आक्षेप किया गया तथा अपने धार्मिक कृत्यों को छोड़कर लौकिक कार्यों मे अनुरक्ति को ही व्यङ्ग्य का आधार बनाया गया। साथ ही सामाजिकों का मनोरंजन करते हुए उनके मनोविकारों को परिष्कृत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। नाट्यशास्त्रीय परम्परा का निर्वाह सूत्रधार मञ्च पर आकर नान्दीपाठ करते हुए दो श्लोकों में शिव की वन्दना द्वारा करता[1] है। नान्दी श्लोक में ही सूत्रधार के कथन कि रात्रि बीत चुकी है और शिथिल चन्द्रमा के 'कर' बूढ़े व्यक्ति के सदृश प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् सूर्योदय के साथ चन्द्रमा की कान्ति क्षीण हो चुकी है इस वाक्य के सहारे यह कहना अभीष्ट है कि समय पर ही सब कार्य अच्छा लगता है और हम भी बूढ़े हो गये हैं नाट्याभिनय करेंगे तो जगहँसाई होगी। तत्पश्चात् पारिपाश्विक का प्रवेश होता है और सूत्रधार से वार्तालाप करता है तथा सूत्रधार इसकी प्रस्तावना मे वत्सराज का परिचय देता है कि 'राजा परमार्दिदेव आत्मनोऽमात्येन कविना वत्सराजेन विरचितं हास्य चूड़ामणि नाम प्रहसनमादिशति भवन्तम् ।' इस प्रस्तावना के अनन्तर नेपथ्य गान के माध्यम से यह सूचित कराया गया है कि कपटकेलि नामक कुट्टनी का प्रवेश हो रहा है और दोनों मञ्च से प्रस्थान कर जाते हैं इस प्रकार सो कर उठी कपटकेलि का प्रवेश होता है।

स्नुषाविजयम् - संस्कृत प्रहसनो में स्नुषाविजय प्रहसन अपने समय के श्रेष्ठ प्रहसनों की कोटि में गिना जाता है। यह सुन्दराज कवि की रचना है, इसमें नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है जो नाट्यारम्भ के पूर्व नान्दी रूप

---

[1] कल्याणं विरन्तु वःपृथुजटाजूटाग्रविस्तारिणस्ते।
चूड़ाशशिनः शिरः सुरधुनीधारानुकाराः कराः।
यानुत्प्रेक्ष्य मदोष्मभारविधुरे शुण्डारदण्डं मृषा
हरेम्बे घटयत्यनारतमभृदुल्लासिहासो हरः॥ (हास्यचूडामणि १/१)
भूयिष्ठाः परिरम्भकेलिषु भुजाः सोत्कण्ठभालोकने,
नेत्राणि प्रचुराणि चुम्बनविधौ भूयांसि वक्त्राणि ते।
इत्थं भूरिवधूविलासघटनासज्जस्य काऽहं तव
प्रोक्तः क्रोधविरुद्धयेति शिवया स्मेरोहरः पातु वः॥ (हास्यचूडामणि १/२)

मङ्गलाचरण में सरस्वती शोभा सौख्य लक्ष्मी की वन्दना अर्थात् स्तुति करते हुए नान्दी में ही नाटक का नाम बता देता है। नान्दी के पश्चात् पारिपार्श्विक और सूत्रधार के मध्य वार्तालाप से ही कथानक की सूचनामिल जाती है। पारिपार्श्विक के कथन कि दुराशा ऐसी ही होगी जो सच्चरिता बहू से वैर रखे। इस दुराशा का द्विअर्थ है पहला पात्र और दूसरा बुरी आशा, क्योंकि पात्र दुराशा नामक सास का इसी शब्द के माध्यम सेप्रवेश होता है इसलिए यह पात्र प्रयोज्य ही हैं। इस प्रकार इस दुराशा शब्द के आशय से ही पात्र का प्रवेश होने पर 'कथोद्घात' नामक प्रस्तावना भेद है। पारिपार्श्विक एवं सूत्रधार के मञ्च से चले जाने पर दुराशा का प्रवेश होता है।

आधुनिक प्रहसनों में इस प्रहसन में हास्य सृष्टि और व्यङ्ग्य अर्थ को बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है जिसमें भारतीय मध्यम वर्गीय परिवार में कौटुम्बिक कलह का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया। सत्रहवीं शताब्दी के प्रहसनों में 'घनश्याम' कवि रचित 'डमरूक' प्रहसन एक उच्चकोटिक प्रहसन है जिसके आरम्भ में प्रस्तावना के स्थान पर पात्र सूचना का प्रवेश किया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि समयाचक्र ने प्रारम्भिक नाट्यनियमों को अपने सुविधानुसार प्रयोग करते हुए एक नवीन दृष्टि अपनायी है। 'रामपाणिवाद' का 'मदनकेतुचरितम्' प्रहसन पारम्परिक संस्कृत प्रहसन की अंतिम कड़ी है अर्थात् १७ वीं १८ वीं शताब्दी में प्रहसनों की रचना व अभिनय अत्यधिक प्रचुरता से किया गया है किन्तु १९ वीं शताब्दी तक पारम्परिक रूप मे अनेकों प्रहसनों की रचना होने पर भी समयाचक्र के परिवर्तन के कारण प्रहसन अपने लीक से हटकर नई शैली एवं दृष्टि से रचे जा रहे हैं। इन्हीं १९ वीं शताब्दी के आधुनिक प्रहसनों में 'महालिङ्गशास्त्री' विरचित 'उभयस्यकम्' प्रहसन में परम्परा और आधुनिकता के उभयपक्षीय द्वन्द को आज के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है औरनाट्य नियमों का पालन करते हुए विघ्नविनाशक गणेश की वन्दनारूप मङ्गलकामना सूत्रधार के द्वारा कराकर मञ्च पर प्रवेश कराया गया। तत्पश्चात् सूत्रधार और विदूषक के वार्तालाप से ही पात्र की विशेषता बताते हुए यह सूचित किया गया कि 'ब्रजघोष' और 'कुक्कुट' का प्रवेश हो रहा है और दोनों चले जाते हैं। महालिङ्गशास्त्री के दूसरे

'कौण्डिन्य' प्रहसन में नान्दी से ही प्रेक्षकों के हॅसाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है शुष्कुली (जिलेबी) तथा कविता की समानता का परिचय नान्दी में ही दिया गया है।

इस दशक में प्रकाशित प्रहसनों मे 'राजेन्द्र मिश्र' द्वारा संकलित 'चतुष्पथीयम्' है जो चार प्रहसनात्मक एकांकी है इसमें सामाजिक यथार्थ और व्यङ्ग्य की चेतना को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया जिससे ये प्राणवान् प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार प्रहसनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रहसनो के मार्मिक व्यङ्ग्य ही उसकी लोकप्रियता का कारण है, कहीं-कहीं पर ये अश्लीलता से कुछ दूर चले गये परन्तु समाज में व्याप्त विकृतियों पर व्यङ्ग्यात्मक कुठाराघात करने मे कभी पीछे नहीं रहे। संस्कृत प्रहसन ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वैदिक-साहित्यिक, कुछ इतिहास-पुराण धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से प्रेरणा लेकर रचे। प्रहसनों की रचना प्राचीनकाल से ही होती रही है। उत्तरकालीन प्रहसनों में भगवज्जुकीयम्, मत्तविलास, तत्कालीन समाज चित्रित करने वाली उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। मध्यकालीन प्रहसनों में अश्लीलता की जो छाया दिखाई पड़ती है वह तत्कालीन विकृत तथा विलासी समाज की प्रतिछाया ही है। कवियों ने समाज के विकृत तथा निन्द्य पक्ष की ओर सामाजिकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए यथार्थ स्वरूप को अपने काव्य में दर्शाया है। वस्तुतः प्रहसन समाज का यथार्थ रूप सामने लाकर समाज को दूषण मुक्त करने के लिए हास्य द्वारा कान्तासम्मितयोपदेश देने में समर्थ हुए। इस प्रकार प्रहसनों की यह धारा भारत में अनेक शताब्दियों से जनता का मनोरञ्जन व शिक्षण करती आ रही है। अत एव मध्यकालीन प्रहसनों में समाज के चित्रण के साथ हास्य का भी सृजन किया गया। बारहवी से अठारहवीं शताब्दी तक इस विधा में नाट्य नियमों का पालन करते हुए अपनी गति तीव्र रखी तथा उन्नीसवी शताब्दी के प्रहसनों में नाट्य नियमों का पालन केवल परम्परा निर्वाह हेतु किया गया है।

भाण- संस्कृत-साहित्य के रूपक भेद परम्परा में भाण एक समृद्ध रूपक की श्रेणी में प्रतिष्ठित है क्योंकि प्राचीन काल से ही जिस प्रकार अनेकानेक नाटकों की

रचना हुई उसी प्रकार आचार्यों के द्वारा अनेक ऐसे भाणो की भी रचना की गई जिसने इसकी विकास यात्रा को एक नया आयाम दिया किन्तु क्या भाण साहित्य में नाट्यशास्त्रीय नियमों को अर्थात् मुख्यरूप से पूर्वरङ्ग के अङ्गों को समाहित किया गया? इस प्रश्न के संदर्भ में कुछ भाणो के विश्लेषण के पश्चात् ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है इसलिए सर्वप्रथम बारहवी शताब्दी के प्रसिद्ध भाण का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

कर्पूरचरित-भाण- वत्सराज का 'कर्पूरचरित' भाण बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध का एक लघु आकार एकांकी भाण है। इस भाण का प्रारम्भ नान्दी से होता है जो द्विपद्यात्मक है। इस द्विपद्यात्मक नान्दी में भगवती पार्वती के साथ 'परिरम्भण' एवं 'कण्ठाश्लेष' का पण लगाकर विविध प्रकार के विनोद और चातुर्य करते हुए भगवान् शिव का आशीर्वाद एवं स्तुति परक श्लोक वर्णन है। श्लोकापाद के आधार पर यह 'अष्टपदा' नान्दी है तथा प्रथम पद्य में सूर्य तथा द्वितीय पद्य में 'चन्द्र' नाम आने से यह 'नीली' नान्दी कही जा सकती हैं, इसके साथ आशीर्वाद एवं स्तुतिपरक होने से यह शुद्धा नान्दी भेद है। काव्येन्दुप्रकाशकार ने नान्दी श्लोक को गण एवं प्रारम्भिक अक्षर के आधार पर अनेक प्रकार से शुभ करने वाली बताया है उस दृष्टि से देखने पर प्रारम्भिक गण मगण होने से यह नान्दी नायक को श्री देने वाली है तथा आरम्भिक अक्षर 'द' सौख्य पद का सूचक है। नान्दी पद्य में कवि ने श्रृंगार प्रकरण को प्रस्तुत किया है।

नान्दी के बाद सूत्रधार रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके कहता है कि नीलकण्ठ के यात्रामहोत्सव में आये हुए सामाजिकों ने श्रीपरमर्दिदेव के आमात्य वत्सराज कवि द्वारा निर्मित कर्पूरचरित भाण के अभिनय के लिए कहा है। इस भाण की प्रस्तावना में आकाशभाषित की गई है इसलिए वह भाण का एक अङ्ग है।

भाण में धूर्त का चरित वर्णन होता है यहाँ आकाश भाषित के द्वारा सूत्रधार धूर्त' कर्पूरक' से वार्ता करता हुआ दिखाया जाता है। कर्पूरक सूत्रधार को डॉटता है कि

धूर्त व्यक्तियों से तो देवता भी डरते है फिर मनुष्य की बात ही क्या। यहाँ कर्पूरक ने स्वयं को ही धूर्त कहा है तथा प्रस्तावना से ही सूचित हो जाता है कि इसका नायक धूर्त है इसलिए यह भाण नामक भेद है। कर्पूरक के द्वारा कहे गये शब्दों को सुनकर सूत्रधार कहता है यह कर्पूरक नामक धूर्त क्रुद्ध होकर ईधर ही आ रहा है ऐसे कहते हुए मञ्च से चला जाता है और कर्पूरक का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है। यहाँ सूत्रधार द्वारा 'कर्पूरक को नाम धूर्तोऽयमित नामक्रुद्धोऽभ्युपेति' ऐसा कहकर पात्र का प्रवेश कराये जाने के कारण 'प्रयोगातिशय' नामक आमुख भेद है।

मुकुन्दानन्द-भाण- यह भाण कविराज काशीपति की कृति है जो चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इसभाण का प्रारम्भ भी नान्दी पद्य से किया गया किन्तु इसमें कवि ने त्रिपद्यात्मक नान्दी काविधान किया तथा यह 'द्वादशपदा' नान्दी है। इसके तीन पद्यों में दो बार 'चन्द्र' शब्द का उल्लेख किया गया है जिस कारण यह नान्दी का 'नीली' भेद है। साथ ही द्वितीय पद्य में कृष्ण और गोपिकाओं की प्रणय लीला का वर्णन, भाण के नायक 'भुजंगशेखर' के नायिका 'मञ्जरी' के साथ प्रणय केप्रति सङ्केत रूप वस्तु निर्देशन समासोक्ति के रूप मे होने से यह 'पत्रावली' नान्दी भेद भी है।प्रथम व तृतीय पद्य क्रमशः गणेश व कामदेवकी नमस्कारात्मक स्तुति होने से 'शुद्धा' नान्दी भेद है। यह नान्दी सभी नान्दीयों में श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें इसके तीनों भेदों का एक साथ समन्वय किया गया है। यह नान्दी 'मगण' से प्रारम्भ होने के कारण नायक के लिए श्री प्राप्ति की द्योतक है तथा नाटक की सुखान्तता की परिचायक है। नान्दी काप्रथम पद्य 'व' से आरम्भ होने के कारण नायक के व्यसन एवं संकट ग्रस्तहोने का द्योतक है किन्तु देवता वाचक होने से नायक के लिए सुखावह ही है। अतः गणतः या लिपितः दोनों दृष्टियों से यह 'शुद्धा' नान्दी है।

इस भाण की प्रस्तावना में सूत्रधार तथा नटी के संवाद द्वारा भाण तथा उसके कर्ता कवि काशीपति का परिचय दिया गया है। नटी के द्वारा यह पूछने पर कि 'कर्कशतर्कशास्त्र' में प्रणीत कवि ने सरस भाण की रचना कैसे की नट उसे समझाता है

कि जिस प्रकार क्षणभर के लिए प्रणय कोप में निष्ठुर होकर भी तुम तुरन्त प्रेमाद्र हो जाती हो। उसी प्रकार तर्क शास्त्र की कर्कश भी कवि की वाणी साहित्य रचना में सरस है।

कवि ने स्वयं ही अपने विषय में कहा है कि कर्कश वक्र वाक्य से युक्त तर्कशास्त्र में निष्ठुर भी मेरी वाणी मृदुलोक्ति पूर्ण काव्य में कोमल है। जो प्रसूनावति प्रिय वियुक्ता वनिता के हृदय को काटने के लिए कैंची का कार्य करती है वही क्या संयोगावस्था में मृदुल नहीं होती[1] इस प्रकार कवि की वाणी को कुसुमश्री की भाँति मुदुल बताकर सूत्रधार तथा नटी बसन्तागमन का वर्णन करते हैं। इस प्रकार बसन्तऋतु का आश्रय लेकर यहाँ प्रस्तावना प्रस्तुत की गई जो नाट्यानुरूप ही है।

सूत्रधार प्ररोचना के द्वारा [illegible], काल,कवि, काव्य, सभासदो एवं अपनी प्रसन्नता के द्वारा सामाजिको को उत्साहित कराते हुए उन्हें नाट्योन्मुख करता है।[2] अन्त में सूत्रधार नेपथ्य में नायक द्वारा पढ़े गये श्लोक को सुनकर और उसे आता हुआ देखकर रङ्गमञ्च से चला जाता है तथा नायक भुजंगशेखर नेपथ्य में पढ़े हुए श्लोक को दुहराता हुआ प्रवेश करता है। नायक का यह प्रवेश आमुख के 'कथोद्घात' आदि प्रसिद्ध भेदों के अन्तर्गत नहीं आता, इसे 'वलित' नामक आमुख भेद माना जा सकता है।[3]

इस भाण में नान्दी से लेकर प्रस्तावना तक का क्रम विस्तृत एवं नाट्यदृष्टि से पूर्ण प्रतीत होता है।

शृंगारभूषण-भाण- संस्कृत-साहित्य के भाणक्रम में पन्द्रहवीं शताब्दी केपूर्व एक प्रसिद्ध भाण का उल्लेख मिलता है जिसके लेखक 'वामनभट्टवाण' है। इन्होंने

---

१ मुकुन्दानन्द, श्लोक-७

२ मुकुन्दानन्द श्लोक- १२

३ काव्येन्दुप्रकाशकार ने वलित को भी आमुख का भेद माना है। यह'लाज एण्ड प्रैक्टिस आफ संस्कृत ड्रामा',एस० एन० शास्त्री, पृष्ठ- ६०

इसके प्रारम्भ में दो नान्दी पद्यों का उल्लेख किया। जिसके प्रथम नान्दी पद्य[1] में चन्द्रमा की स्तुति एवं द्वितीय नान्दी पद्य[2] में रमणियों के वीरायित की स्तुति की गई। यह 'अष्टपदा' नान्दी है। नान्दी के दोनों ही पद्यों में चन्द्रमा का उल्लेख होने से 'नीली' नान्दी भेद एवं आशीर्वादात्मक होने से 'शुद्धा' भेद है। इसप्रकार दो नान्दी भेदों का समन्वय किया गया। यदि इसके गणों को देखा जाय तो आरम्भिक गण 'मगण' होने से नायक की श्री प्राप्ति का द्योतक है किन्तु प्रथम अक्षर 'म' नायक को दुखःकारक होते हुए भी चन्द्रदेव कावर्णन होने से शुभ माना जायेगा। इस नान्दी में चन्द्रमा के साथ मङ्गलकारी शंख एवं चकोर शब्द का भी प्रयोग किया गया जिसके कारण शास्त्र सम्मत नान्दी प्रतीत होती है।

नान्दी के अनन्तर अर्थात् 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' के बाद 'संप्रश्रयमञ्जलिं बद्धाः' यह वाक्य मिलता है। इसका तात्पर्य है नान्दी के पश्चात् सूत्रधार अञ्जलि से पुष्प विकीर्य करके पारिपाश्विक को बुलाता है 'मार्ष इतस्तावत्' तदनन्तर कहता है आज भगवान शिवकी चैत्रयात्रा महोत्सव में कामतन्त्र के विद्वानों की इस मण्डली को किसी रूपक के अभिनय द्वारा प्रसन्न करके अपने को सफल बनायेंगे, तथा कवि वामनभट्ट वाण का विस्तार पूर्वक परिचय देते हुए प्ररोचना द्वारा कवि की प्रसन्न मधुर वाणी, अपनी नाट्यदक्षता, सामाजिकों की विदग्धता बसन्तकाल की मादकता एवं शृंङ्गाररस की सरसता के वर्णन द्वारा सामाजिकों के मन को आकृष्ट कर लेता है। तत्पश्चात् पारिपाश्विक एवं सूत्रधार बसन्तऋतु का वर्णन करते हैं। सूत्रधार विलासशेखर का

---

[1] मैत्रीं येन मनोभावो विरचयन्विश्वं जयत्यङ्गसा
येनोद्दीपनकारिणा विजयते श्रङ्गारनामा रसः।
रभ्या यत्किरणश्चकोरपरिषत्सौहित्यनाडिन्धमाः।
सोऽयं वः सुखमातनोतु जगतामानन्दनश्चन्द्रमाः।। (शृंगारभूषण १/१)

[2] ताराजालकचुम्ब्यमानकमलं धौतप्रवालोदरं
शङ्खान्तर्गतकूजितं शशिकलासंसक्तकालाम्बुदम् ।
शैलक्षोभवलन्मृणाललतिकं संत्रस्तविद्युल्लतं
वेलोल्लङ्घिमनोभवं विजयते वीरायितं घोषितम् । (शृंङ्गारभूण १/२)

परिचय देकर उसके प्रवेश की सूचना देता हुआ चला जाता है विलासशेखर का यह प्रवेश 'प्रयोगातिशय' नामक आमुख का भेद है क्योंकि सूत्रधार के सूत्र के सहारे इसका प्रवेश होता है। इस प्रकार प्रस्तावनामें ही कवि, काव्य की कथावस्तु की सूचना मिल जाती है।

शृंगारतिलक-भाण- यह भाण रामभद्रदीक्षित विरचितसत्रहवीं शताब्दी का है। इस भाण का एक दूसरा नाम 'अय्याभाण' भी है। इस भाण में द्विपद्यात्मक नान्दी का वर्णन किया गया जिसके प्रथम पद्य[1] में भगवती सीता की लज्जालु संकोचशीला दृष्टि का चित्रण तथा नान्दी विषयक द्वितीयपद्य[2] में उनके पातरलित एवं प्रेम से विस्मृत कटाक्षाङ्कुर का वर्णन है। श्लोकपाद के आधार पर पद गणनाके अनुसार यह अष्टपदा नान्दी है तथाआशीर्वचन से यह 'शुद्धा' नान्दी भेद है। नान्दी काप्रारम्भिक अक्षर'प' नायक को सुखावह होने से शुद्धा भेद है। आरम्भिक गण तगण होने से यद्यपि नायक के धनापहरण का द्योतक है किन्तु रघुपति तथा सीता साक्षाद् विष्णु और उनकी आदि शक्ति हैं इसलिए तत्परक वर्णनका आरम्भ तगण से होने पर भी मङ्गलावह ही है।

'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' के साथ सूत्रधार का हाँथों में पुष्प लिये प्रवेश होता है तथा नेपथ्य में पुष्प विकीर्ण करके पारिपाश्विक को बुलाकर किसी मृगनयनी चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कहता है कि सुन्दरेश भगवान् शिव के नित्य निवास से समस्त नगरों में श्रेष्ठा मधुरा नगरी के मीनाक्षी परिणय महोत्सव देखने आये हुए वैदेशिकों ने आज्ञा दी है कि मैं किसी नवीन रूपक का अभिनय प्रस्तुत करूँ। स्मरणपूर्वक सूत्रधार

---

१ पाणिग्रहावसर एव दृढोपगूढाराजगस्पृशा रघुपतेर्नयनाश्चलेन।
लज्जावशान्नववधूरिव संकुचन्ती दृष्टिर्महीदुहितुरस्तु विभूतये वः।।
(शृंगारतिलक- १/१)

२ उन्मृष्टं कुचसीम्नि पत्रमकरं दृष्ट्वा हठालिङ्गना-
त्कोपो मास्तु पुनर्लिखाभ्यहमिति स्मरै रघुणां वरे।
रोषेणारूतितस्त्रपातरलितः प्रेम्णा च विस्तारितो।
दत्तो मैथिलकन्यया दिशतु वः क्षेमं कटाक्षाङ्कुरः।। (शृंगारतिलक- १/२)

पारिपार्श्विक को रामभद्र दीक्षित का परिचय देता है। इसप्रकार प्रस्तावना में कवि का परिचय दिया जाना नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से उत्तम है। कविका परिचय देते हुए सूत्रधार इन्हीं के द्वारा निर्मित नवीन भाण का अभिनय करने को कहता है। इस भाण में प्ररोचनाके द्वारा सुन्दर काव्य, रसज्ञसामाजिक, नृत्य कला में अपनी कुशलता एवं बसन्तकाल की प्रशंसा करते हुए सूत्रधार तैयारी करने का आदेश देता है। इसी समय उसे नेपथ्य से गाया जाता हुआ एक पद्य सुनाई देता है। उसे सुनकर नेपथ्य की ओर देखकर वह आने वाले पात्र का परिचय देता हुआ कहता है कि मेरे बुआ का लड़का 'कमलेक्षक' इस समय हेमांगी वियुक्त भुजंगशेखर की भूमिका मे आ रहा है इसलिए मुझे चलना चाहिए, ऐसा कहकर सूत्रधार चला जाता है। इस प्रकार यहाँ पात्र का प्रवेश 'वलित' नामक आमुख भेद द्वारा कराया गया है।

रससदन-भाण- आधुनिक भाणों के संदर्भ में उन्नीसवी शताब्दी के 'कवियुवराज' का रससदनभाण प्राप्त होता है। इस भाण के प्रारम्भ में दो श्लोक दिये गये हैं जो कवि का आत्मपरिचय होने से नान्दी के अन्तर्गत नहीं आते। इसके पश्चात् चार श्लोकों में नान्दी है इसलिए इसे 'चतुष्पद्यात्मिका' नान्दी कहते हैं। इस नान्दी केप्रथमपद्य में 'चन्द्र' शब्द का उल्लेख किया गया जिस कारण यह 'नीली' नान्दी भेद है। साथ ही दो बार प्रथम पद्य में तथा दोबार द्वितीय पद्य में पद्म, अम्बुज, कमल शब्द का प्रयोग होने से यह उत्तम नान्दी कही जाती है। इसके प्रथम व द्वितीय पद्य आशीर्वादात्मक तथा तृतीय एवं चतुर्थपद्य मङ्गलवाची होने से 'शुद्धा' भेद हैं।

नान्दी का आरम्भ मगण से होने के कारण नायक को श्री प्राप्ति कराने वाला तथा आरम्भिक अक्षर 'व' होने से यद्यपि नायक के मरण का द्योतक है किन्तु देवतावाची[१] होने से यह मङ्गलप्रद ही है। उद्घात्यक तथा अवस्यन्दित दोनों वीथ्यङ्गों का एक ही नान्दी पद्य[२] में चित्रण होने से बड़ा सुन्दर एवं अद्भुत दृश्य उपस्थित होता

---

१ ब्रह्मेन्द्रादि १/१

२ रससदन भाण श्लोक- ५

है। नान्दी के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके कामदेव की महिमा का वर्णन करते हुए भगवती भद्रकाली की केलियात्रा के उत्सव को देखने के लिए आये सभासदों की आज्ञानुसार युवराज की कृति 'रससदन भाण' को अभिनीत करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

प्ररोचना द्वारा सूत्रधार अपनी नाट्यप्रवीणता, की एवं सभासदों की नाट्यगुण-दोष विवेचन के दक्षता की प्रशंसा करता है तथा नटी को बुलाकर वह हेमन्तकालानुरूप गीत सुनाने को कहताहै। नटी द्वारा प्रस्तुत गेय हेमन्त ऋतु का वर्णन सुनकर सभी दर्शक मन्त्रामुग्ध हो जाते हैं।

तभी नेपथ्य से पढ़े गये श्लोक को सुनकर सूत्रधार श्लोक पाठ करने वाले विट का परिचय देता हुआ चला जाता है तथा रङ्गमञ्च पर विट का प्रवेश होता है, यह प्रस्तावना का 'वलित' नामक आमुख भेद है। भरत द्वारा प्रस्तावना के संदर्भ में यह निर्देश दिया गया है कि प्रस्तावना में अल्प पात्र होने चाहिए। उस दृष्टि से यहाँ केवल सूत्रधार व नटी ही प्रस्तावना को सम्पादित करते हैं इसलिए नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन यहाँ दिखाई देता है।

इस प्रकार यदि भाणों में नाट्य तत्त्व की समीक्षा करें तो भाणों में नान्दीपाठ के सम्बन्ध में आचार्यों ने कोई व्यवस्था नही की है किन्तु प्रत्येक भाण में नान्दी की योजना है। कवियों ने अपनी सुविधानुसार चतुष्पदा, अष्टपदा द्वादशपदा, षोडशपदा नान्दी का प्रयोग किया है। सभी भाणों में लिपि एवं गण की दृष्टि से शुद्धा, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक नान्दी का प्रयोग अधिक हुआ किन्तु शुद्धा नान्दी का अधिक प्रयोग मिलता है। केवल प्रथम शताब्दी के ईश्वरदत्त विरचित 'धूर्तविटसंवाद' एवं वररुचि के 'उभयाभिसारिका' भाण में अभिधा द्वारा वस्तु निर्देशात्मक नान्दी है। सामान्य रूप से वस्तुनिर्देशात्मक नान्दी श्रव्य काव्यों में अधिक मिलती है तथा दृश्य काव्यों में श्लेष या समासोक्ति के रूप में ही मिलती है जिसे पत्रावली नान्दी कहा जाता है - जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल आदि में है।

इस प्रकार न तो अभिधा द्वारा श्रव्यकाव्यों मे अनिवार्यतः वस्तुनिर्देशात्मक नान्दी का विधान है और न दृश्य काव्यों में इसका निषेध ही किया गया। अतः 'धूर्तविटसंवाद' एवं 'उभयाभिसारिका' की यह विशेषता अपवाद रूप है। इस प्रसङ्ग में एक बात और उल्लेखनीय है कि चतुर्भाणी के चारों भाणों के आरम्भ में 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' यह वाक्य आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन भाणों में रङ्गमञ्च पर नान्दी नहीं होती, किन्तु ऐसा नहीं है इस वाक्य के बाद सूत्रधार रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके मङ्गलपाठ करता है जो नान्दी ही होती है। यदि इस वाक्य का ऐसा अर्थ निकालते है तो फिर नान्द्यन्ते ततः 'प्रविशति सूत्रधारः' मे नान्द्यन्ते का क्या अर्थ हुआ? क्या एक बार नेपथ्यमें नान्दी करने के बाद पुनः रङ्गमञ्च पर सूत्रधार द्वारा ही नान्दी पाठ कराया जाता है किन्तु परम्परानुसार दो बार नान्दी कही होती नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'नान्द्यन्ते ततः'। इस वाक्य में नान्दी का अर्थ मङ्गलाचरण ही नहीं अपितु ढक्का या घण्टानाद[१] है। जिस प्रकार नाटक सिनेमा आदि के पूर्व उसके आरम्भ होने की सूचना घंटी बजाकर की जाती है वैसे ही इन भाणों के समय भी इस प्रकार घण्टा बजाकर रूपक आरम्भ करने की प्रथा रही होगी।[२] तभी तो भास के रूपकों में 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य के बाद आकर सूत्रधार मङ्गलाचरण के रूप में नान्दी करता है।

संस्कृत में नान्दी के सम्बन्ध मे दो प्रकार की परम्परायें प्रचलित हैं, जिसमें प्रथम यह है कि प्रत्येक रूपक के आरम्भ में सर्वप्रथम नान्दी पद्य होते हैं, इसके अनन्तर 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इस वाक्य के बाद सूत्रधार आकर रूपक का परिचय देता है जैसे- अभिज्ञान, उत्तरामचरितम्, मुद्राराक्षस, आदि नाटकों में प्राप्त होता है। नान्दी के विषय में द्वितीय परम्परा यह है कि रङ्गमञ्च पर नान्दी होती ही नहीं रूपक का आरम्भ

---

१ दुन्दुभिस्त्वानको भेरी भम्भानासूक्ष नान्द्यपि (वैजयन्तीकोश) उद्धृत भाण साहित्य की समीक्षा निवासमिश्र, पृष्ठ- ३९

२ भास के नाटकों में भी नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है अतः वहाँ भी नान्द्यन्ते ततः प्रविशति में नान्दी का अर्थ घण्टा नाद या ढक्का मान सकते हैं।

ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य से होता है जैसा कि चतुर्भाणी के चारों भाणों एवं भास के कतिपय रूपकों तथा कुछ अन्य रूपक भेदों में मिलता है परन्तु भाणों में नान्दी का एक तीसरा नया प्रकार भी मिलता है और वह यह है कि आरम्भ मे नान्दी के पद्य तो होते ही हैं। 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' के बाद सूत्रधार एक दो आशीर्वादात्मक पद्य पढ़ता है यह परम्परा भाणों में अधिक मिलती है जैसे राजचूड़ामणि दीक्षित का 'शृङ्गारसर्वस्व' भाण। भाणों की नान्दी में अवसरानुकूल ही कहीं पार्वती-शिव, रामसीता, विष्णु-लक्ष्मी की प्रथम समागम चेष्टाओं एवं मानीनी के प्रणय कोप भरे व्यङ्ग्यों के अभिवादन से महत्त्व अधिक बढ़ गया। कुछ भाणों की नान्दी तो अत्यन्त हृदयावर्जक, चमत्कार एवं आह्लादत्वपूर्ण है।

इसीप्रकार यदि भाणों की प्रस्तावना का निष्कर्ष निकालें तो इसकी प्रस्तावना में भी सूत्रधार अन्य रूपकों की ही भाँति नटी या पारिपार्श्विक से वार्तालाप करता हुआ, भाण तथा उसके कवि का परिचय देता है। प्ररोचना के रूप में कवि की सुकोमल वाणी, सामाजिकों की सहृदयता को, बसन्त, शरद आदि ऋतुओं की सुरम्यता को अपनी नाट्यदक्षता के वर्णन द्वारा दर्शकों तथा पाठकों की ओर उन्मुख करती है। अन्त में आमुख के प्रयोगातिशय आदि भेदों में से किसी एक का आश्रय लेकर मुख्यपात्र (मुख्यतः नायक) के रङ्गमञ्च पर आने की सूचना देकर सूत्रधार चला जाता है। अन्य भाणों की अपेक्षा चतुर्भाणी की प्रस्तावना कुछ भिन्न प्रकार की है, इन भाणों में प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द मिलता है जो इनकी प्राचीनता की परिचायक एवं भास से साम्यता प्रगट करती है। इसके साथ ही यह स्थापना बहुत छोटी होती है इसमें न तो किसी प्रकार की प्ररोचना है न भाण एवं कवि का कोई परिचय।[1] सूत्रधार बसन्त या वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए पात्र के प्रवेश की सूचना देता है।

---

[1] पादताडितक भाण (श्यामिलक का) में सूत्रधार आर्यश्यामिलक की चर्चा भर करता है।

भाणों की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा पात्र प्रवेश की सूचना कथोद्घात आदि आमुख के तीन भेदों के अतिरिक्त कुछ नये ढंग से भी दी गई है अर्थात् विश्वनाथ के उद्घात्यक एवं अवगलित को भी स्थान दिया। अधिकांश भाणों में सूत्रधार भाण एवं उनके कवि का परिचय देता है। तत्पश्चात् नेपथ्य में प्रायः भाण का कथानायक आप बीती घटना (प्रायः प्रिया वियोग से सम्बन्धित) से सम्बन्धित पद्य का वाचन करता है। इस पद्य को केवल सूत्रधार सुनता है तथा दर्शकों को वह परिचय देता है कि यह मेरे सम्बन्धी (श्यालक आदि) अमुख प्रेयसी से वियुक्त, अमुक व्यक्ति कीभूमिका ग्रहण कर आ रहा है। ऐसा कहते हुए सूत्रधार चला जाता है और कथानायक रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके नेपथ्य में पढ़े हुए उसी श्लोक को अथवा गद्य में कहे हुए वाक्य को दुहराता हुआ कथानक का प्रारम्भ करता है। इस प्रकार प्रस्तावना में पात्र प्रवेश की सूचना का यह नया प्रकार है जो नाट्यग्रन्थों में नहीं मिलता इसे चूलिका द्वारा किया हुआ 'कथोद्घात' कह सकते है अथवा काव्येन्दुप्रकाश के अनुसार इसे 'वलित' नामक आमुख भेद माना जा सकता है।[१] मूलरूप में ग्रन्थलिपि में लिखे गये प्रायः सभी भाणो में प्रस्तावना आवश्यक ऋतु वर्णनों तथा उसे देने वाले संवादों से भरी हुई अधिक लम्बी है जैसे- अनङ्गविजय में।

इस प्रकार भाण साहित्य ने भी नान्दी, प्ररोचना एवं प्रस्तावना विधि को अपने रूपकों में स्वीकार किया।

व्यायोग- रूपक के दस भेदों में परिगणित व्यायोग के संदर्भ में आचार्य भास के 'मध्यमव्यायोग' का वर्णन मिलता है जो सबसेप्राचीन व्यायोग के रूप मे स्वीकृत किया जाता है। भास के कर्णभार, उरूभंग आदि रूपकों का श्रेणी विभाजन करते हुए विद्वानों में परस्पर मतभेद है। पञ्चरात्रम् को व्यायोग, समवकार या नाटक कहा गया है, किन्तु भाषा शैली के आधार पर इनके नाटकों के रचनाक्रम में भी मतभेद है। संस्कृत नाट्य साहित्य में व्यायोग संज्ञक प्रथम नाटक 'मध्यम व्यायोग' ही मिलता है। इसका

---

१ काव्येन्दुप्रकाश

चतुर्थ अध्याय में विवेचन होने के पश्चात् यहाँ इतना कहना अति आवश्यक है कि 'नान्द्यन्ते ततःप्रविशति सूत्रधारः' से प्रारम्भ होने वाले इनके नाटक सूत्रधार के प्रवेश से प्रारम्भ होते हैं तथा नान्दी के पूर्वरङ्ग में ही सम्पन्न हो जाने के पश्चात् सूत्रधार पुनः एक मङ्गलश्लोक कापाठ करता है। इसके बाद प्ररोचना के माध्यम से दर्शकों को नाट्योन्मुख करके कथावस्तु की सूचना प्रस्तावना के माध्यम से देता है।

इसी व्यायोग के पश्चात् रूपक की इस विधा का क्रम कुछ समय तक टूटा रहा किन्तु कुछ ही अन्तराल के बाद बारहवी शताब्दी में एक नये व्यायोग की रचना की गई।

किरातार्जुनीयम्- वत्सराज का यह व्यायोग वीररस से ओत-प्रोत चार रसात्मक नान्दीपद्यों से समायुक्त है। इसप्रकार इसका आरम्भ नान्दी पाठ से होता है जिसमें भवानी अम्बिका की स्तुति के द्वारा सामाजिको की रक्षा की कामना की गई तथा शिव के त्रिशूल को लक्ष्य बनाकर एक और चतुष्पदी की प्रस्तुति की गई। इस प्रकार स्तुत्यात्मक होने से यह 'शुद्धा' नान्दी भेद है।

. नान्दी के पश्चात् सूत्रधार स्थापक के साथ वार्तालाप कर कवि तथा उसकी कृति कीप्रशंसा रूप प्ररोचना द्वारा सामाजिको को नाटकोन्मुख करने का यत्न करता है। यहाँ प्रस्तावना में वार्तालाप करते हुए अर्जुन और सिद्धादेश का सङ्केत देकर सूत्रधार स्थापक के साथ अग्रिम प्रयोग की तैयारी के लिए प्रस्थान करता है। उसी समय अर्जुन व सिद्धादेश रङ्गमञ्च पर प्रवेश करते हैं तथा कथा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट पात्रों के तत्काल प्रवेश से यहाँ 'प्रयोगातिशय' प्रस्तावना भेद है। इस व्यायोग में सूत्रधार स्थापक से वार्ता करते हुए बताया गया है इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह स्थापक कौन है? तथा इससे यह भी सङ्केत मिलता है कि इसकी प्रस्तावना काऔर नान्दी का कर्ता सूत्रधार दो अलग-अलग व्यक्ति हैं।

सौगन्धिकाहरण- यह मध्ययुगीन व्यायोग चौदहवी शताब्दी में विश्वनाथ द्वारा रचा गया। इस व्यायोग का प्रारम्भ भी भास के नाटकों के समान 'नान्द्यन्ते ततः

प्रविशति सूत्रधारः' से होता है। इस वाक्य के पश्चात् मङ्गलश्लोक रूप नान्दी पाठ होता है, इस नान्दी श्लोक में सरस्वती की स्तुति की गई है। नान्दी के पश्चात् सूत्रधार कवि और उसकी कृति का नामोल्लेख करके नाटक का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए प्ररोचना द्वारा सामाजिकों को नाट्य की ओर उन्मुख कर कथावस्तु का सङ्केत देता है[१] इसकी प्रस्तावना में ही रूपक के वस्तु, नेता, वृत्ति का भी सङ्केत मिल जाता है।[२] तथा यहीं इस रचना को दो बार 'प्रेक्षणक' भी कहा गया है।[३] प्रस्तावना में ही द्रौपती द्वारा अभिलषित पुष्पों की प्राप्ति के लिए भीम के प्रस्थान को उद्धृत करता हुआ सूत्रधार स्वयं उसी प्रकार नटी के लिए पुष्प लाने हेतु प्रस्थान करता है, इस प्रकार यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है[४] तथा तत्काल भीम सूत्रधार के वाक्यार्थ को कहते हुए मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं इसलिए वाक्यार्थमूलक 'कथोद्घात' आमुख भेद है। इस व्यायोग में प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका मुख्य रस अद्भुत मिश्रित वीर है जिसकी पुष्टि नाटककार ने स्वयं इसकी प्रस्तावना मे की है।[५] इस प्रकार यह व्यायोग नान्दी, प्ररोचना व प्रस्तावना को मुख्यस्थान देता है।

कैलाशमाथविजय- यह आधुनिक युगीन कैलाशमाथविजय व्यायोग बीसवी शताब्दी का है, जिसके रचनाकार जीवनन्यायतीर्थ हैं। इसमें भरत सम्मत परम्परा का निर्वाह करते हुए नाटककार ने प्रारम्भ में सकल विश्वनियन्ता, निर्लिप्त, गिरिवासी, दिशापालक भगवान शङ्कर की आशीर्वादात्मक स्तुति की है।[६] शिव के लिए 'कैलाशनाथ' विशेषण का प्रयोग अभिनय पूर्वक करते हुए व्यायोग के नाम को नान्दी पद्य में ही प्रस्तुत कर दिया गया है। इस व्यायोग की मुख्य कथा कैलाश पर्वत पर ही

---

१ सौगन्धिकाहरण श्लोक-६

२ सौगन्धिकाहरण श्लोक- २

३ सौगन्धिकाहरण पृष्ठ- ३

४ सौगन्धिकाहरण श्लोक- ८

५ वीरद्भुतौ यत्र रसौ च दीप्तौ प्रत्येकमेतानिहरन्ति चेतः। (सौगन्धिकाहरण श्लोक- २)

६ कैलाशमाथ- १/१

घटित हुई तथा कैलाश पर्वत के स्वामी से सम्बद्ध है। इस प्रकार नान्दी में ही कथावस्तु का सङ्केत मिल जाता है इसलिए इसमें 'पत्रावली' नान्दी है।

नान्दी के पश्चात् सूत्रधार विदूषक के साथ वार्तालाप द्वारा कवि, उसके नाटक एवं सभासदों के गुणों की प्रशंसा रूप प्ररोचना द्वारा सामाजिकों को नाट्योन्मुख करने का यत्न करता है। सूत्रधार के द्वारा कृतान्त विजेता रावण के अपनी प्रिया मन्दोदरी के पास आगमन की सूचना देकर रङ्गमञ्च से प्रस्थान के साथ प्रस्तावना समाप्त हो जाती है, तथा रावण रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। इस प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट पात्र के तत्काल प्रवेश से यहाँ 'प्रयोगातिशय' आमुख भेद है।

इसमें एक अङ्क है जिसका अभिनय एक ही दिन मे किया गया अर्थात् एकही दिन की घटना का विवरण प्राप्त होता है। प्रस्तावना व शङ्कर की वन्दना में भारतीवृत्ति का आश्रय लिया गया है। साथ ही प्रस्तावना में एक स्थान पर प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार प्राचीन, मध्ययुगीन, एवं अर्वाचीन व्यायोगों के पर्यविक्षण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन व्यायोगो में भास जैसी स्वाभाविकता एवं सजीवता का सर्वथा अभाव है। मध्ययुगीन व्यायोग तो किञ्चिद नाट्यशास्त्रीय विधानों का निर्वाह करते हुए दिखाई देते हैं किन्तु आधुनिक व्यायोग तो इन परम्पराओं को स्वेच्छावृत्ति से अपनाते हैं। व्यायोगों के नान्दी प्रसङ्ग पर दृष्टि डालें तो अधिकांश नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से ही प्रारम्भ होते हैं। अत एव नान्दी व प्रस्तावना की स्थिति तीनों युगों के व्यायोगों में कुछ न कुछ भिन्न अवश्य ही है।

संस्कृत के दसरूपकों में नाटक,प्रकरण,भाण, व्यायोग आदि रचनायें संख्या मे अधिक हैं इसलिए यहाँ सभी का विवेचन नहीं किया जा सकता, किन्तु इन्हीं रूपक भेदों में ईहामृग, समवकार, डिम व अङ्क की संख्या अत्यधिक अल्प है इसलिए इनका विवेचन न्यून ही अपेक्षित है। इस प्रकार यदि इनके रचना विधान पर दृष्टि डालें तो

यह प्रतीत होता है कि अन्य रूपकों की भाँति इसमें भी पूर्वरङ्गविधि का पालन किया गया है।

रूक्मिणीहरण- इस पूर्वरङ्ग के संदर्भ मे 'वत्सराज' के 'रूक्मिणीहरण'[1] ईहामृग पर विचार करें तो इसके दो पद्यों में ईहामृग नान्दी का विधान प्राप्त होता है। नान्दी पाठ के पश्चात् रङ्गमञ्च पर सूत्रधार का प्रवेश कराया गया तथा सूत्रधार व स्थापक के कथोपकथन को दिखाते हुए उसमें बताया गया कि चन्द्रस्वामी के महोत्सव में 'चन्द्र' के समय उस रूपक का अभिनय किया गया था। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इसमें सूत्रधार व नान्दी की परम्परा का निर्वाह किया गया तथा वह भी सिद्ध होता है कि इस समय तक स्थापक से भिन्न सूत्रधार की मान्यता थी अर्थात् ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। जिसमें सूत्रधार नान्दी तथा स्थापक प्रस्तावना का कार्य सम्पादित करता था।

समुद्रमंथन-समवकार- वत्सराज विरचित छः नाटकों में 'समुद्रमंथन' समवकार की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। इससे पूर्व भी नाट्यशास्त्र की परम्परा में डिम और समवकार का ही अभिनय किया गया था। समुद्रमंथन के रचना विन्यास पर दृष्टिपात करें तो इसमें सर्वप्रथम दो पद्यों के नान्दी पाठ के बाद सूत्रधार और स्थापक का कथोपकथन है। जिसमें सूत्रधार और उसके ग्यारह भाई साथ-साथ सम्पत्ति पाना चाहते हैं जो असम्भव है। इस विषय में स्थापक सुझाव देता है कि राजा परमर्दि अथवा समुद्र की सेवा से ही ऐसा हो सकता है। इस उक्ति का आश्रय लेकर नेपथ्य से कोई कहता है कि समुद्र के सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं। तदनन्तर रङ्गमञ्च पर पद्मक का प्रवेश होता है।

---

1. दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री-
रूपगिरिपतिपुत्रि प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।
मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गि॥ (रूक्मिणीहरण-ईहामृग)

इस प्रकार वत्सराज के समय में सूत्रधार व स्थापक की भिन्न-भिन्न सत्ता का प्रतिपादन एक मुख्य नाट्य विशिष्टता प्रतीत होती है।

इन सभी नाटक, प्रकरण, ईहामृग आदि दस रूपकों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र में जो नियम प्रतिपादित है उनका उन्मूलन किसी भी रूपक में नहीं किया गया किन्तु उसका संकुचन सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार संक्षेप में यह कह सकते हैं कि सभी रूपकों मे नाट्यशास्त्रीय नियमों व पूर्वरङ्ग विधान को स्थान दिया गया किन्तु सभी रूपकों मे इस विधान का कुछ न कुछ पृथक रूप से प्रतिपादन किया गया तथा कुछ पूर्वरङ्गीय अङ्गों का परित्याग करते हुए भी ये नाट्यशास्त्रानुरूप ही हैं।

उपरूपकों में पूर्वरङ्ग - किञ्चिद शुद्ध रूपक भेदों मे पूर्वरङ्ग की स्थिति का अवलोकन करने के पश्चात् सङ्कीर्ण रूपक भेदों में अर्थात् उपरूपकों में प्रमुख नाटिका एवं सट्टक आदि भेदों का अध्ययन अति आवश्यक है क्योंकि संस्कृत उपरूपकों में नाटक व प्रकरण के मिश्रण से निर्मित नाटिका का स्वरूप विवेचित किया गया है। साथ ही एक अन्य कारण यह भी है कि प्राचीन काल से ही आचार्यों के द्वारा इनकी रचनाओं का क्रम भी निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है, जो आज इनकी स्थायी महत्ता का परिचायक है। संस्कृत साहित्य के रूपको में जिस प्रकार नाट्यशास्त्रीय विधानों का अनुपालन अल्प या अधिक रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार उपरूपकों में भी नाट्यसंयोजन, रमणीयता, रस, स्वाभाविकता, घटना संयोजन, आदि को प्रदर्शित करते हुए रूपकों से भिन्न कुछ वैचित्र्यता पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध में अवश्य ही दिखाई देती है। इसलिए श्री हर्ष विरचित प्रियदर्शिका व रत्नावली नाटिका का पूर्वरङ्ग की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक है।

प्रियदर्शिका- सातवी शताब्दी की नाटिका प्रक्रम के आधार पर सर्वप्रथम श्रीहर्ष की प्रियदर्शिका नाटिका की विवेचना करते हुए यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कृत नाटिकाओं की परम्परा में 'मालविकाग्निमित्रम्' से प्रभावित श्रीहर्ष ने दो

नाटिकाओं की रचना करते हुए नाटिकाओं की परम्परा का प्रारम्भ किया। हर्ष की रचनाओं के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु इनकी प्रस्तावनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनायें हर्ष की ही हैं। इन रचनाओं में रचनाक्रम की दृष्टि से 'प्रियदर्शिका' का प्रथम स्थान है। चार अङ्कों से समन्वित इस नाटिका में 'राजा उदयन' और 'अरण्यिका' (प्रियदर्शिका) के प्रेम और परिणय का वर्णन है। पूर्वरङ्ग के अपरिहार्य अङ्ग नान्दी के सम्बन्ध में इस पर दृष्टि डालें तो भले ही इन्होंने अपने पाँच अङ्क से समन्वित 'नागानन्द' नाटक में संस्कृत रूपकों में होने वाली नान्दी पद्य की परम्परा से भिन्नता दिखाते हुए बुद्ध (जिन) की वन्दना तथा निर्वृतिपरकता का आख्यान किया, किन्तु नाटिकाओं मे संस्कृत रूपकों में विद्यमान नान्दी की ही परम्परा का निर्वहन करते हुए ग्रन्थ की निविघ्न समाप्ति हेतु आराध्य शिव एवं गौरी के प्रणय और उनके प्रति आराधना का भाव व्यक्त करते हुए स्तुति की। इस नाटिका की नान्दी में शिव की स्तुति के साथ ही कथानक की भी संक्षिप्त सूचना दे दी गई है। इसप्रकार यह शुद्धा तथा पत्रावली नान्दी भेद की कोटि में रखी जा सकती है। यह आठ पंक्तियों की नान्दी है तथा नान्दी के प्रथम श्लोक के 'धूमव्याकुल दृष्टेः' द्वारा तालाव मे मधुमक्खियो द्वारा नायिका के सताये जाने की सूचना दी गई। 'इन्दु किरणैराहलादिताक्षी' पद द्वारा नायिका की प्रसन्नता को सूचित किया गया क्योंकि राजा नायिका की मधुमक्खियों द्वारा सताये जाने से रक्षा करता है। 'पुनः पश्यन्ती वामुत्सुका' के द्वारा राजा के साथ नायिका के द्वितीय मिलन की सूचना दी गई। 'नतमुखी' पद के द्वारा नायिका के भ्रम की सूचना मिलती है जबकि नाटक करते समय वह राजा की ही उपस्थिति देखती है। 'सेर्व्यापादनखेन्दुदर्पणगले गङ्गा दधाने' द्वारा या तो नायिका के निराशा की सूचना दी गई, क्योंकि यह मनोरमा से कहती है राजा तो रानी के प्रेमपाश में स्वतः आबद्ध हैं, अतः नायिका का स्मरण कैसे रखेंगे? और या तो रानी के क्रोध की सूचना दी गई, जबकि उसे राजा और अरण्यिका के प्रेम के विषय मे ज्ञात हो जाता है। 'स्पर्शादुत्पुलकाकरगृहविघ्नो' पद के द्वारा नायिका की प्रसन्नता सूचित की गई जबकि

रानी द्वारा नायक नायिका का वास्तविक मिलन करा दिया गया है। इस श्लोक में चन्द्र के पर्याय इन्दु का उल्लेख हुआ है इसलिए इसे 'नीली' नान्दी भी कह सकते हैं।

नान्दी विषयक द्वितीय श्लोक द्वारा विजयसेन के आक्रमण का कुछ-कुछ आभास मिलता है।

रत्नावली- श्रीहर्ष की प्रथम रचना प्रियदर्शिका है। जिसमें कुछ दृष्टियों से कमी रह जाने पर अपनी क्षतिपूर्ति हेतु 'रत्नावली' रचना को सम्पादित करके, स्वतः को प्रवीण नाटककार एवं नाटिका को अनुपमेय बनाने वाले श्री हर्ष ने 'प्रियदर्शिका' से ही साम्यता रखने वाली चार अङ्को से युक्त रत्नावली नाटिका में राजा उदयन व रत्नावली के प्रणय एवं परिणय का वर्णन किया है। इस नाटिका की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आशीर्वचनों से युक्त चार पद्यों में नान्दी का विधान किया गया है। रत्नावली के नान्दी विषयक प्रथम पद्य में पार्वती एवं शिव के प्रथम समागम की उत्सुकता को प्रदर्शित करते हुए दर्शकों की रक्षा हेतु शिव-पार्वती के मध्य बिखरी हुई पुष्पाञ्जलि की वन्दना की गई है। इस समय नान्दी पद्य में वस्तु निर्देशात्मक मङ्गल है तथा नान्दी का प्रथम अक्षर 'प' होने से नायक के लिए सुखकारी है। इस प्रथम श्लोक[१] से प्रथम अङ्क की कथावस्तु अभिव्यक्त होती है। सागरिका (रत्नावली) कामदेव रूप राजा उदयन की अर्चना पुष्पों से करती है। उसके भी अञ्जलि पुष्प उदयन के शिर तक नहीं पहुँचते हैं, अत्यधिक दूरी होने के कारण बीच में ही गिर पड़ते हैं। राजा की अराधना दूर से ही करने का कारण यह है कि नायिका रानी के द्वारा ईर्ष्यावश मदनमहोत्सव के स्थान में आने के लिए मना कर दी गई है। इस श्लोक से ही अनङ्ग उपासना, पार्वती का

---

१ पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां।
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने।
हलीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया,
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातुवः।। (रत्नावली १/१)

पुलकित होना मदन का अविर्भाव, और उसका पुष्प समर्पण मदनोत्सव को द्योतित कर रहा है।

द्वितीय नान्दीपद्य 'औत्सुक्येन'[1] अत्यधिक विघ्नों की सम्भावना के कारण प्रभूत मङ्गल की कामना से रचित है। यह मङ्गल भी वस्तुनिर्देशात्मक है क्योंकि इससे द्वितीय अङ्क की कथावस्तु सूचित होती है, जिसमें राजा के प्रेम में सागरिका की उत्सुकता को दिखाया गया है सागरिका का लज्जित होना, भयभीत होना, राजा द्वारा प्रणय स्पर्श आदि समस्त सूचनायें द्वितीय नान्दी श्लोक में दृष्टिगत होती है।

नान्दी के तृतीय श्लोक[2] का विधान भी प्रभूतमङ्गल की कामना के लिए किया गया तथा वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल होने के साथ तृतीय अङ्क की घटनाओं को द्योतित करता है जिसमें वासवदत्ता के क्रोध का वर्णन है (इस क्रोध का कारण राजा का सागरिका के प्रति प्रेम है)। इसी प्रकार चतुर्थ पद्य[3] भी वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल है जिसमें तृतीय एवं चतुर्थ दोनों अङ्कों की सूचना दी गई है- जिनमें वासवदत्ता का क्रोधित होना, सागरिका, सुसंगता एवं विदूषक का भयभीत होना, राजा द्वारा वासवदत्ताको प्रसन्न

---

[1] औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे,
संरोहत्पुलका हरेण हसताश्लिष्टाशिवायास्तु वः। (रत्नावली १/२)

[2] साम्प्राप्तं मकरध्वजेन मथनं त्वत्तो मदर्थे पुरा
तद्यूक्तं बहुमार्गगां सम पुरो निर्लज्ज वौढुं तव।
तामेवानुनय स्वभावकुटिलां हे कृष्णकण्ठग्रहं
मुञ्चेत्याह रूपा यमद्रितनया लक्ष्मीश्च पायात स वः।। (रत्नावली १/३)

[3] क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैस्त्रिभिरूपशमिता ब्रह्मयोऽमी त्रयोऽपि
त्रासार्ता ऋत्विजोऽधश्चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः पतन्ति।
दक्षः स्तौत्यस्य पत्नी विलपति करूणं विद्रुतश्चापि देवैः।
शंसन्नित्यट्टहासो मखमथनविधौ पातु देव्यै शिवोवः।। (रत्नावली १/४)

किया जाना, सागरिका का विलाप जादूगर द्वारा अग्निकाण्ड का दृश्य उपस्थित किया जाना आदि सूचनायें हैं।

नान्दी के पञ्चम पद्य[1] के द्वारा युद्ध में कोशलराजा के साथ वत्सराज की विजय तथा सागरिका के साथ पाणिग्रहण को बताया गया, साथ ही देवताओं को नमस्कार करके श्रीहर्ष एवं द्विजवरों की विजय कामना करते हुए श्रीहर्ष का परिचय दिया गया है। इस पद्य में 'चन्द्रविजय' शब्द से चतुर्थ अङ्क में रूमण्यवान की विजय तथा 'नमः सुरेभ्यः' से इन्द्रजालिक के द्वारा देवसमूह के दर्शन का वर्णन ध्वनित हो रहा है। इसी प्रकार 'नरेन्द्रचन्द्र' शब्द से रत्नावली की प्राप्ति से उदयन का चक्रवर्ती होना एवं 'नमः सुरेभ्यः' तथा 'द्विजवृषभा निरूपद्रवाः' पद द्वारा राजा की वैदिक धर्म की श्रद्धा व्यक्त हो रही है। इस नाटिका के जितमुडुपतिना इस श्लोक में 'उडुपतिना' व नरेन्द्रचन्द्र' इन पदों के प्रयोग से प्रकृत नान्दी चन्द्र शब्द से युक्त होने के कारण 'नीली' भेद तथा कथानक की सूचना व नमस्कारात्मक होने के कारण 'शुद्धा' एवं 'पत्रावली' दोनों प्रतीत होती है। नान्दी मे चन्द्रपद के उपादान से काव्य में रसवृद्धि होती है। ऐसा साहित्यदर्पण में स्वीकार किया गया है।[2]

अलंकार ज्ञाताओं के मतानुसार नान्दी में नाटिका के कथानक की संक्षिप्त सूचना दिये जाने का विधान किया गया है किन्तु विद्वानों के अनुसार नान्दी में कथानक की संक्षिप्त सूचना कहीं-कहीं अपवाद है। नान्दी के पश्चात् (नान्द्यन्ते सूत्रधारः) आने वाले अलमतिविस्तरेण से तात्पर्य है कि नान्दी के अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिक मङ्गल समागत से दर्शको का रस विच्छेद एवं अभिनयकला का उपहास हो जाएगा।

---

१ जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
भवतु च पृथिवी समृद्धशस्या, प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः।। (रत्नावली १/५)

२ चन्द्रनामाङ्किता कार्या रसानां स यतो निधिः।
प्रीते चन्द्रमसि स्फीता रसश्रीरिति बालुकिः।।
(मालती माधव-टीका-जगद्धर पृष्ठ- ३)

संस्कृत नाटक प्रायः किसी उत्सव पर ही अभिनीत होते हैं। यह नाटक भी बसन्तोत्सव पर अभिनीत किया गया। इसमें नान्दी के पश्चात् सूत्रधार ने कवि और काव्य का परिचय दिया क्योकि रूपक में कवि तथा काव्य आदि का वर्णन करना अति आवश्यक माना गया है जिससे दर्शक नाट्य की ओर उन्मुख हो सकें। छठे पद्य में[1] सूत्रधारके नेसामाजिकों को नाट्य की ओर कवि श्री हर्ष की प्रशंसा, पात्र के चरित्र एवं अपने अभिनयकला की निपुणता के द्वारा उन्मुख किया। अतः यह भारती वृत्ति का प्ररोचना नामक अङ्ग है। इसमें प्रयुक्त 'निपुण' शब्द कवि की कवित्वशक्ति को द्योतित करता है।

नान्दी श्लोक के पूर्व रङ्गमञ्च पर सूत्रधार की उपस्थिति होने पर उसे 'नान्दी सूत्रधार' कहते हैं और प्रस्तावना मे सूत्रधार की उपस्थिति होने पर स्थापना सूत्रधार कहते हैं। संस्कृत नाटिकाओं की यह विशेषता है कि सूत्रधार केवल प्रस्तावना में आता है और अभिनेय रचना एवं नाटककार का परिचय देता है जिसका स्पष्ट रूप से विधान इस नाटिका में दृष्टिगत होता है।

दर्शकों को नाट्याभिमुख करके सूत्रधार अपनी पत्नी नटी को 'आर्या' तथा नटी सूत्रधार को 'आर्य पुत्र' कहकर सम्बोधित करती है। प्रस्तुत नाटिका में नटी सूत्रधार को 'भरतपुत्र' कह कर सम्बोधित करती है। सूत्रधार को अधिक सम्मान देने के लिए नाट्यकला के आचार्य 'भरत का पुत्र' कहा गया है।

सूत्रधार नटी से कहता है अनुकूल भाग्य परदेश में[2] समुद्र के भीतर व दिशाके अन्त में भी इष्ट को शीघ्रता से मिला देता है। सूत्रधार की इन पंक्तियो से काव्यार्थ की

---

[1] श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषद्प्येषा गुणग्राहिणी।
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्,
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।। (रत्नावली १/६)

[2] द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।। (रत्नावली १/७)

सूचना दे दी गई है, कि अन्य द्वीप सिंहल से रत्नावली को लाकर मिलाया जाय तथा सागरिका, वस्तुभूति, वाभ्रव्य के समुद्र में डूबकर बचने का सङ्केत भी मिलता है। इस प्रकार सागरिका और उदयन के मिलन को द्योतित किया गया है।

'द्वीपादन्यस्मादपि' इस पद्य के सूत्रधार द्वारा पढ़े जाने पर नेपथ्य से 'एवमेतत् कः सन्देहः' इत्यादि कहते हुए यौगन्धरायण का प्रवेश होता है अर्थात् सूत्रधार के वाक्यार्थ रूपी सूत्र के सहारे रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने के कारण 'कथोद्घात' नामक प्रस्तावना भेद है। इस प्रकार यौगन्धरायण के प्रवेश से नाट्य प्रारम्भ हो जाता है।

इन नाटिकाओं के प्रणेता श्री हर्ष ने इन नाटिकाओं में आधार पर स्वतः को श्रेष्ठ नाटककारों की श्रेणी में खड़ा कर दिया क्योंकि इन्होने नाट्यकला की दृष्टि से समस्त नाटकीय तत्त्वों का समाहार किया। नाटकीय गौरव श्रीहर्ष की नाट्य कुशलता का परिचायक है क्योंकि इनके नाटकों में सफल अभिनेयता है तथा नाटक की दृष्टि से पूर्णतया सफल है। नाटिकाओं के सम्पूर्ण लक्षणो सेयुक्त दोनों नाटिकाओ में रत्नावली अधिक प्रौढ़, आदर्श कृति के रूप में प्रसिद्ध एवं सर्वोत्तम सफल नाटिकाओं के रूप में प्रतिष्ठित है।

कर्णसुन्दरी- यह नाटिका ग्यारहवी शताब्दी के आचार्य 'विल्हण' की कृति है। इसमें भी नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवता की स्तुति करने के कारण नान्दी[१] पद्य का प्रयोग किया गया। इस नाटिका की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा अभिनेय रचना और नाटककार का परिचय दिया गया है। साथ ही सूत्रधार नटी के साथ वार्तालाप करते हुए आमात्य 'प्रणिधि' के प्रवेश की सूचना देता है- 'कथमयमस्मद्भ्राता महामात्यप्रणिधि भूमिकामाश्रित एव तदेहि।' अनन्तरकरणीयाय सज्जीभवावः। अत एव नान्दी एव प्रस्तावना की शिष्ट परम्परा नाट्यशास्त्रीय है।

---

१ अर्हन्नहसि ... पातुः वः। (कर्णसुन्दरी- १/१)
संतापं .... नप्यते। (कर्णसुन्दरी- १/२)

परिजातमञ्जरी - यह नाटिका तेरहवीं शताब्दी में आचार्य मदन द्वारा विरचित की गई। इस नाटिका के प्रारम्भ करने के पूर्व उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए एतिहासिक व्यक्ति राजा भोजदेव के गुणों की प्रशंसा की गई तथा राजा भोज को कृष्ण सदृश कहा गया और भोज को ही अर्जुन रूप में नाटिका का नायक मान लिया गया है। साथ ही नान्दी[१] मे यह भी बताया गया कि श्रवण के आधार पर शिलायुगल पर भोज के गुणों को अत्यन्त कठिनता पूर्वक उत्कीर्ण किया गया है, शिलायुगल में से केवल एक शिला पर उत्कीर्ण दो अङ्क उपलब्ध हैं, दूसरी शिला पर उत्कीर्ण दो अङ्क नष्ट हो चुके हैं। इसकी नान्दी में 'चन्द्र' पद का उल्लेख होने से यह शास्त्र सम्मत नान्दी है। नाटिका की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा अभिनेय रचना व नाटककार का परिचय मिलता है।

उषारागोदया-नाटिका- यह नाटिका चन्द्रवंशी राजा रूद्रचन्द्रदेव (कूमार्यू के महाराज) की लुप्तप्राय १५ वी १६ वी शताब्दी की कृति है। यहचार अङ्कों की नाटिका है जिसमें पुराण के सुप्रसिद्ध कथानक असुर राज वाण की पुत्री उषा एवं श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की प्रेमकथा का वर्णन है। इसके नान्दी[१] रूप में शिव के अर्धनारीश्वर रूप

---

१ अत्र कर्थचिटलिखिते त्रुतिह्येहयंतिख्यते शिलायुगले।
भोजस्यैव गुणोर्जितमर्जुनमृर्त्यावतीर्णस्य।। (पारिजातमञ्जरी- १/१)
तत्ताहवसुमनोमनोहरतनुर्वामाङ्गसृङ्गारिणी
मुष्टिस्वीकरणीयमूध्यमधुरावष्टम्भमनमाकृतिः।
अकर्णान्तितटत्कटाक्षविशखव्यापारधन्या जय-
त्यन्याचापलतेव चन्द्र सुह्वदो देवस्य कान्तारतिः। (परिजातमञ्जरी १/२)
वल्गद्वाणजयक्षमोविजयते निःशेषगोत्राणकृ-
त्कृष्णः कृष्ण इवार्जुनोर्जुन इवत्रीभोजदेवो नृपः।
विर्स्फुजटिवषमेषुवेधविधुरा राध्या विधेतस्म य-
स्तूर्ण पूर्णमनोरथर्थश्चिर मभूद्राङ्गेयभङ्गोत्सवे।। (परिजातमञ्जरी- १/३)

१ प्रणयकलहकोपात् पाटलिम्नि प्रजाते मुखशशिनि पराद्धे पाण्डुरत्वे च सद्यः।
प्रकटितनिजदेहद्वन्द्वसीमाविभेदं वपुरथ शिवयोस्तद्भूतये शश्वदास्ताम् ।। (उषारागोदया- १/१)

में प्रणय कलह में क्रुद्ध होकर रक्त वर्णा हुई पार्वती के अर्धांश के समक्ष भयंकर पीतवर्ण को धारण करने से अपने शरीर के द्वन्द के सीमा विभेद को प्रकट करते हुए शिव से प्राणियों की सदा रक्षा की कामना की गई है।

इस नान्दीपाठ के बाद (नान्द्यन्ते) सूत्रधार का प्रवेश होता है और 'अलमतिप्रस्तुतेन आर्ये इतस्तावद्' कहकर नटी को बुलाता है रङ्गमञ्च पर नटी का प्रवेश होता है, तथा दूसरे श्लोक[1] में नाटिका व नाटककार का परिचय देते हुए ग्रीष्म ऋतु के अवसान में भी सूर्य की प्रचण्डता का वर्णन किया गया है, तीसरे श्लोक[2] में वाणासुर (उषा के पिता) नायक अनिरुद्ध व गिरि विदूषक का वर्णन किया गया है। इस श्लोक के द्विअर्थी पक्ष में अनिरुद्ध व सूर्य की विशिष्टता बताई गयी है। नटी के प्रवेश पर आकाशभाषित द्वारा अस्पष्ट अर्थों वाली वाणी उच्चरित हो रही है तथा सूत्रधार का कथन कि विजय के हेतु गये श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतिक्षा करते हुए द्वारिका वासी असमय में उत्पन्न बसन्तोत्सव से पुरी को आनन्दित करें।[3] देवी भगवती व ग्रीष्म के वर्णन के पश्चात् नटी व सूत्रधार चले जाते हैं तथा उद्बव का प्रवेश होता है। यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है और नाटिका प्रारम्भ होती है।

चन्द्रकला-नाटिका- सत्रहवीं-अठारहवी शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ के द्वारा विरचित इस नाटिका के नान्दी श्लोक[4] में गिरिजा की स्तुति की गई जो चार पंक्ति की

---

१ रङ्गवहुलानुरागादभिनवबन्धप्रसङ्गाच्च।
परिभावयन्त्ववहिताः कृतिमेतां रूद्रदेवस्य।। (उषारागोदया- १/२)

२ वाणादिह परिमुक्तो लोहितमध्ये स्थितोऽतिशल्य इव
अयेऽनिरुद्धो गिरिणा सह सोषारागरञ्जितोऽभ्येति।। (उषारागोदया- १/३)

३ अश्लथानिश्लथयन्ते पटून्यप्यपटूनि च
भवन्त्यङ्गानि रिङ्गन्त्या रङ्गे पातङ्गतेजसा। (उषारागोदया- १/४-१९७९ सम्पूर्णानन्द वाराणसी)

४ जीयासु शफरायमाणशशभृल्लेखाः स्खलत्कैरव-
व्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषादुत्क्षिप्त नीलांशुकाः।
विन्दन्त्यो गिरिजाकटाक्षपतनादादित्यजासङ्गर्म -

नान्दी है तथा मृगाङ्कलेखानाटिका[1] में बारह पंक्तियों की नान्दी में शिव-पार्वती की स्तुति की गई। प्रस्तावना में रत्नचूड़ सूत्रधार के साधु भो कुशीलव साधु। अति परिचयेत्यादि वचनों को कहता हुआ प्रवेश करता है। इस नाटिका का प्रथम अभिनय सूर्योदय के समय हुआ था ऐसा सूत्रधार का कथन है।

नाटिकाओं के प्रसङ्ग में हर्ष के बाद की रचनाओं पर दृष्टि डालें तो यह विदित होता है कि दसवी शताब्दी के बाद तक की सभी रचनाओं में नान्दी की शिष्ट परम्परा का निर्वाह किया गया किन्तु कवि द्वारा की गई नान्दी ही प्रतीत होती है क्योंकि प्रायः सभी में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा चन्द्रकला नाटिका (विश्वनाथ कृत) में चार पंक्तियों की नान्दी व कुवलयावली नाटिका में छःपंक्तियों की नान्दी की गई जो शास्त्र सम्मत नहीं हैं। इस प्रकार दसवी शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के सभी आचार्यों ने नान्दी के साथ प्रस्तावना की परम्परा को जीवित रखते हुए सूत्रधार द्वारा प्रस्तावना में अभिनेय रचना व नाटककार का परिचय देने की व्यवस्था स्थिर रखी है। उपरूपक भेदों मे वर्णित नाटिकाओं का मूल्यांकन करने के पश्चात् सट्टक की नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से समीक्षाके लिए राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी का विवेचन करेंगे।

कर्पूरमञ्जरी - कर्पूरमञ्जरी दसवी शताब्दी के आचार्य 'राजशेखर' की कल्पना प्रसूत चार अङ्कों की राजपरिवार की प्रणय क्रीडा से सम्बद्ध सट्टक नामक उपरूपक है। यह प्राकृत भाषा में रचित रचना है क्योंकि सट्टक की भाषा प्राकृत ही होती है। इसके

नृत्यद्भगैकिरीटकोटिचपलाः स्वर्गापगावीच यः।। (चन्द्रकला- १/१)

[1] दूरारङ्‌घ्रिप्रहारप्रबलभसतप्रौढदेवीकरेन्द्र- ....
पायादायासरवेदाज्जगदिदमखिलं ताण्डवाडम्वरं तत् । १
वाभा वामाङ्गभागेकलयति मदनप्लोषकीर्ति च धेत् ।
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः।। २
रोषाकुंचितपाणिमल्लवतयासेवाजलिनो कृतः। ....
पार्वत्याः सफलैवमानपदवी पायात्रिलोकीतलम् ।। (चन्द्रकला) ३

चार पद्यों में नान्दी की गई है। प्रथम[1] मङ्गलाचरण (नान्दी) में पठित 'सरस्वती' शब्द स्त्रीरत्न का बोधक होने के कारण इस सट्टक की नायिका कर्पूरमञ्जरी का भी बोधक है। कवियों की मधुर एवं आकर्षक रचना रूप वाणी सदा उत्कर्ष प्राप्त करती रहे। इस प्रथम पद्य के अर्थ से यहाँ राजशेखर के हृदय की भावना अभिव्यक्त होती है तथा वेदर्भी, मागधी, पाञ्चाली तीनों रीतियों के उल्लेख से काव्य की तीनों प्रकारकी शैलियों का सङ्केत होता है। जिस प्रकार चकोर चन्द्र दर्शन से विशेष आनन्द प्राप्त करता है उसी प्रकार सहृदय विद्वज्जन एवं सामाजिक इन तीनों रीतियों के आस्वादन से आनन्द एवं प्रसन्नता प्राप्त करें यह कामना की गई है। इस नान्दी में चकोर पद का प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि ये नियमों में पूर्णतया सख्त हैं।

सामाजिकों को आनन्द की प्राप्ति कराने के लिए नान्दी विषयक द्वितीय पद्य[2] मे कामदेव एवं रति की सुरत-क्रीडा के उल्लेख से चन्द्रपाल और कर्पूरमञ्जरी का रतिक्रीडा जन्य सम्भोग शृंगार व्यञ्जित होता है। तृतीय नान्दी श्लोक में भी सामाजिकों के आनन्द हेतु शिव-पार्वती की वन्दना की गई है।

---

[1] भद्दं भोदु सरस्सई अ करणो रांदंतु वासाइणो
अण्णगाणं वि परं पअट्टदु वरा वाणी द्वद्ल्लपिआ,
वच्छोभी तह माअही कुरदु शो साकिं च पंचालिआ।
रोदीओ विलिहंतु कब्बकुसला जोण्हां च ओरा बिआ।। (कर्पूरमञ्जरी- १/१)
(भद्रं भवतु सरस्वत्याः कवयोः नन्दन्तु व्यासादयः,
अन्येषामपि परं प्रवर्त्ततां वरा वाणी विदग्धप्रिया।
वैदर्भी तथामागधी स्फुरतु नः सा किञ्च पाञ्चालिका
रीतिका विलिहन्तु काव्य कुशला ज्योत्स्नां चकोरा इव।।

[2] अकलिअपरिंभविब्भमाइं अजणिअचुबणडंवराईदूरम् ।
अघडिअघणताडणाइं णिझं णमह अणंगरईण मोहणाइं।।
अकलितपरिरम्भविभ्रभाणि अजनितचुम्बनडम्बराणि दूरम् ।
अगणितधनताडनानि नित्यं नमतानङ्गरत्योर्मोहनानि।।(कपूरमञ्जरी- १/२)

इसके नान्दी विषयक चतुर्थ श्लोक[१] मे 'बहुशः' पद से पार्वती का अत्यन्त मानीनी होना ध्वनित होता है इसलिए अर्ध्यदान में शीघ्रता का वर्णन किया गया है।

नान्दी के पश्चात् सूत्रधार किसी पात्र (नटी पारिपाश्विक) से वार्तालाप नहीं करता अपितु इसके बदले स्थापक श्लोक बोलता है। इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नान्दी तो सूत्रधार द्वारा ही की जाती है किन्तु प्रस्तावना के लिए स्थापक का आगमन कराया जाता है, जो नाट्यशास्त्र की दृष्टि से उचित है। इस प्रकार इन्होंने नान्दी एवं प्रस्तावना दोनों ही दृष्टियों से अलग-अलग पात्र का समावेश कराते हुए अपने रचना प्रवाह को आगे बढ़ाया जबकि प्रायः अन्य रूपकों में सूत्रधार ही दोनों कार्य कर देता है।

इस सट्टक में पर्दे के पीछे से वेणु यन्त्र शब्द का भी चित्रण किया गया है। तीनों प्रकार के मृदङ्गों की सजावट, करतालों के शब्द एवं ध्रुवा गीत को भी प्रस्तुत किया गया है। नाटक में ध्रुवाओं का प्रयोग करने वाले विरले नाटककारों में राजशेखर अग्रगण्य हैं। ध्रुवाओं के सम्बन्ध मे रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कहा है कि ध्रुवायें नाटक में स्वयं नाटककार भी जोड़ सकते हैं अथवा प्रयोक्ता सूत्रधार आदि भी प्रसङ्ग देशकाल, प्रेक्षकों की रूचि के अनुसार यथास्थान अपनी ओर से जोड़ते हैं किन्तु राजशेखर ने ध्रुवाओं के जो नमूने प्रस्तुत किये वे नाट्य सम्मत हैं तथा नान्दी की भाँति ध्रुवाओं का

---

[१] ईसारोसप्पसादप्पणदिसु बहुसो सग्गगंगाजलेहिं,
आमूलं पूरिदाए तुहिणअरअलारूप्पसुत्तीअ रूद्धो।
जोण्हाभुत्ताफलिल्लं णदमउलिणिहित्तगाहत्थेहिं दोहिं
अग्धं सिग्धं व देतो जअइगिरिसुआपाअथ केरुहाणं (१/४)
(ईर्ष्यारोषप्रसाद प्रणीतिषु बहुशः स्वर्गगङ्गाजलै-
रामूलं पूरितया तुहिनकरकलारुप्यभुक्तया रूद्रः।
ज्योत्स्नामुक्ताफलाढ्यं नतमौलिनिहिताग्रहस्ताभ्यां-
द्वाभ्यामर्घ्यशीघ्रमिव ददज्जयति गिरि सुतापादपङ्केरुहयोः।

जो स्वरूप बताया वह भी भरत सम्मत ही है। इन्होंने बालरामायण[1] मे इसके विधान का निर्देश देते हुए कहा है कि ध्रुवा ही नाट्य का प्रथम प्राण है।

अन्य रूपकों से भिन्न स्वरूप को यहाँ प्रदर्शित किया गया है क्योंकि जब पारिपाश्विक का रङ्गमञ्च परप्रवेश होता है तो सूत्रधार का कथन कि आप लोग नृत्य कार्य मे लगे हैं, तो उत्तर मिलता है अभिनय करना है यहाँ सूत्रधार को यह जानकारी नहीं है कि किसका अभिनय करना है जबकि अन्य नाटकों में सूत्रधार ही प्रस्तुत नाटक के विषय में बताता है। इस दृष्टि से यह सट्टक एक पृथक नाट्य रचना के रूप में प्रतीत होता है।

इस सट्टक में मञ्च पर अभिनीत नाटक सट्टक का लक्षण[2] बताया गया है जबकि किसी भी रूपक में सूत्रधार आदि के द्वारा रूपक का लक्षण नहीं बताया गया है, तथा यहाँ कवि के नाम का वर्णन एवं उनकी प्रसिद्धि व्यक्त करते हुए कवि की चन्द्रमा से तुलना की गई है।[3] इसी प्रकार कवि के वंश का परिचय न देते हुए कवि की पत्नी के वंश का वर्णन किया गया है क्योंकि वही रङ्गमञ्च पर इसे अभिनीत करना चाहती है। इससे यह प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ अपने नाटकीय भाग के अभिनय हेतु स्वयं रङ्गमञ्च पर उपस्थित होती थी।

कथावस्तु की सूचना पारिपाश्विक एवं सूत्रधार के इस वार्तालाप से ही मिल जाती है कि चन्द्रपाल, कर्पूरमञ्जरी से विवाह कर रहा है, अतः अब रङ्गमञ्च से चलें।

---

१ ध्रुवा हि नाट्यस्य प्रथमे प्राणाः।
प्रथयति पात्रविशेषान् सामाजिकमनांसि रञ्जयति।
अनुसन्दधाति च रसान्नाट्यविधाने ध्रुवा गीतिः। (बालरामायण- १/२० पृ०- ९, बालभारत १/४ पृ०- ४)

२ सो सट्टणो ति भणइ दूरं जोणाडिआइं अणुहरइ।
किं उण एत्थ पवेसअविक्कंभाई ण केवलं हीतिं।। (कर्पूरमञ्जरी- १/६)

३ सो अस्स कईं सिरिराअसेहरो तिहुअणं पि धवलेति।
हरिणंकपालिसिद्धिए णिक्कलंका गुणा जस्स।। (कर्पूरमञ्जरी- १/१०)

यहीं प्रस्तावना समाप्त हो जाती है तथा सूत्रधार और पारिपाश्विक के चले जाने पर राजा, रानी, विदूषक आदि आते हैं और अभिनय प्रारम्भ होता है।

नाट्यशास्त्रकार भरत और इनकी परम्परा ने लोकधर्मावच्छिन्न नाट्यपद्धतियों का मानवीकरण एवं शास्त्रीकरण जिस प्रकार किया वह पूर्वरङ्ग विधिविधान में दिखाई देता है। प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग लौकिक स्तर पर नाट्य स्तुति के पूर्व की जाने वाली अभिनेताओं की तैयारी, स्वतुष्टि एवं स्वजन हेतु सम्पादित क्रियाओं में पर्यवसित था किन्तु कालान्तर में भरत ने पूर्वरङ्गीय विधानों को रङ्गविघ्नशान्ति के अभिप्राय से जोड़कर कर्मकाण्डीय स्वरूप दे दिया। जब कर्पूरमञ्जरी सट्टक की प्रस्तावना मे पूर्वरङ्ग का प्रत्यक्ष दृष्ट वर्णन सूत्रधार के मुख से सुनते हैं तो यह नाट्यशास्त्र सम्मत अनुष्ठानिक पूर्वरङ्ग न होकर नटमण्डली की स्वतः स्फुर्ति प्राकृत क्रियाओं मे पर्यवसित पूर्वरङ्ग लगता है।[1] कुसुमावलियों को गुंथना, पात्रोचित वस्त्रों को छाँटना आदि क्रियाओ का जो वर्णन इसमें है इनका भरत विहित पूर्वरङ्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये क्रियायें आहार्य अभिनय से सम्बद्ध हैं। जबकि भरत के पूर्वरङ्ग में कुतप और आतोद्य आदि की प्रचुरता है। इसके बाद इस सट्टक में जिन क्रियाओं का सूत्रधार अवलोकन करता है उनका सम्बन्ध भरत पूर्वरङ्ग से कहीं न कहीं अवश्य है क्योंकि वीणा के तार मिलाने जाना तीन मृदङ्गों को मिलाकर तैयार करना फिर पक्षातोद्य (परवावज) के बोल और ध्रुवा गीत का आलापहोना, इन क्रियाओं का साम्य भरतनिरूपित आश्रवणा, संघट्टना, परिघट्टना एवं वक्त्रपाणि से है और ध्रुवागायन तो पूर्वरङ्ग में उत्थापन, परिवर्तन और शुष्कावकृष्टा इन अङ्गों से होता ही है परन्तु कर्पूरमञ्जरी में ये क्रियायें अपने प्राकृत रूप में अभिनेताओं की सहज स्फुर्ति से प्रतिपादित होती हैं।

---

[1] किं उण णट्टप्पउत्तो विअ दीसति अम्हाणं कुसीलवाणं जणो। जदो एक्कापत्तरे इआइं सिअआइं उच्चिणेदि। इअरा कुसुमावलीओ गुफेदि। अण्णा पडिसीसआइँ पडिसारेदि। का विहु वण्णिआओ पट्टए घट्टेदि। (कर्पूरमञ्जरी)

इस प्रकार भरतोपजीव्यता एवं भरतातिक्रमण दोनों परिवृत्तियो का आश्रय लिये हुए राजशेखर ने चार अङ्कों के स्थान पर चार जवनिका का प्रयोग करते हुए इस सट्टक उपरूपक में ऋतुवर्णन के आधार पर प्रकृति वर्णन की झांकी प्रस्तुत की जिसमें गीत नृत्य, संगीत एवं मनोरञ्जन की प्रचुरता है। इसमें प्रारम्भ से अन्त तक मनोरञ्जन, संगीत, हास्य, नृत्य सम्वाद रोचक व सजीव प्रतीत होते हैं। जो अभिनेयता के अनुरूप होते हुए नाटक के अनुरूप गेय हैं।

यह सट्टक नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भी अनेक स्थान पर कुछ विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा अतिशय श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है यहाँ प्रत्येक अङ्क के लिए जवन्तिकान्तर शब्द प्रयुक्त हुआ है जो रङ्गमञ्च के पर्दे का द्योतक है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इसके रचना काल तक यवनों का हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ चुका था। इसके साथ ही 'चर्चरी' नाम नृत्य विशेष का भी इसमें यत्र-तत्र वर्णन मिलता है अत एव रसपरिपाक एवं मानवप्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण आदि गुणों का इस सट्टक में अभाव होने पर भी, भावानुभूति, ध्वन्यात्मकता, संगीतात्मकता, नादात्मकता और ललित पद विन्यास में अग्रगण्य राजशेखरश्रेष्ठ नाटककारों में परिगणित किये गये।

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि नाट्य रंचना जीवन के साथ घनिष्ट व प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है क्योंकि यह जन जीवन से सम्बद्ध होती है। दसरूपक काभेदक तत्त्व यह है कि उसमें जीवन के सभी प्रकार के पहलुओं का वर्णन होता है क्योंकि भाण, प्रकरण व प्रहसन आदि में जीवन की यर्थाथता की झलक के साथ साधारण या बुरे मनोभावों का भी चित्रण मिलता है। यही नाट्यकारो की अपनी विशेषता भी है जो यथा प्रसङ्ग पूर्वरङ्ग में भी परिलक्षित होती है।

षष्ठ अध्याय

आधुनिक संस्कृत नाट्य साहित्य एवं सम्प्रति उपलब्ध पारम्परिक लोकनाट्य शैलियों में पूर्वरङ्ग के तत्त्व

आधुनिक रूपकों में पूर्वरङ्ग - संस्कृत साहित्य के प्राचीन व मध्ययुगीन रूपकों एवं उपरूपकों में पूर्वरङ्गीय विधि-विधान के विषय में विचार करने के पश्चात् इस अध्याय में यह विचार करना अति आवश्यक है कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के रूपकों व उपरूपकों में नाट्य शास्त्रीय नियमों विशेष रुप से पूर्वरङ्ग की स्थिति व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी क्या प्रासङ्गिकता है? इस प्रश्न के निवारण के पूर्व सर्वाधिक विचारणीय तथ्य यह है कि किस काल में प्रारम्भ हुए रूपकों को आधुनिक रूपकों में स्थान दिया जाय क्योंकि संस्कृत साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के आरम्भ के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। साधारण रुप से तो यह कह सकते हैं कि जो बीत गया वह प्राचीन एवं जो प्रवर्तमान है वह आधुनिक है किन्तु यह पूर्ण स्वीकृत नहीं है, क्योंकि सभी रचनाकार अपने से पूर्व रचना को प्राचीन व अपनी रचना को नवीन कहते हैं।

इस आधुनिक विषय के संदर्भ में कालविभाजन के लिए रचनाकारों को आधार बनाया गया है[१] विशेष रूप से उन रचनाकारों को जिन्होंने साहित्य को अत्यधिक प्रभावित करते हुए व्यापक रुप से मार्गदर्शन भी किया। इस आधार पर संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल को मुख्य रूप से तीन युगों में विभाजित किया-

१. राशिवडेकरयुग - १८९०-१९३०

२. भट्युग - १९३०- १९६०

---

१ संस्कृत वाङ्मय का वृहत इतिहास, सप्तमखण्ड, प्रधान सम्पादक बलदेव उपाध्याय, सम्पादक- जगन्नाथ पाठक, प्रथम संस्करण २००० ई. पृष्ठ- ३०।

३. राघवनयुग - १९६०-१९८०

इन युगों का सङ्केत गद्य साहित्य के लेखक श्री कला नाथ शास्त्री ने भी अपनी पृष्ठभूमि में दिया है।

इसप्रकार आधुनिकयुगीन रचनाकारों में 'अप्पाशास्त्री राशिवाडेकर' ने प्रशस्ति गान वाली प्रवृत्ति से अलग करने के साथ रचना में राष्ट्रीय चेतना एवं प्रसादगुण वाली भाषा को महत्त्व दिया है। जिसके समर्थक इस युग के विद्वान 'हृषीकेश भट्टाचार्य', 'विधुशेखर भट्टाचार्य', आदि हैं, तथा भट्टयुगीन 'मथुरानाथशास्त्री' व 'यतीन्द्र विमल चौधुरी' हैं। इसी प्रकार कालविभाजन का आधार बने 'डा. वेंकट राघवन', 'रामजी उपाध्याय' आदि राघवन युगीन रचनाकारों ने आलोचनात्मक लेखन के साथ अनेक नाटकों का लेखन कर उन्हें रङ्गमञ्च पर अभिनीत भी किया। इनके इस प्रयास से समकालीन संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में एक नई ऊर्जा का संचार हुआ। अत एव उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक से प्रारम्भ हुए 'राशिबडेकर युग' से इन तीनों युगों में कुछ न कुछ नवीनता को बढ़ावा मिला और सामयिक विषयों को अधिक प्रश्रय मिला। इसप्रकार तीन मंजिला भवन निर्मित हुआ जो संस्कृत साहित्य की सम्पूर्णता व समग्रता का परिचायक है।

सामान्य रुप से आधुनिकता का तात्पर्य उन्नीसवी व बीसवीं शताब्दी मान लेना उचित प्रतीत होता है। इस समय में संस्कृत साहित्य में नाट्यशास्त्र का विपुल मात्रा में लेखन हुआ जो इसकी जीवन्तता का परिचायक है। आधुनिककाल में महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य आदि का विकास अत्यधिक हुआ और गद्य की अपेक्षा पद्य को अत्यधिक प्रश्रय दिया गया तथा रूपक के अन्य भेदों में नाटक प्रहसन आदि का पर्याप्त निर्माण किया गया किन्तु संस्कृत रूपकों के विकास के कालक्रम में लेखन की दृष्टि से अन्तर होने के आधार पर कालखण्ड को चार भागों में विभक्त करके इसका मूल्यांकन किया जा सकता है। इसप्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में (१८०० से १८७०) संस्कृत विद्वानों ने मुसलमानों के दमनात्मक शासन से मुक्त हो, अतीत की ओर देखा

और रामायण, महाभारत आदि कथावृत्तों को लेकर नाटकों की रचना की जो प्रायः भक्ति से प्रेरित थी। साथ ही राजकुल की प्रेम कथा भी नाटकों का आधार हुई। इन नाटकों पर रासलीलाओं का प्रभाव भी दिखाई देता है और ये किसी न किसी देवता के महोत्सव पर अभिनीत हुए।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 'कस्तूरी रंगनाथ' ने 'रघुवीर विजय' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक का प्रथम अभिनय शेषाद्रीश के महोत्सव में हुआ था। वल्लीराघव ने पाँच अङ्क वाले 'वल्लीपरिणय' नामक नाटक की रचना की तथा इसका प्रथम अभिनय सहजिपुर के भगवान कुलीरेश्वर के महोत्सव के समय किया।

इसी काल में ऐसे यक्षगानात्मक नाटको का भी प्रणयन हुआ जिसे 'अभिनयरूपक' भी कहते हैं। यह हिन्दी के पारसी रङ्गमञ्च के उपयुक्त लिखी गई नौटकी जैसा है। जिसमें नायक व नायिका आमने-सामने पद्यात्मक संवाद में अपनी भावनाओं का आदान प्रदान करते हैं। तंजौर के शिवाजी महाराज द्वारा रचित 'इन्दुमति परिणय'[1] नाटक यक्षगानात्मक कोटि का है। कालिदास रचित 'रघुवंश' के पाँचवे, छठे सर्ग में वर्णित इन्दुमति स्वयंवर की कथावस्तु की कथा को आधार बनाकर शृंगारभावों से ओत-प्रोत इस यक्षगान नाटक की रचना की गई तथा इसका अभिनय वृहदीश्वर की चैत्रोत्सव यात्रा में भरतराज (नट) लोगों ने किया। इस नाटक के पूर्वरङ्ग की परिधि में सर्वप्रथम 'जयगान' फिर 'शरणगान' और तत्पश्चात् 'मङ्गलगान' है। जिसमें विघ्नेश्वर गणेश, सरस्वती, विष्णु की स्तुति के पश्चात् कविन्द्रों की प्रार्थना गद्य में की गई है। यहाँ प्रस्तावना सूत्रधार रचित है, इसका कर्ता नाटककार नहीं है।

---

[1] जयगान- जयकृतानतभरण जयसर्वहित करण। जय सत्सु कृत- करूण जय भुवन शरण।
शरणगान- शरणमाप्तकृपौद्यपूरित शरणमिन्द्रमुखार्चित।
शरणमर्पितविनदीप्सित शरणमार्य भवाच्युत् । (इन्दुमति परिणय)

इसी काल में (१९२० से १९५०) रचित नाटकों में राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत विचारों व भावो की प्रौढ़ता परिलक्षित होती है। इस अवधि के नाटककारों ने पूर्वरङ्गीय परम्परा में शैली, शिल्प व प्रस्तावना को परम्परागत ही स्वीकार किया।

'हरिदास सिद्धान्तवागीश' के 'मिवार प्रताप' व 'शिवाजी चरित' नाटक नव जागरण की राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं जिसमें 'मिवार प्रताप' महाराणा प्रताप के वीरचरित पर आधारित है व 'शिवाजी चरित' में छत्रपति शिवाजी के संघर्षो तथा उनके द्वारा महाराष्ट्र राज्य की स्थापना की कथा है।

'शिवाजी-चरितम् ' की प्रस्तावना में कहा गया है कि देश प्रेम की आग जलाने के लिए इस नाटक का अभिनय किया जा रहा है 'येन साम्प्रतं सर्व एव स्वाधीनतां कामयते, वयं च तदुद्दीयनमेव कञ्चित् प्रबन्धमभिनेतुमभिः प्रेमः।' तत्पश्चात् सूत्रधार का मित्र पारिपार्श्वक रङ्गपीठ पर पताका के रूप में तिरंगा झंडा लेकर प्रवेश करता है। इसप्रकार ये नाटक राष्ट्रीय नवजागरण की प्रेरणा का प्रमाण देते हैं।

नवजागरण काल के प्रमुख नाटककारों में मूलशंकरमाणिक लाल याज्ञिक ने तीन नाटकों की रचना की जिनमें 'प्रतापविजय' नौ अङ्कों का, 'छत्रपतिसाम्राज्यम् ' दस अङ्कों का एवं 'संयोगिता स्वयंवर' सात अङ्कों का है। 'प्रतापविजय' नाटक में 'पत्रावली नान्दी का प्रयोग करते हुए कृष्ण वन्दना की गई है।'[1] इसप्रकार नाट्यशास्त्रीय लक्षणों का पालन करके उच्च कोटिक संगीत को प्रेक्षकों के लिए अतिशय लुभावना मानकर सरस गीतों का समावेश प्रायः सभी अङ्कों में किया गया है। इसकी प्रस्तावना में नटी का गान भी दिखाई देता है। इसी प्रकार 'संयोगितास्वयंवर' नाटक में भी प्रेक्षकों के मनोरञ्जन हेतु पञ्चम अङ्क के आरम्भ में नायिका ने गौण्डमल्हार राग में गीत गाये

---

[1] 'उत्साहाञ्चितबालकेलिसदने वृन्दावने नन्दनो,
योऽत्यर्थं कुटिलश्च कालयवनावस्कन्दजे संभ्रमे।
मोहाक्रान्तजयस्य यो विनयने ज्ञानप्रभाभास्वरः,
पायाद्वः स महाद्भुतो यदुपतेर्नानाप्रचारो नयः।। (प्रतापविजय- १.१)

है। 'छत्रपतिसाम्राज्यम् ' में महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक इतिहास प्रसिद्ध शिवाजी के चरित की उज्जवल गाथा है। इस नाटक का आरम्भ भी नान्दी पाठ से होता है जो कथावस्तु की प्रासङ्गिकता को भली भाँति चरितार्थ करती है। इसकी नान्दी में शिव से रक्षा की कामना की गई है[१] जो कालिदास, भास की रीति का स्मरण कराती है तथा प्रस्तावना के नीचे लिखे गये एक पद्य से तत्कालीन स्वातन्त्र्य संग्राम की ओर राष्ट्र को प्रेरित करने का कवि का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रस्तावना में ही नाट्यशास्त्रीय रीत्यानुसार नटी द्वारा वर्षा ऋतु का मनोरम वर्णन प्रस्तुत कराया गया है।

आधुनिक नाट्यकारों में मथुराप्रसाद दीक्षित का नाम भी अग्रगणित है। इन्होंने कई नाटकों की रचना की जिसमें सात अङ्क से समन्वित 'वीरप्रताप' नाटक महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य प्रेम पर आधारित है। इस नाटक में दीक्षित ने हिन्दुत्वाभिमान की अभिव्यक्ति के साथ क्षत्रियों तथा भावी युवकों का आह्वान भारत की तत्कालिक परतन्त्रता के उन्मूलन हेतु किया है जिसका निर्देश नाटक के आरम्भ मे ही सूत्रधार की प्रस्तावना से मिल जाता है।[२] इसके अतिरिक्त 'वीरपृथ्वीराज' नाटक की रचना की जिसका प्रथम अभिनय दुर्गाभगवती महोत्सव में हुआ था। इस नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार ने स्वयं कहा है कि इस नाटक से लोक प्रबोध होगा, यह समयानुकूल है तथा इसमें देशोत्थान का प्रकल्पन है।

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व यदि अठारहवी शताब्दी पर दृष्टिपात करें तो घनश्याम के 'नवग्रहचरित' नामक उपरूपक (सट्टक) से विदित होता है कि इसमें नान्दी पाठ का सम्यक् निर्वाह नहीं किया गया जबकि प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में नान्दी एक अनिवार्य

---

१ उत्तुङ्गं सुरनिम्नगावलयितं नानामृगैः सङ्कलं,
संक्रामन्मृगयुर्द्रुतं हिमवतः शृङ्गान्तरे शृङ्गतः।
सानन्दं विजयाय सत्त्व विजितो दिव्यं निजास्त्रंदिशन् ,
युष्मानेष पिनाकपाणिखताल्लीलाकिरातः शिवः।। (छत्रपतिसाम्राज्यम् १.१)

२ इदानीं भारतदेशे हीन दीनदशा ------------- तत्तद्गुणसम्पादनाय। (वीरप्रताप- अङ्क १, प्रस्तावना भाग)

अङ्ग के रूप में प्रस्तुत की जाती है। इस सट्टक का आरम्भ मङ्गलगान के तीन पथ्यों से होता है। इसमे अनेक गद्य-पद्य के माध्यम से विश्वावसु एवं वायु के वर्णन के पश्चात् नान्दी पाठ किया गया है तथा प्रस्तावना को 'सूच्यार्थ' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस नान्दी के कर्ता के सम्बन्ध मे आधुनिक युग के नाटककार सदाशिव दीक्षित ने 'वसुलक्ष्मी कल्याण' नामक नाटक में लिखा है कि- 'एषा कुशीलवकर्तृका पूर्वरङ्गाख्याद्वाविंशति पदा नान्दी' अर्थात् यह नान्दी सूत्रधार द्वारा नहीं की गई बल्कि इसके कर्ता 'कुशीलव' हैं। इसप्रकार अठारहवीं शताब्दी में नान्दी व इसके कर्ता के विषय में भरत सम्मत साक्ष्य नहीं मिलते।

रामपाणिपाद के 'सीताराघव' नाटक में प्रधान पात्रों के रङ्गमञ्च पर आने की सूचना, प्रावेशिकी ध्रुवा गीति के द्वारा दी गई है। इसी प्रकार प्रधानवकेप्य के 'कामविलासभाण' में नान्दी के अन्त में सूत्रधार समाजिकों के सुख की कामना प्रकट करते हुए पुष्पाञ्जलि बिखेरता है।

'गोकुलदास तेजपाल' रचित 'भारतभ्रान्त' नाटक में नान्दी पाई जाती है इसकी नान्दी में ही यह कहा गया है कि लेखकों की धारणा है कि आधुनिकता के नाम पर भारतभ्रष्ट हो रहा है तथा, नान्दीपाठ एक नट द्वारा किया गया है। इसमें नेपथ्य से पटह सन्देश न कहकर उसे डुग्गी पीटने वाले द्वारा रङ्गमञ्च पर कहलवा दिया जाता है, वह मात्र अपनी सूचना देने के लिए आता है और सूचना देकर चला जाता है। यह नट एक विद्यार्थी है किसी संस्था के विद्यार्थियों द्वारा नाटक लिखना, अभिनय करना तथा समसामयिक समस्या पर जनता को जागरूक करने का संस्कृत नाटक द्वारा यह प्रयास एक नये उत्साह का द्योतक है।

रमानाथ शिरोमणि के 'परिजातहरण' नाटक में मनोरंजन की अतिशयता हेतु अभिनय में नृत्य, संगीत आदि को प्रस्तुत किया गया तथा प्रस्तावना के प्रायः अन्तिम भाग में नटी ताल लयानुरुप नाचती है। इसी प्रकार 'जग्गू श्री वकुलभूषण के 'अमूल्यमाल्य' नाटक में भास के नाटकों के समान लघु स्थापना द्वारा सूत्रधार अभिनय

करता है तथा रूपक के अन्त मे मालाकार का नृत्य मनोरंजन के लिए किया गया है। बल्ली सहाय रचित 'रोचकानन्द नाटक' की प्रस्तावना से यह विदित होता है कि नान्दी के पश्चात् सूत्रधार के द्वारा स्वरचित पद्य में आत्म परिचय देने की रीति थी।

आधुनिक नाटकों में 'शिवप्रसाद भरद्वाज' का 'हूणपराजय' एतिहासिक नाटक है जिसमें सभी नेता, अभिनेता भारत की वन्दना करते हुए नान्दी प्रस्तुत करते है। तत्पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'वेंकटरामराघवन' ने कई रूपकों की रचना की और इनके द्वारा रचित प्रायः सभी रूपकों का मञ्चन भी किया गया। इनके रूपकों में 'कामशुद्धि' एकांकी रूपक है जो नाट्यशास्त्रीय पद्धति से मिश्रित प्रयास है। इसका प्रथम अभिनय कालिदास महोत्सव पर समागत रसिकों के प्रीत्यर्थ हेतु हुआ। इन्होंने अपने नाटक में पाठक व प्रेक्षक की उत्सुकता सर्वत्र उत्तेजित की है। इस रूपक की प्रस्तावना में सूत्रधार स्थानीय कवि और पारिवारिक स्थानीय उसका मित्र है। रङ्गमञ्च पर कवि अपनी प्रस्ताविक बातें कह लेता है तथा उसके पीछे की यवनिका प्रस्तावना के अन्त में हटाई जाती है।

उपरूपकों के भेद प्रेक्षणक के विषय में यह विदित है कि यह राजमार्ग, चौराहे, पर देवमंदिर के प्राङ्गण में बहुपात्रों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। इसमें नृत्य, गीत आदि की प्रधानता होती है तथा ये लोक नाट्यों के अत्यधिक निकट हैं। इन प्रेक्षणकों की रचना प्राचीनकाल व मध्यकाल में पर्याप्त रूप से हुई किन्तु आधुनिक काल में भी इसकी कोई कमी नहीं है क्योंकि वेंकटरामराघवन ने 'अवन्तीसुन्दरी', 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे', 'लक्ष्मीस्वयंवर', 'पुनरून्मेष', 'महाश्वेता आदि प्रेक्षणकों की रचना की। 'अवन्तीसुन्दरी' प्रेक्षणक महाकवि राजशेखर की पत्नी के लिखे हुए प्राप्त कतिपय श्लोकों का समाश्रय लेकर प्रणीत है। इनके प्रेक्षणकों में शास्त्रीय लक्षण पूर्ण नहीं मिलते अर्थात् इनमें नान्दी व प्रस्तावना नहीं मिलते किन्तु 'लक्ष्मीस्वयंवर' में नान्दी का परिचय मिलता है- तथा अन्य सभी प्रेक्षणकों में नान्दी व प्ररोचना का अभाव दिखाई

देता है। प्रायः सभी नाट्यशास्त्रज्ञों ने प्रेक्षणक मे सूत्रधार का अभाव कहा है। जिसका निर्वाह राघवन ने 'प्रेक्षणकवयी', 'महाश्वेता', 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' में किया परन्तु 'कामशुद्धि' में सूत्रधार का कार्य कवि द्वारा किया गया तथा 'लक्ष्मीस्वयंवर' मे पौराणिक ने सूत्रधार का कार्य किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक संस्कृत साहित्य में भी प्रेक्षणकों की रचना हो रही है। प्राचीन नाट्य परम्परा का पालन करते हुए आज के नाटककार उसमें कुशलता का परिचय देते हैं तथा हिन्दी साहित्य में प्रचलित नुक्कड़ नाटको एवं लोकनाट्यों में प्रेक्षणकों का प्रभाव दिखाई देता है। बीसवीं शताब्दी मे प्रेक्षणकों की रचना इसकी लोकप्रियता की द्योतक है।

डा. राघवन ने सभी आचार्यों से भिन्न अपने प्रकरण 'अनार्कली' में सात पृष्ठ की लम्बी प्रस्तावना में अनेक ऐसी बातें समाविष्ट की जो प्रेक्षकों की सहिष्णुता की परीक्षा लेने के लिए सिद्ध होती है न कि उन्हें उत्सुकता या मन्त्रमुग्ध करने के लिए, इसमें सूत्रधार ने इक्कीस पंक्तियों का व्याख्यान किया जो नाट्योचित नहीं कहा जा सकता।

इनके रूपकों में संगीत की स्वर लहरी, भावी घटनाक्रम का सङ्केत, पूर्ववर्ती घटनाओं से कराते चलना एवं कलात्मकता का विधान स्पष्ट रुप मे दिखाई देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् बीसवी शता. के पूर्वार्ध में रूपकों की रचना व नाट्यदृष्टि से विवेचना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है क्योंकि यह उन्नीसवीं शताब्दी से कुछ भिन्न प्रतीत होता है इसका कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में रूपककारो की दृष्टि नवजागरण व राष्ट्रियता की भावना से लेखन कार्य में प्रवृत्त थी, बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (१९५० से १९९०) देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन भारत में एक नये दिक्काल को प्रस्तुत कर रहा था। जिसका प्रभाव अन्य भाषा के कवियों के साथ संस्कृत के रचनाकारों पर भी पड़ा। जिसके फलस्वरुप संस्कृत की जीवन्त रचनायें प्रकाश में आयी। इस काल में कुछ नई विधाओं के प्रयोग भी किये गये जो हिन्दी और

अंग्रेजी की नकल पर आधारित दिखाई देते हैं जिनमें 'लीलाराव' के रूपकों को रखा जा सकता है परन्तु इसमें जीवन्तता का अभाव है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में भी प्राचीन कृतियों के कथानकों को लेकर या उसके किसी एक पक्ष को पूरक बनाकर रूपक रचनायें हुईं, जिसमें यतीन्द्र विमल चौधुरी, रमाचौधुरी, रामवेलणकर, व वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के रूपकों को रखा जा सकता है।

अत एव बीसवीं शताब्दी के रूपककारो में 'विश्वनाथ सत्यनारायण' के संस्कृत के दो नाटक- 'गुप्तपाशुपत' व 'अमृतशर्मिष्ठ' की नाट्यशास्त्री विवेचना के आधार यह कह सकते हैं कि इनमें नान्दी, प्रस्तावना व भरतवाक्य का प्रयोग किया गया है।

'विष्णुपदभट्टाचार्य' ने समाज की वर्तमान समस्या गरीबी व बेरोजगारी को अपने रूपकों का विषय बनाया तथा रूपको की सरसता हेतु विवाह समस्या, अनुकूल वधू जैसी बातों को निरूपित किया। इनके इस प्रकार के रूपकों में 'काञ्चनकुञ्चिक' एवं नौ अङ्कों का 'धनंजयपुरजय' उल्लेखनीय हैं। इन्होंने इन नाटकों की कहानियों को पौराणिक पुट देते हुए मार्मिक सन्दर्भों से संयोजन किया है। 'काञ्चनकुञ्चिक' नाटक की प्रस्तावना में यह बताया गया है कि कभी-कभी संस्कृत नाटकों का अभिनय करने वाले प्रेक्षकों का अभाव महान क्लेश कारक होता था इसलिए सूत्रधार पहले रङ्गमञ्च से नागरिकों को बुलाता है फिर उसके न आने पर मारिष से कहता है- 'त्वमेव गत्वा कतिपयान् नागरिकानत्र समानय'। सूत्रधार ने इसे समयोचित प्रकरण कहा है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि कुछ नाटककार अपनी रचना में समसामयिकता का प्रदर्शन करने का प्रयास करते थे। यह प्रकरण बसन्तोत्सव के अवसर पर अभिनीत हुआ प्रतीत होता है।

इस नाटक की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रङ्गसङ्केत अङ्कारम्भ में ही मिलता है। यह रङ्ग सङ्केत इतना लम्बा है कि इससे यह कहा जा सकता है कि यह विदेशी प्रभाव का द्योतक है (एक से छः पंक्तियों तक विस्तृत रङ्गसङ्केत है)। इस प्रकार प्रस्तावना का प्रयोग होने पर भी यह नाट्योचित नहीं है क्योंकि यदि यहाँ प्रस्तावना को

समाप्त न किया जाता तो सूत्रधार व उधार के प्रेक्षकों की बहस के बाद हाँथापाई तक हो जाती।

'लीलाराव' के नाट्यशिल्प अभिनव हैं अर्थात् आधुनिक शैली के नाटक है क्योंकि हिन्दी में लिखे जाने वाले आधुनिक रूपकों की छाप के साथ नये विषय अर्थात् सामसामयिक समस्याओं को लेकर नाट्य कथा विकसित की गई है। इनके नाटकों में नाट्यनिर्देशन व रङ्गनिर्देश की प्रचुरता है तथा नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्यों का अभाव दिखाई देता है, किन्तु 'मीराचरित एकांकी' में मङ्गलाचरण है, जो नान्दी के ही समकक्ष है। इसके पश्चात् सूत्रधार द्वारा संक्षेप में प्रस्तावना प्रस्तुत की गई है किन्तु भरतवाक्य का अभाव है। इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक परम्परा वाले इस एकांकी में भारतीय विधानों को अंशतः अपनाया गया है।

विश्वेश्वर का 'चाणक्यविजय' नाटक नाटकीय कौशल की उदात्तता से रहित होते हुए भी संगीत, वीणावादन, आदि के द्वारा रङ्गमञ्च पर विशेष मनोरंजन कराता है। इस नाटक के संगीतों में भविष्य की घटनाओं का सङ्केत मिल जाता है तथा नाटक में नान्दी, प्रस्तावना व भरतवाक्य प्राचीन परम्परा के अनुसार रखे गये हैं।

आधुनिक नाटककारों में रमा चौधुरी ने अनेक नाटकों की रचना करते हुए उनके मञ्चन का भी कार्य किया। इनके नाटकों में 'शंकर-शंकर' द्वितीय नाटक था जिसका मञ्चन १९६५ ई. में २२ वें प्रतिष्ठा दिवस के उपलक्ष्य में हुआ। रमा चौधुरी ने 'कविकुलकोकिल', 'मेघमेदुरमेदिनीय', 'कविकुलकमल' में समाजिक दुःख की कहानी का चित्रण किया है अर्थात् 'कविकुलकोकिल' व 'कविकुलकमल' में कालिदास के पूर्व एवं उत्तरजीवन की कथा कल्पित की गई तथा 'मेघमेदुरमेदिनीम्' में मेघदूत में वर्णित यक्ष यक्षिणी के पूर्व एवं शापमुक्ति के पश्चात् की सम्भावित जीवनकथा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। ये नाटक संस्कृत में आधुनिक शैली के नाटक हैं फिर भी आधुनिक एवं कथाकथित पाश्चात्य शैली के साथ सौविध्य पूर्वक जुड़ते हुए भारतीय शैली की नान्दी, प्रस्तावना व भरतवाक्य को अवश्य जोड़ते हैं। इनमें अङ्कों का

विभाजन दृश्य व पटपरिवर्तनों में हुआ तथा संगीत व स्तुतबहुल, इन नाटकों में आधुनिकता के साथ शास्त्रीय नियमों का भी पालन किया गया।

नित्यानन्द ने संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने वाले अनेक रूपकों की रचना की। जिसमें 'प्रह्लाद विनोदन' पाँच अङ्कों से समन्वित पुराण प्रसिद्ध प्रह्लाद की चरित्र गाथा से युक्त है। नित्यानन्द ने इस नाटक में तथा अन्य सभी नाटकों में नान्दी, प्रस्तावना व भरतवाक्य का भारतीय परम्परानुसार समाहार किया है।

इसीप्रकार 'हरिरामचन्द्र दिवेकर' का 'कालिदास महोत्साह' नाटक सरलता व सुबोधता की दृष्टि से रोचक व सफल होते हुए नान्दी, प्रस्तावना आदि को परम्परानुसार प्रस्तुत करता है।

आधुनिक संस्कृत नाटक लोकनाट्यों से अत्यधिक प्रभावित होते प्रतीत होते हैं। केरल के 'वेङ्कटकृष्ण तम्मी' का नाटक 'श्रीरामकृष्णचरित' है जिसमें प्रस्तावना नहीं है। इनके नाटकों में भारतीय व यूरोपीय दोनों पराम्पराओं का सम्मिश्रण है। 'कृष्णापन्त' के 'कामन्दक' नाटक में प्रस्तावना का लेखक 'सूत्रधार' कहा गया है। 'रंगाचार्य' के नाटक 'शिवाजीविजय' में नान्दी, प्रस्तावना का अभाव है किन्तु 'श्रीहर्षबाणभट्टीय' नाटक में प्रस्तावना की अनोखी प्रस्तुति है तथा नान्दी का अभाव है। नाटक के प्रारम्भ में सूच्य नाट्य निर्देशकों को समाविष्ट करने वाली प्रस्तावना बहुत बड़ी परिचयात्मक भूमिका के रूप में परिलक्षित होती है।

आधुनिक विदेशी पद्धति में विकसित 'रामलिङ्गशास्त्री' के नाट्यसाहित्य में भारतीय नाट्यशास्त्रीय विधान की मान्यता अपवाद रूप में दिखाई देती है, क्योंकि इनके पन्द्रह दृश्यों के सबसे बड़े नाटक 'सत्याग्रहोदय' में नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य एक-एक दृश्य के रूप में प्रस्तुत है जो प्रायः भारतीय विधि के अनुरूप नहीं है। इसीप्रकार भरतवाक्य सूत्रधार नटी व चेटी आदि सभी पात्रों के सामूहिक सम्भाषण व वैदिक मन्त्रों के गायन के रूप में प्रस्तुत हैं।

संस्कृत साहित्य के विद्वान 'गजानन बालकृष्ण पलसुले' के आधुनिक शैली के चरितात्मक नाटक 'धन्योऽहं धन्योऽहम्' में नान्दी, प्रस्तावना का अभाव है तथा 'चण्डिकाप्रसादशुक्ल' के 'वीरवदान्य' नामक चार अङ्कों के पारम्परिक लघु रूपक में भी नान्दी, प्रस्तावना का अभाव है। इसी प्रकार 'रमाकान्त मिश्र' के नाटक 'जवाहर लाल नेहरू' में नान्दी, प्रस्तावना आदि का अभाव दिखाई देता है।

'नाट्यपञ्चामृतम्' के प्रणेता डा. राजेन्द्रमिश्र के 'नाट्यपंचगव्य' के पाँच रूपकों में प्रथम कवि सम्मेलन है जिसमें कालिदास, अश्वघोष, बाण, माघ, जयदेव, भवभूति, शूद्रक, जगन्नाथ आठ कवियों से, सूत्रधार को सहचर बनाकर कुछ अपने विषय में कुछ देश की आधुनिक दुर्दशा के विषय में और कुछ प्रयाग विश्वविद्यालय की गरिमा के विषय में कहा गया। बीच-बीच में नेपथ्य गीत का भी प्रयोग हुआ है। इसप्रकार भास की शैली अपनाने वाले इन्होंने 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से नाटकों का प्रारम्भ करते हुए मङ्गलाचरण, प्रस्तावना आदि की परम्परा का निर्वाह किया है। ऐसे ही 'वेङ्कटरत्न एम. ए.' ने भी 'इन्दिरा विजय' एकांकी नाटक में नान्दी और प्रस्तावना का परम्परानुसार निर्वाह किया।

रेडियो रूपक परम्परा में 'रमाकान्त शुक्ल' के 'कचदेवयानी' के प्रेमप्रसङ्ग को लेकर पौराणिक कथा के आधार पर 'रामलिङ्ग शास्त्री' ने 'देवयानी' रेडियो रूपक की रचना की। इसमें नान्दी तो की गई किन्तु प्रस्तावना व भरतवाक्य का अभाव है। 'श्रीरामवेलगकर' के 'हुतात्मादधीचि' रेडियो रूपक में नान्दी है तथा इसके बाद निवेदयित्री के गेय निवेदन को रखा गया है एवं 'कैलाशकम्प' रेडियो नाटक में कथा का आरम्भ निवेदयिनी की प्रस्तावना से होता है। ऐसे ही 'स्वातन्त्र्यलक्ष्मी' में प्रस्तावना के पश्चात् नान्दी का प्रयोग किया गया है, जिसमें रूपक की सम्पूर्ण कथा समाहित है।

आधुनिक नाट्य रीति से विरचित व्यङ्ग्य नाटिका 'धरित्रीपति निर्वाचन' का प्रणयन 'सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय' ने किया। इसमें नई रीति के अनुकरण पर रङ्ग निर्देश की प्रचुरता के साथ, नान्दी प्रस्तावना आदि को स्थान दिया गया। 'श्रीराम वेलणकर' ने

अपने 'कालिन्दी' नामक नाटक को स्वतः ही नाटिका कहा है। यह नाटिका इस युग में अपनी कोटि की भौगोलिक व लाक्षणिक दृष्टि से निराली है। यह सोद्देश्यपूर्ण है तथा प्रस्तावना का अभाव दर्शित कराने के साथ नान्दी का प्रयोग प्रस्तुत करती है। तीन अङ्कों के इस नाटक के नान्दी में रूपक की पूरी कथा का सारांश एक पद्य मात्र में दिया गया है। साथ ही अभिनय कला की दृष्टि से कुछ कमियों के साथ यह अनुपमेय है।

इसीप्रकार कैशिकी वृत्ति के नृत्य, विलास, गीतमयात्मक प्रयोग को लेकर, कथावस्तु में नाटक भेद की उदात्त कहानी को संजोते हुए इसे भारती वृत्ति से समन्वित कर नाटिका का नया रूप प्रस्तुत करके स्व. 'ब्रह्मदेवशास्त्री' ने तीन नाटिकाओं (वेला, सावित्री प्रतिध्वनि) की रचना की। इन तीनों नाटिकाओं में संस्कृत नाट्य परम्परा की पद्धति अक्षुण्ण है क्योंकि तीनों में नान्दी, प्रस्तावना और भरतवाक्य है। इसप्रकार कवि ने अपनी सर्जनात्मक कल्पना से इन्हें नये रुप में प्रस्तुत कर नवीन युग में नूतनता का सञ्चार किया।

नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के अन्य रूपक भेदों में नाट्यशास्त्रीय विधि की आधुनिक दृष्टि से समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी में युवराज रचित 'रससदन भाण, जीवन्न्यायतीर्थ' के कैलाशमाथ विजय' व्यायोग, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के 'वेष्टनव्यायोग', सुन्दराज के 'स्नुषाविजय' आदि आधुनिक रूपकों में भी पूर्वरङ्ग विधि का संक्षिप्त अंश में ही प्रयोग प्रचलित है।

यदि संस्कृत-साहित्य में नाट्य साहित्य को उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के संदर्भ में देखें तो पता चलता है कि इस समय इस साहित्य का विपुल मात्रा में लेखन हुआ जो संस्कृत की जीवन्तता का परिचायक है, तथा इस समय प्राचीन नाट्य पद्धति का भी पिष्टपेषण होता रहा किन्तु बीसवीं शताब्दी में नाट्य परम्परा की पद्धति में परिवर्तन हुआ। जिसमें नान्दी, प्रस्तावना व भरतवाक्य पद्धति प्रायः लुप्त हो गई अर्थात् आचार्यों ने इन पूर्वरङ्गीय विधानों से शून्य नाट्य रचनायें की, और जिन्होंने

इनका प्रयोग किया वे प्रायशः भारतीयविधि के रूप में नही है। इसप्रकार जहाँ एक ओर आधुनिक नाट्यकारों द्वारा नान्दी, प्रस्तावना आदि का पूर्णरूपेण बहिष्कार कर दिया गया, वहीं कुछ आचार्यो ने इस विषय में नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करते हुए अपनी इच्छानुसार इसे वर्णित किया। जिसके उदाहरणार्थ बीसवीं शताब्दी के कालीपद का 'स्यमन्तकोद्धार' व्यायोग का नाम लिया जा सकता है। इस व्यायोग में नान्दी पाठ सभी पात्रों द्वारा मिलकर किये जाने का सङ्केत मिलता है तथा नाट्यारम्भ के लिए प्रस्तावना में पारिपाश्विक आदि कोई पात्र ऐसी कल्पित घटना की समस्या प्रस्तुत करते हैं जो रूपक की वस्तु से मेल खाती हो। यदि पूर्व में अठारहवीं शताब्दी के रचनाओं को प्रस्तावना की दृष्टि से देखे तो प्रस्तावना के अन्तिम भाग में ऐसा आयोजन करने का प्रचलन विशेष रूप से रहा है।

आधुनिक रचनाकार रचना की जीवन्तता व प्राचीन परम्पराओं के निर्वाह के लिए प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी साहित्य के विकास मे अपनी ओर से कुछ जोड़कर उसे समृद्ध करना चाहता है। यह भी सत्य है कि संस्कृत नाटय में विहित परम्पराओं का समयानुकूल व आवश्यकतानुसार विचार-विमर्श, परिवर्धन तथा संसोधन होना चाहिए, क्योंकि आधुनिक युग, प्रगति, नवीनता व समयाभाव का युग है तथा भरत ने भी इस विधि में कुछ संकुचन कर सकने की बात कही है, इसलिए स्वतन्त्रप्रवृत्ति अपनाते हुए रूपककारों ने अपने ही रूपको में कहीं पूर्वरङ्ग का प्रयोग किया है कहीं नहीं किया अर्थात् बहुत ही कम आधुनातन रूपकों में शास्त्र विहित पूर्वरङ्ग का प्रयोग है। जिसका मुख्य कारण एक ओर तो नाट्यशास्त्र का संक्षेपीकरण, दूसरी ओर समयाभाव है, जिस कारण प्राचीन परम्पराओं का तिरस्कार किया जा रहा है।

इसप्रकार आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए, पूर्वरङ्ग की प्रक्रिया भले ही अवसान की ओर अग्रसर हो रही हो अर्थात् पूर्वरङ्ग विधान की दृष्टि से नाट्यरचना भले ही कम हो रहीं हो किन्तु आज भी रूपकों में किञ्चिद पूर्वरङ्ग के तत्त्व अवश्य ही मिल जाते हैं।

अत एव मङ्गलाचरण के रुप में ही शेष पूर्वरङ्गविधान आज भी संस्कृत नाटकों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है तथा निष्कर्ष रूप में ऐसा भी प्रतीत होता है कि आगे आने वाली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य नाट्यशास्त्रीय संदर्भ मे कुछ और अधुनातन रूप में प्रस्तुत होगा।

पारम्परिक लोकनाट्यशैलियों में पूर्वरङ्ग के तत्त्व- संस्कृत के प्रमुख रूपकों व उपरूपकों में पूर्वरङ्ग का विश्लेषण करने के पश्चात् जब लोकनाट्यों में पूर्वरङ्ग के तत्त्वों का विवेचन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के समय में उनसे पूर्व कई शताब्दियों से लोकनाट्य की परम्परा अपनी प्रगतिशील अवस्था में थी। इस परम्परा की जानकारी अर्थात् लोकनाट्य के कई रूपों का ज्ञान इनकी परम्परा के नाटककारों को था क्योंकि इसी परम्परा ने लोकनाट्यों को उपरूपकों के रूप में प्रतिष्ठित किया। संस्कृत के नाटककारों में भास ने सर्वप्रथम उपरूपकों का उल्लेख करते हुए अपने दो नाटकों 'पञ्चरात्रम् ' व 'बालचरितम् ' में आभीरजाति के लोकनृत्य 'हल्लीसक' का उल्लेख किया, जो स्त्री पुरुष युक्त सामूहिक नृत्य था। शास्त्रकारों ने जितने भी प्रकार के उपरूपकों का उल्लेख किया प्रायः वे सभी नृत्यरूप में ही प्रचलित हैं। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि उपरूपक लोकनाट्यो के ही परिष्कृत एवं प्राचीनरूप हैं।

संस्कृत के शिष्ट रङ्गमञ्च एवं साहित्यिक रूपकों के पराभव के बाद भी परम्परागत लोक नाट्य का क्रम आज खंडित नहीं हो पाया है। लोकनाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में लेखबद्ध न होता हुआ भी जन जीवन में व्याप्त रहा है तथा कवि एवं नाटककार इन लोकनाट्यों से अनुप्राणित होते रहे हैं। संस्कृत साहित्य के विद्वान समीक्षकों ने अनेक बार राजाश्रित नाटकों, रङ्गमञ्चों के अतिरिक्त जननाट्य तथा लोक रङ्गमञ्च की परम्परा का समर्थन किया है। इस प्रकार रूपकों में प्रायः एकांकी रूपक जैसे- भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी, अङ्क, उत्सृष्टिकाङ्क का तथा उपरूपकों में गोष्ठी, रासक, प्रेक्षणक, श्रीगदित, हल्लीस आदि का इन लोकनाटकों से घनिष्ठ सम्बन्ध है,

इस तथ्य के प्रमाण रूप मे यह कहा जा सकता है कि भाण की छाया 'भवाई' में देखी जा सकती है।

सर्वस्वीकृत मतानुसार किसी भी नाट्य के पूर्व सम्पादित किये जाने वाले पूर्वरङ्ग का मुख्य उद्देश्य नाट्य प्रयोग की तैयारी, प्रयोगानुकूल मनः स्थिति, पर्यावरण का निर्माण तथा एतिहासिक या वर्तमान देशकाल से नाटक के देशकाल में नाट्य प्रयोक्ता (नट) व प्रेक्षक की चेतना के मूल्यांकन की रूपरेखा तैयार करना है। यह रूपरेखा पूर्वरङ्ग के महत्त्वपूर्ण अङ्ग प्रस्तावना मे ही जाकर अवसान लेती है।

भवइ- सामान्य रूप से किसी भी नाट्य को प्रारम्भ करने में दो प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है प्रथम वे जो नाट्यकर्ता हैं तथा दूसरे नाट्यदर्शक हैं क्योंकि नाट्यदर्शक के बिना नाट्यकर्ता के नाट्य प्रयोग का कोई औचित्य नहीं है इसलिए प्रेक्षक या दर्शक की प्रमुखता स्वीकृत की जाती है। इन प्रेक्षको को नाट्य के प्रारम्भ होने की सूचना इसलिए दी जाती है ताकि वे प्रेक्षागार में एकत्र हो सकें। इनको एकत्रित कराना पूर्वरङ्ग का एक महत्वपूर्ण प्रयोजन है।

गुजरात के नाट्य भवइ में प्रेक्षको को एकत्र करने का कार्य नाटकीय घोषणा के द्वारा दिया जाता है जिसे 'आवनु' कहते हैं।[१] 'भवइ' तथा अनेक लोकनाट्यों में नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व गायक गायन तथा वादक मृदंग या अन्य वाद्य-यन्त्रों को बजाते हैं जो नाट्य शास्त्र के अन्तर्जवनिकासंस्थ में वर्णित परिघट्टना व गीतविधि आदि पूर्वरङ्ग के अङ्गों के अनुरुप हैं। इसी प्रकार भवई में 'वेषथगोर' (सूत्रधार) तथा नायक का रङ्गमञ्च पर आकर पुष्प बिखेरना एवं रङ्गमञ्च पर चक्कर लगाना पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत अनुष्ठित किये जने वाले पुष्पाञ्जलि व परिवर्त से साम्य रखता है। आचार्य भरत द्वारा वर्णित अनिवार्य अङ्ग नान्दी को भी 'भवइ' आदि अनेक लोकनाट्यों में देखा जा

---

१ कालिदास खण्ड ५, १९८९ में शान्तागांधी का लेख पृष्ठ २७।
उद्धृत- नाट्यशास्त्र विश्वकोश भाग-३, राधा वल्लभ, प्रथम संस्करण- १९९९ पृष्ठ ११३३

सकता है। इन लोकनाट्यों में नाट्य प्रारम्भ होने के पूर्व विघ्नविनाशक गणेश की वन्दना की जाती है, जो नान्दी से ही तुलनीय है। पारसी रङ्गमञ्च पर भी आरम्भ में मङ्गलाचरण किया जाता है जो पूर्वरङ्ग का ही परिवर्तित एवं संक्षिप्त रूप है। आचार्य 'गोवर्धन पाञ्चाल'[1] ने भवइ में वन्दनीय गणेश की कुंकुम और फूलों से पूजा करने के लिए ब्राह्मण का प्रवेश बताते हुए उसकी तुलना पूर्वरङ्ग के चतुर्थकार से की है तथा इसके संवाद एवं मञ्च पर होने वाली उसकी चेष्टाओं का साम्य रंगद्वार से किया है।

इसप्रकार इस भवइ लोकनाट्य में नाट्यशास्त्र वर्णित प्रायः सभी पूर्वरङ्गीय अङ्गों का प्रयोग किया जाता है। अत एव इस आधार पर यह कह सकते हैं कि लोकनाट्यों के विधि-विधान नाट्यशास्त्रानुरूप से कुछ भिन्नता रखते हुए भी उसके अधिकाधिक समकक्ष हैं।

अंकियानाट- यह नाट असम के प्रख्यात संत शङ्करदेव व उनके शिष्य माधवदेव द्वारा रचित एकांकी नाटक हैं। इन नाटकों में नाट्यशास्त्र में वर्णित अनेक पूर्वरङ्गीय अङ्ग सम्मिलित किये जाते हैं, जिनमें त्रिगत प्ररोचना, नान्दी मुख्य हैं। इस नाट में सर्वप्रथम गीत नृत्य से युक्त एक लम्बी प्रकिया होती है जिसे 'होमाली' कहा जाता है।[2] नाट में पहले प्रस्तुत होने वाली होमाली का अर्थ है 'खेल'। नाट्यारम्भ के पूर्व नामकीर्तन प्रारम्भ हो जाता है तथा नाट्य के प्रमुख पात्र एवं सूत्रधार पूरे दिन व्रत करके देवता का प्रसाद ग्रहण कर होमाली का प्रारम्भ करते हैं। होमाली के कई सोपान होते हैं जिसमें भक्तिगीत (सारू, बड़, चाहिनी और घोष) प्रथम है, जो नाट्य पुस्तक से नहीं लिये जाते। इसमें सर्वप्रथम बड़गायन (गायक वृन्द) बड़वायन (खोलवादक), अग्निघेर प्रकाशतोरण (दो बासों को तिरछे जोड़कर जिस पर दीप जलते है) के सामने से आते हैं। रङ्गमञ्च पर दो व्यक्ति इनके सामने से एकअर्धपटी (श्वेत कपड़ा जिसे

---

[1] कालिदास खण्ड ५, १९८९ में गोवर्धन पाञ्चाल का लेख, पृष्ठ- ३५-३७। उद्धृत- नाट्यशास्त्रविश्वकोश भाग-३, पृष्ठ-१३३

[2] नाट्यम- १४ में प्रकाशित, डॉ. इन्दुजा अवस्थी के लेख, पृष्ठ- ७३-७४। उद्धृत- राधावल्लभ भाग-३, पृष्ठ- ११३४

आड़कापड़ कहते हैं) पकड़े रहते हैं। इन गायकादि के गीत के साथ पटी पकड़ने वालों की गति भी सङ्केतित होती है। वाद्य के लय और स्वर तीव्र हो जाने पर अर्धपटी को हटा लिया जाता है तथा श्वेत धोती और पगड़ी धारण किये वादन एवं गायक प्रकट होते हैं।

घोषा होमाली में दोनों गायक वृन्द व खोलवादक नाम संकीर्तन करते है तथा दशावतारों की कथा का गान करते है इसलिए इनका प्रथम प्रवेश अति प्रभावशाली होता है। इसके पश्चात् बाईस या इससे अधिक गायन वादन आते हैं और संगीत, ढोल, झांझ की ताल पर अनेक गीतों को बनाते मिटाते हैं, जिससे संगीत की लय तथा कीर्तन -गीत के स्वर भी तीव्र होते जाते हैं।

वैष्णव के विशाल प्रार्थना कक्ष में मण्डित सिंहासन पर भागवत पुराण रखी रहती है। इसके सामने सत्राधिकार बैठते है और भागवत के सामने की ओर बने तोरण के समान स्थान पर सामने बड़ गायन व वड़वायन नामकीर्तन करते हैं तथा भागवत स्थान व तोरण के बीच लम्बी वीथी में बड़गायन वड़वायन गीत समूहों में नृत्य का प्रस्तुतीकरण करते हैं तथा दर्शक उनके दोनों ओर बैठते हैं।

इस होमाली की प्रक्रिया दो ढ़ाई घंटे से लेकर छः सात घंटे तक चल सकती है तथा नाट का कोई भी रूप हो होमाली की प्रस्तुति एक ही रूप में होती है। इसप्रकार होमाली की यह प्रक्रिया अन्तर्जवनिकासंस्थ पूर्वरङ्ग की स्मृति दिलाती है।

होमाली के अन्त में सूत्रधार का मञ्च पर प्रवेश होता है तथा अग्निघेरप्रकाशतोरण के पीछे से बड़गायन बड़वायन पंक्तिबद्ध हो जाते हैं।

यह सूत्रधार अपने वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता है, जो शुभ्रश्वेत पर चमकीले वस्त्र पहनता है, जिसमें श्वेत अंगरखा, सुनहरी टोपी, लाल कमरपट्टी, सुनहरा उत्तरीय धारण करके मुख पर आकर्षक मुस्कान लिये हुए कुछ देर तक नृत्य करता है फिर भजन गाकर नाट्यवस्तु की सूचना करके गायन-वायन के साथ बैठ जाता है। तभी नाट्य के नायक-नायिका का प्रवेश होता है और नाटक प्रारम्भ हो जाता है। इसप्रकार

हम देखते हैं कि वाद्यगीत का प्रत्याहार, नृत्य, प्रार्थना, मङ्गलगीत (नान्दी) तथा नाट्यवस्तु का परिचय यह सभी पूर्वरङ्ग के अङ्ग अंकियानाटक में होते हैं जिन्हें होमाली की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

तेय्यम- जिसप्रकार अंकिया नाट में 'होमाली' पूर्वरङ्ग स्थानीय है उसी प्रकार केरल के पारम्परिक नाट्य 'तेय्यम' में 'तोट्टम' पूर्वरङ्ग स्थानीय है।[1] इस नाट्य मे दर्शक समूह उत्साह के साथ एकत्र होते हैं तथा कथा में दोष होने पर आपत्ति भी करते हैं। कथा गायन के संदर्भ में जिस तेय्यम (पूर्वरङ्ग) की प्रस्तुति करनी होती है उससे सम्बद्ध मुख्य कथागायक मञ्च पर आकर रात्रि के अभिनय के लिए तैयार होता है और मञ्च पर प्रवेश करता है। इसके अनुष्ठान के प्रारम्भ में तथा मध्य-मध्य मे संस्कृत श्लोकों से प्रार्थना की जाती है। यद्यपि ये कथागायक पढ़े लिखे नही होते किन्तु संस्कृत श्लोक परम्परा से जानते हैं। इनके वस्त्रों की एक विचित्र विशिष्टता यह है कि ये नारियल के पत्तों व रेशों से निर्मित होते हैं जो अत्यन्त विशाल दिखाई देने पर भी हल्के होते हैं। ये वस्त्र इनकी अद्भूत कला के परिचायक हैं। इस वेशभूषा के धारण के पूर्व ये इन्हें पवित्र करते हैं तथा इन्हें धारण कर पूर्ण होकर मनोभाव में आ जाते हैं। तत्पश्चात् एक विस्तृत आशीर्वादात्मक गान के साथ 'तोट्टम' समाप्त हो जाता है। इसप्रकार 'तेय्यम' के गान के अवसान पर नृत्य नाट्य की प्रस्तुति प्रारम्भ होती है। यह पूरी प्रक्रिया तीन-चार घंटों तक चलने के बाद सम्पादित होती है।

अत एव इस लोकनाट्य को भी पूर्वरङ्ग का एक रूप कह सकते हैं क्योंकि इसमें देवतास्तुति, मञ्च व अभिनेता का पवित्रीकरण, नाट्यवस्तु का परिचय तथा दर्शकों को आकृष्ट करना आदि क्रियायें सम्मिलित हैं, जो नाट्यशास्त्र के पूर्वरङ्गीय नान्दी, प्ररोचना व प्रस्तावना से साम्य रखती हैं।

---

1 नाट्यम- १४, इन्दुजा अवस्थी का लेख, पृष्ठ- ७५
उद्धृत- राधा वल्लभ भाग- ३, पृष्ठ- ११३४

यक्षगान- संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध संगीत रूपकों को 'यक्षगान' या 'अभिनय रूपक' कहा जाता है। अठारहवीं शताब्दी में तंजौर के शिवाजी महाराज ने 'इन्दुमति परिणय' नाटक एवं 'चन्द्रशेखरविलास' संगीत रूपक की रचना की जिसे यक्षगान की कोटि में रखा गया इसमें सर्वप्रथम नाट्यारम्भ के पूर्व जयगान, तथा शरणगान का उल्लेख है तत्पश्चात् गणेश, सरस्वती, विष्णु की स्तुति की गई है। अतः हम कह सकते हैं कि इन्होंने यक्षगान में सम्पादित होने वाले पूर्वरङ्ग के अङ्गों की ओर ध्यान आकृष्ट किया क्योंकि यक्षगान में भी ऐसा विधान देखने को मिलता है।

यक्षगान में वेषभूषादि धारण करने के पूर्व अभिनेता गणो द्वारा नेपथ्य में रखी विघ्नविनाशक गणपति की पूजा की जाती है। जो मन्त्र और स्तोतो से युक्त होती है तथा यह पूजा यक्षगान के भागवत (सूत्रधार) द्वारा की जाती है जो प्रायः ब्राह्मण ही होता है।[1] मूर्ति के सामने दीप रखा जाता है तथा नैवेद्य, नारियल अच्छत आदि से षोडशोपचार पूजा की जाती है और यहीं पर अभिनेताओं के किरीट व अलंकरणों का पवित्रीकरण भी होता है। गणपति की इस पूजा के अनन्तर वादक मण्डली वाद्ययंत्रों के साथ सूत्रधार व प्रमुख अभिनेता के समीप के मन्दिर में जाकर स्तुति गीत का गान करती है। वहाँ से वापस आकर सभी अभिनेता अर्धवृत्त बनाकर मूर्ति के सामने आरती करते हुए गणेश वन्दना करते हैं इसके बाद प्रसाद वितरण होता है। यक्षगान में पूर्वरङ्ग की ये विधियाँ जवनिका के पीछे सम्पादित होती हैं, अर्थात् दर्शकों के सामने प्रत्यक्ष नहीं होती। इसप्रकार ये विधियाँ नाट्याशास्त्रानुरूप ही हैं।

इसके बाद गणपति के सम्मुख जलते हुए दीप को लेकर भागवत (सूत्रधार) और इसके पीछे अभिनेता मण्डली मञ्च की ओर प्रवेश करते हैं। यह मञ्च स्वच्छन्दआकाश के नीचे होता है। चौकोर मञ्च के दोनों ओर दीप रखने के बाद अभिनेता अर्धवृत्त बनाकर खड़े हो जाते हैं तथा वादन प्रारम्भ होता है जिसमें मुख्यतः

---

1 नाट्यम- १४ इन्द्रजा अवस्थी पृष्ठ ७६-७७, उद्धृत- नाट्यशास्त्र विश्वकोश, भाग-३, पृष्ठ ११३६

'चेण्डा' नामक वाद्य बजाया जाता है। जिस पर दो अभिनेता जिन्हें 'कोनंगी' या 'हास्यगारू' कहते हैं, आकर तीव्र नृत्य गतियाँ प्रस्तुत करते हुए अनेकानेक प्रकार की हास्य चेष्टाओं से नृत्य करते हैं। तदनन्तर सभी अभिनेता मिलकर देवता के स्तुतिगीत गाते है जो प्रायः पूर्वरङ्ग के वहिर्जवनिकासंस्थ अनिवार्य अङ्ग नान्दी से सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। इनमें जो प्रशंसा गीत गाये जाते हैं वे गणपति, सरस्वती, विष्णु के अवतारों से सम्बद्ध होते हैं। इस गान के अनन्तर सभी पात्र दर्शकों की ओर पीठ करके खड़े हो जाते हैं तथा भागवत (सूत्रधार) सामने आकर नाट्यदल और नाटक का नाम बताते हुए नाटक की कथा का व्याख्यान करके पात्रों का परिचय कराता है। जो पूर्वरङ्ग के प्रस्तावना से साम्य रखता है। परिचय के बाद प्रत्येक पात्र अपनी भूमिकानुसार नृत्य करता है तथा भागवत के द्वारा नाट्य प्रारम्भ किया जाता है।

इसप्रकार यक्षगान में पूर्वरङ्ग के अनेक अङ्गों का सम्पादन किया जाता है जिनमें वहिर्जविनिका एवं अन्तर्जवनिकासंस्थ दोनों ही समाहित होते हैं।

कश्मीर का भांड पाथ या भांड जश्न- इन्हीं पूर्ववर्णित लोकनाट्यों के अनुरूप ही कश्मीर के गाँवों में प्रस्तुत किये जाने वाले लोकनाट्य को 'भाडंपाथ' या 'भाँड जश्न'[१] कहते हैं। इसका स्वरुप 'वर्लस्क अतिहास्य नाटिका का होता है। इसके सभी कथानक और संवाद हास्यमय होते हैं तथा इनके अभिनेता गण 'भगत' कहलाते हैं, जो हँसी मजाक गहरे सामाजिक व्यङ्ग्यों के आश्रय से अभिनय करते हैं ये भगत अधिकांशतः मुसलमान हैं। इस नाट्य की प्रस्तुति फसल कटने के बाद खलिहानों में होती है तथा इस नाट्य रूप की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इन नाट्यों का पूर्वरङ्ग एक निश्चित तिथि में किसी धार्मिक (जियारत) पर सम्पन्न होता है। इस अनुष्ठान के बिना उस वर्ष के कोई भी नाट्य प्रस्तुत नहीं हो सकते। इसलिए समयान्तराल होने पर भी इसे उस वर्ष के नाट्यों का पूर्वरङ्ग कहा जा सकता है। यहाँ के लोगों के अनुसार

---

१ नाट्यम- १४ इन्दुजा अवस्थी, पृष्ठ- ७७,
उद्धृत- नाट्यशास्त्र विश्वकोश- राधावल्लभ, भाग-३, पृष्ठ- ११३६

चन्द्रगणना के आधार पर किसी शुभ दिन प्रायः अप्रैल मई की किसी तारिख को कुकरनाग के पास स्थित दरगाह के मैदान में यह विधान सम्पन्न होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ष में एक बार पूर्वरङ्ग की क्रिया सम्पादित करके अनेक नाट्यों का आयोजन किया जा सकता है तथा प्रत्येक नाट्य में इसके विधान की आवश्यकता नहीं है। यह विधान एक वर्ष तक होने वाले नाट्यो के लिए उचित है। इससे इनके समयाभाव तथा संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति सङ्केतित होती है। इस पूर्वरङ्ग के सम्पादन के लिए कश्मीर मे चार अन्य स्थल भी हैं जहाँ भगतदल किसी न किसी दरगाह में जाकर पूर्वरङ्ग में सम्मिलित होते है।

इस नाट्य रूप में सन्ध्या होते ही गाँवों से वृद्ध, बच्चे सभी जियारत के स्थान पर पवित्र स्थल की ओर मुख करके खड़े होते हैं तथा सबके हाँथो में शहनाई या ढ़ोल होते है। सर्वप्रथम सभी कलाकार (लोग) एकत्र होते हैं और आधे घण्टे तक शहनाई धुन बजाकर नाचते हैं। तदनन्तर बच्चे अलग हो जाते हैं और सभी ताल के अनुसार नृत्य गतियाँ रखते हुए कभी दायरे के अन्दर कभी बाहर मुख करके नाचते हैं जिससे लय की गति तीव्र हो जाती है। इस एक ताल के नृत्य को 'सैलगाह' कहते हैं।

इस नृत्य में एक हाँथ दूसरे के हाँथ में आना अति आवश्यक माना जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह यह समझ जाता है कि इस वर्ष वह अभिनय कला में सफल नहीं होगा। इस नृत्य के बाद दायरा टूटता है जिसमें दो कलाकार हाँथ जोड़कर ऊपर उठाते हैं और क्रमशः एक-एक जोड़ा उन हस्ततोरणों के भीतर से निकलता है। तदनन्तर सभी हाँथ एक साथ खुलते हैं और वाद्ययन्त्र बन्द हो जाता है, तथा सभी पवित्र स्थल की ओर मुख करके दुआ माँगते हैं। यह पूर्वरङ्गीय पूरी प्रक्रिया तीन-चार घण्टे की होती है। इस अनुष्ठान के बाद कलाकार एक वर्ष तक कभी भी 'भांडजश्न' प्रस्तुत कर सकते हैं। इस नाट्य रूप की एक विशेषता यह भी है कि इसमें सर्वप्रथम नृत्य की ही प्रस्तुति होती है प्रार्थना का कार्य नृत्य के बाद किया जाता है तथा ढ़ोल और शहनाई बजाकर दर्शकों को एकत्र करके नाट्य का प्रारम्भ किया जाता है।

रासलीला- भारतीय जन जीवन व साहित्य में परम्परा से कला के प्रति गहन अभिरूचि रहीं है जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण रासलीला है। तत्त्ववेताओं ने रासलीला को अध्यात्मिक पृष्ठभूमि का आधार बनाया। इससे कलाकारों को नई चेतना मिली तथा सामान्य जन जीवन में यह धार्मिक आस्था के विषय के रुप में प्रतिष्ठित हो मनोरजंन का साधन बनी।

इस रास की भागवतधर्मानुयायियों ने अनेक दृष्टियों से व्याख्या प्रस्तुत की। जिसमें अधिकांश विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति का आधार रस बताया है (रसानां समूहो रासः)। भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने[१] अनेक नर्तकियों द्वारा सम्पादित नृत्य विशेष को रास कहा (रासो नाम बहुनर्तकी युक्तः नृत्य विशेषः)। दूसरे टीकाकार जीव गोस्वामी ने परम रस पुंज अर्थात् रस से समन्वित सर्वथा विलक्षण व्रजलीला को रास कहा है।[२]

रासलीला के शास्त्रीय एवं लौकिक पक्ष पर विचार करने के पूर्व, प्रयोग पक्ष को जानना अति आवश्यक है। बहुधा नाटक व रासलीला में कोई अन्तर नहीं है किन्तु दृश्य काव्य कही जाने वाली लीला किसी काव्य या इतिहास पर ही आधारित होती है। जैसे रामायण के आधार पर अभिनीतलीला रामलीला व भागवत् पर अभिनीत-कृष्ण लीला दोनो लीलायें हैं। अतः इस दृष्टि से लीला नाटक विधा से सर्वथा भिन्न हो जाती है। रासलीला में लौकिक पक्ष के साथ, आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में जीवात्मा का परमात्मा के साथ चिर-सम्बन्ध व्यक्त होता है।

लोकजीवन में अभिनय के प्रचार-प्रसार में रासलीला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। रास लीला मनोरञ्जन का ही नहीं अपितु धार्मिक विश्वासों का केन्द्र भी रही है तथा

---

१ भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण- वाचस्पति गैरोला- द्वितीयसं, १९७१ पृष्ठ- ६७

२ रासः परगरसकदम्बमयः। रस कदम्बमयः काचिद् विलक्षणो व्रजलीला विशेषो। यद्वा मुख्य रस शुद्ध प्रेमा स एव रासः।। उद्धृत- भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण- वाचस्पति गैरोला- पृष्ठ- ६७

ताल, लय, संगीतबद्ध नाट्य की परम्परा इसी के द्वारा लोकप्रचलित हुई। रासक्रीडा के उदय के मूल में मुख्य रूप से लोकभावना निहित है। इसप्रकार वह सदा ही लोकजीवन का विषय रही तथा इसी रूप में इसकी परम्परा अटूट रूप से आगे बढ़ी, जिस कारण सभी प्रदेशों में प्रादेशिक लोकनाट्यों के रूप में रासक्रीडा का स्थान आज भी बना हुआ है। दक्षिण भारत में कुराव, लाठ, रासक, कुरवई, नृत्य रासक्रीडा के ही रूप हैं जिनमें कृष्ण की लीलाओं के दर्शन होते हैं। इसीप्रकार गुजरात का गरवा, उड़ीसा का सन्थान, पंजाब का भाखड़ा आदि लोकनृत्य कुछ परिवर्तनो के साथ रासक्रीडा से ही प्रभावित हैं।

अत एव रासलीला में जहाँ एक ओर हमारी धार्मिक आस्थाओं की वाणी ध्वनित हुई वहीं दूसरी ओर उसी प्रकार लोकमानस की अन्तश्चेतना का अभिव्यञ्जन हुआ। इसलिए पुरातन काल में आज तक इसकी अटूट परम्परा हमारे लोकजीवन में बनी हुई है। इन लोक नृत्य व लोकनाट्यों का भारतीय नाट्य परम्परा के इतिहास में सदैव से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि ये उपरूपकों से जुड़े हैं। इन सभी विशेषताओं के होने पर भी ये लोकनृत्य शिष्ट नाट्य परम्परा के अङ्ग के रुप में प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सके और इन्हें मात्र लोकाभिरूचि की उपज माना गया जिसका सीधा सम्बन्ध लोक से है। अत एव उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सकने पर भी साहित्य में व्यापक अनुभूति ही इसकी लोकप्रियता की परिचायक है क्योंकि पुराणों, काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों एवं जैन-बौद्ध सभी विषय ग्रन्थो में रासलीला का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

कुडियाट्टम- इस कुडियाट्टम में प्रदर्शित बीस नाटकों में तेरह नाटक ईसा की प्रथम से तेरहवीं शताब्दी के नाट्यकारों के हैं। कुडियाट्टम से पूरे नाटक को अभिनीत नहीं किया जाता अपितु उसमें से चुने हुए किसी एक अङ्क का विस्तृत रूप में अभिनय किया जाता है। इस अभिनय का विस्तार इतना अधिक होता है कि एक अङ्क का प्रदर्शन कई दिनों तक चलता रहता है। पहले भास के तेरह नाटकों में से पैंतीस अङ्कों को कुडियाट्टम में प्रस्तुत किया जाता था किन्तु अब केवल चार का ही अभिनय किया जाता है जिसमें अभिषेक नाटक का प्रथम अङ्क 'बालिवधम्' शामिल है। यहाँ एक

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संस्कृत के अन्य नाट्यकारों कालिदास, शूद्रक, भवभूति को छोड़कर चाक्यारों ने कुडियाट्टम के लिए भास के ही नाटकों को उपयुक्त क्यों समझा?

इस संदर्भ में मणिपुरी रंगकर्मी श्री रतन स्मिथ का विचार यह है कि भास अपने नाटकों के प्रारम्भ में ही 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' ऐसा नाट्यनिर्देश लिखकर अभिनेताओं व निर्देशकों को यह चुनौती देते हुए जान पड़ते हैं कि मैंने अपना नाटक लिख दिया, अब आप अपनी नान्दी से अर्थात् इस नाटक के मङ्गलाचरण से नाटक को जोड़िये।[1] इसलिए भास के नाटकों मे प्रयोग की सम्भावनायें उनके आरम्भ होते ही शुरू हो जाती है। अत‌एव इससे यह भी सम्भव है कि चाक्यारों ने इस नाट्य निर्देश में अन्तर्निहित चुनौतियों को स्वीकार करते हुए ही 'अरंगुतली' में नाटक के नायक की स्वतन्त्र स्तुति की कल्पना की हो। जैसे-भास ने अभिषेक नाटक के मङ्गलाचरण के विषय में ('यो गाधिपुत्र- कुलाभिहन्ता')[2] यह श्लोक लिखा है। जबकि कुडियाट्टम में अभिषेक नाटक के पहले अङ्क बालिवधम् की अरंगुतली में यह स्तुति की जाती है कि जिन्होंने सुग्रीव से सन्धि की, असुरराज दुन्दुभि के मृत शरीर को अपने चरण नख से उठाकर फेंका, सुग्रीव के विश्वास के लिए क्षणभर में ही बाण से सात सालवृक्षों को भेद दिया, सुग्रीव से मैत्री के लिए अपने से युद्धरत बालि का वध किया ऐसे रघुकुल मणि भगवान रामचन्द्र आपकी रक्षा करें।[3]

इस नान्दी में अभिषेक नाटक के पहले अङ्क की कथावस्तु, मङ्गलस्तुति और नाटक के नायक की स्तुति को चाक्यारों ने एक साथ समेट लिया। इसप्रकार इसमें भी मङ्गलस्तुति आदि का विधान किया जाता है तथा भास की इस तरह की चुनौतियाँ

---

[1] नाट्यमपत्रिका, ४८ वी. प्रस्तुति, राधा वल्लभ त्रिपाठी सम्पादक।

[2] अभिषेक नाटक- भास- १.१

[3] 'सुग्रीवात्प्राप्तसंख्यः चरणनखमुखोत्क्षितप्तदैत्येन्द्रकायो।
विश्वासार्थञ्च संख्युः प्रविदलितमहासप्तसालः क्षणेन।।
भ्रात्रा संघट्टमानं परमललघुतरं बालिनं बान्धवार्थे।
निहनन् वाणेन सूर्यान्वयमुकुटमणिः पातु वो रामचन्द्रः।।
उद्धृत- नाटयम् पत्रिका ४८वीं प्रस्तुति (कुडियाट्टम स्तुति)

अभिनेताओं और निर्देशको को अपनी सर्जनात्मकता को अभिव्यक्त करने का पर्याप्त अवकाश देती हैं। इसीलिए अन्य नाटककारों को छोड़कर भास के नाटकों को ही कुडियाट्टम में शामिल किया गया जो संस्कृत नाटकों का ही रूप है।

इन सभी लोकनाट्यों में नाट्यशास्त्रीय पूर्वरङ्ग की झलक न्यून या अधिकाधिक भाव से दिखाई देती है किन्तु जिन लोकनाट्यों में नाट्यशास्त्रीय पूर्वरङ्ग का विधान नहीं है उनमें भी नाट्यारम्भ के पूर्व किसी न किसी प्रकार का अनुष्ठान अवश्य रहता है। जिससे पूर्वरङ्ग के ही अभिप्रायों की पूर्ति होती है क्योंकि पूर्वरङ्ग का मुख्य उद्देश्य नाट्यारम्भ की सूचना, नाट्य की पीठिका तैयार करना व देवस्तुति या मङ्गलगान करना है इसलिए यदि रामलीला, नौटकी आदि को भी देखें तो इनके आरम्भ के पूर्व आरती, मङ्गलगीत, प्रार्थना, तमाशा में गणपति शिव-पार्वती की वन्दना, नौंटकियों में स्वाँग नाच, नारियल फोड़ना, वाद्यगायन नृत्यादि के द्वारा पूर्वरङ्गीय विधानों की ही पूर्ति की जाती है।

इसप्रकार रूपकों में भले ही समयाचक्र के कारण इस परम्परा की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है किन्तु प्राचीन काल से चली आ रही परम्परा को लोकनाट्यों ने आज भी जीवित रखा है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पूर्वरङ्ग की शास्त्रीयविधि न जानने वालों के द्वारा आज भी किसी न किसी रूप में पूर्वरङ्ग का प्रयोग नाट्यारम्भ के पूर्व किया जाता है। अतः यह अकाट्य है कि लोकनाट्यों में हमारी प्राचीन परम्परायें आज भी रची बसी हैं।

अन्ततः आधुनिक संस्कृत नाट्य साहित्य व लोकनाट्य शैलियों की विस्तृत विवेचना करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक संस्कृत की सभी विधाओं के पूर्वरङ्ग का अस्तित्व प्राचीन परम्परा से भिन्न किञ्चिद् रूप में नाममात्र ही विद्यमान है किन्तु इन नाट्यों में जिन अङ्गों का अस्तित्व प्रतिबिम्बित नहीं होता उसे लोकनाट्यों ने स्वतः में समाहित कर इन अङ्गों की अपरिहार्यता का परिचय दिया है। इस प्रकार लोकनाट्यों में ही इस पूर्वरङ्ग-विधान की अटूट परम्परा का दर्शन होता है।

उपसंहार

शोध-प्रबन्ध में नाट्यशास्त्रीय पूर्वरङ्ग विधि का विस्तृत वर्णन करके, अनेक आचार्यों द्वारा इस विषय में दिये गये मन्तव्य को स्वीकार करते हुए तथा रूपकों उपरूपकों व लोकनाट्यों में पूर्वरङ्ग के अन्तर्निहित तत्त्वों का विधिवत् अध्ययन करने के पश्चात् इसकी पूर्णतया समीक्षा अति आवश्यक है। जो प्राचीन काल से वर्तमान तक की स्थितियों में आये परिवर्तन व उसके अस्तित्व का प्रमाण दे सके।

पूर्वरङ्ग का सम्बन्ध संस्कृत के नाटयों से है। सिद्धान्त तथा प्रयोग की दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है किन्तु प्राचीन समय से ही इसकी व्याख्या तथा नाट्यों में स्थान-विशेष को लेकर आचार्यों में मतभेद रहा है। वास्तव में जब रङ्ग का नाम लिया जाता है, तब उसका एक सामान्य अर्थ रङ्गमञ्च होता है तथा साथ ही यह शब्द नाट्यशाला को भी अभिव्यक्त करता है। कभी- कभी ऐसा भी प्रयोग मिलताहै जहाँ यह कहा गया है कि 'रङ्गंप्रसाद्य' अर्थात् रङ्ग को प्रसन्न करके अन्य कार्य का विशेष आयोजन करना चाहिए। ऐसी स्थिति में रङ्ग का अर्थ कथमपि नाट्यशाला अथवा रङ्गमञ्च नहीं लिया जा सकता। इससे स्पष्ट सङ्केत नाट्यशाला में स्थित सामाजिकों से है तथा जहाँ रङ्ग के साथ मञ्च का प्रयोग किया जाता है वहाँ वह स्पष्टतः रङ्गशाला अथवा नाट्यमण्डप की ओर सङ्केत करता है। इसप्रकार रङ्ग के पश्चात् 'मञ्च' शब्द जोड़ देने पर यह अपना अर्थ प्रायः स्पष्ट कर देता है परन्तु रङ्ग शब्द केपूर्व 'पूर्व' शब्द का प्रयोग कर देने पर इस शब्द के अर्थ में अस्पष्टता प्रतीत होने लगती है इस पूर्वरङ्ग के अर्थ की स्पष्ट प्रतीति के लिए यह कहा जा सकता है कि नाट्य या रूपकों की मुख्य कथावस्तु के पूर्व अर्थात् नाट्य के मञ्चन के पूर्व अभिनेता व रङ्गमञ्च कर्ता सूत्रधार को नेपथ्यविधान से लेकर रङ्गमञ्च की साज-सज्जा तक अनेकों स्तर पर पर्याप्त तैयारी करनी पड़ती है जिसमें अनेक सामग्रीयों का संकलन व थोड़ा प्रायोगिक अभ्यास आदि कुछ क्रियायें करनी पड़ती हैं क्योंकि इन क्रियाओं के सम्पादन से ही नाट्य में अभिनय

की यथार्थ प्रतीति, रोचकता व स्वाभाविकता बनी रहती है, जो दर्शको को निर्विघ्न रूप से रसास्वादन करा सकने में समर्थ होती हैं। नाट्यकला एक ऐसी कला है जिसमें सभी शास्त्रों, कलाओं व विद्याओं का उपयोग होता है तथा इसके लिए साधना की आवश्यकता के साथ, आस्तिकता की भी अति आवश्यकता होती है क्योंकि अभिनय की सफलता के लिए देवताओं से शक्ति प्राप्तकर मनोबल की प्राप्ति करना और रंगपीठ के सम्मुख समय से पूर्व आये दर्शको का मनोरञ्जन करना आवश्यक है जिससे वे व्यवस्थित होकर मुख्य नाट्यारम्भ के पूर्व के समय को बिना ऊबे काट सकें। इसलिए नाट्यारम्भ के पूर्व सम्पादित क्रियाओं को इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'पूर्वरङ्ग' की संज्ञा से विभूषित किया गया।

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि द्वारा वर्णित पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों के विधान का प्रयोजन गीत-संगीतादि का पूर्वाभ्यास व अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति हेतु देवताओं की कृपा प्राप्त करना है तथा इसी के द्वारा प्राचीन परम्परा को जीवित रखा जाता है किन्तु पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का अनुष्ठान नाट्य प्रयोग के पूर्व अनिवार्य रूप से किया जाता रहा होगा ऐसा सङ्केत किसी भी प्राचीन नाटक में कहीं भी नहीं मिलता क्योंकि नाट्यकारों की प्रवृत्ति पूर्वरङ्ग को अधिकाधिक संक्षिप्त करने की ओर प्रवृत्त थी। बहुत पहले ही एक समय ऐसा आ गया जब पूर्वरङ्ग के प्रत्याहारादि अनेक अङ्गो का विलोप हो गया और जिस रङ्गद्वार को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता था वह उस रूप में विलीन हो गया। इसप्रकार परवर्ती काल में पूर्वरङ्ग की अनेक विधियाँ लुप्त हो गई, और कुछ जो शेष रहीं उनमें नान्दी, प्रस्तावना व प्ररोचना को ही स्वीकार कर युक्तियुक्त मानते हुए, लुप्त विधियों को उपेक्षणीय, निष्फल या नाट्य के साक्षात्प्रदर्शन हेतु अनावश्यक मान लिया गया। अवशिष्ट अङ्ग नान्दी के संदर्भ में भरत ने 'नित्यम्' पद का प्रयोग किया है जिसे व्याख्यायित करते हुए अभिनवगुप्त ने यह कहा कि नान्दी अन्य अङ्गों का उपलक्षण है अर्थात् नान्दी को किसी भी प्रयोग में प्रतिदिन अनिवार्यतः करना चाहिए जबकि अन्य अङ्गों का विकल्प हो सकता है। इस स्वरूप परम्परा को

प्रायः सभी ने स्वीकार करते हुए नाट्य का विशिष्ट व अपरिहार्य अङ्ग नान्दी को ही माना है।

इसी प्रमुखता के कारण नाट्यकाव्यों के मुख का भी मुख कही जाने वाली नान्दी पूर्वरङ्ग का पर्याय बन कर नाट्यकाव्यों के आरम्भ में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही विद्यमान रहती है अर्थात् कभी यह विधिवत् प्रत्यक्ष प्रयुक्त होकर सामने आती है, कभी केवल नान्द्यन्ते इतने सङ्केत मात्र से अपनी सत्ता प्रमाणित करती है अत एव नाट्यगत प्रस्तावना व पूर्वरङ्ग का यह प्रथमप्रयोज्य गुण है। विष्कम्भक, प्रवेशक, जनान्तिक, अपवारित आदि नाट्यधर्मों से इसका कुछ स्वरूप भेद अवश्य हो सकता है परन्तु नाट्यधर्मत्व में कोई सन्देह नहीं है।

शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में नान्दी किस प्रकार नाट्यधर्म में स्वीकार की जा सकती है यह विचारणीय है। शास्त्रगत व संस्कृत नाट्यकारों द्वारा प्रयुक्त नान्दी का अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न कवियों ने इतिवृत्तात्मक व्यापार की पूर्व सूचना प्रदान करने के कारण इसे नाट्यधर्म के अन्तर्गत निःसन्देह रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि कथा, महाकाव्य आदि में भी इतिवृत्त होता है तथापि नाट्य के विभिन्न नाट्यधर्मों के कारण इन सबको दृश्य नाट्य के समक्ष स्थापित नहीं किया जासकता। नाट्य में नान्दी केप्रादुर्भाव व उसकी अन्य स्थितियों पर विचार करते हुए यह कह सकते हैं कि नाट्यवेद का अवतरण वैदिक सभ्यता व संस्कृति हेतु ही हुआ। वैदिक विचारधारा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का समन्वयात्मक रूप है जो परम कल्याण हेतु सृजित हुई। सृष्टि कर्ता ब्रह्मा ने नाट्यवेद का प्रादुर्भाव किया जिसका भरत ने प्रयोग व अभिनय कराया। भरत के प्रथम नाट्यप्रदर्शन में सर्वप्रथम नान्दी की गई और तत्पश्चात् एक अनुकृति की गईजो भाव एवं आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रस्तुत की गई थी।यह नान्दी वेद मन्त्रों से ग्रहीत आठ पदों वाली अभूतपूर्व नान्दी थी, जिसमें सभी लोगो के लिए आशीर्वचन थे। इसके अनन्तर भरत ने नाट्यप्रयोग किया इस नाट्यप्रयोग में पूर्वरङ्ग की कोई व्याख्या नहीं मिलती। तत्कालीन स्थितियों का अवलोकनकरने से यह

ज्ञात होता है कि देवताओ के विजयोत्सव के समय किसी भीषण आशंका की सम्भावना का विषय भरत के अन्तर्चेतना में नहीं आया होगा, किन्तु आसुरिक वृत्तियों के संघर्षवश बाद में नाट्यप्रारम्भ करते समयविघ्नादि का समावेश हुआ होगा जिसके कारण पूर्वरङ्ग में नान्दी का विधान किया गया, क्योंकि प्रथम नाट्य के प्रदर्शन के पश्चात् भरत ने शिव को प्रसन्न करने के लिए 'त्रिपुरदाह' डिम को प्रस्तुत किया जिसमें पूर्वरङ्ग का प्रयोग हुआ। तत्पश्चात् लगभग सभी आचार्यो ने पूर्वरङ्गो के अङ्गों में ही नान्दी का प्रयोग स्वीकार किया। इसी कारण आचार्यों ने पूर्वरङ्ग को नान्दी से पूर्व रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि नान्दी मूलतः सर्वप्रथम ध्वजोत्सव पर उपस्थित देवताओं की स्तुति हेतु प्रस्तुत की गई और विघ्न विनाश हेतु इसका प्रयोग बाद में किया गया होगा।

अत एव यह निर्धारित कर लेना कि नान्दी का पाठ विघ्न विनाश हेतु किया जाता है तत्कालीन परिस्थितियों में अनौचित्य पूर्ण सिद्ध होता है क्योंकि उस समय की स्थितियों को दृष्टिगत करते हुए यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि देवता असुरों पर विजय प्राप्त कर उल्लसित थे और शक्ति में भी उनसे अधिक थे, तो उस समय विघ्न की आशंका कैसे की जा सकती है?

किन्तु इस विषय में यह कह सकते हैं कि परवर्ती स्थितियाँ ऐसी न रहीं होंगी। इसी कारण पूर्वरङ्ग व नान्दी के कालक्रम में स्पष्ट रूप से परिवर्तन होता दिखाई देता है।

आचार्य भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नाट्य के आरम्भ में सूत्रधार को सर्वप्रथम नान्दी पाठ करना चाहिए किन्तु कुछ ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। विश्वनाथ ने नान्दी की परिभाषा की है किन्तु इसे भी पूर्वरङ्ग की अन्य विधियों के समान ही मानते हैं।[1] अतः नाटक की रचना में नान्दी का कोई स्थान

---

[1] साहित्यदर्पण- ६/२६

स्वीकार न करते हुए नाट्य के आरम्भिक श्लोक के सन्दर्भ में वे कहते हैं कि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में प्रयुक्त श्लोक में यथार्थतः शास्त्र सम्मत नान्दी प्रयुक्त नहीं हुई है अपितु रङ्गद्वार के अङ्ग की एक स्तुति है जो नान्दी के पश्चात् की जाती है यहाँ पर नान्दी है ही नहीं। अपने तर्क की पुष्टि हेतु भरतमुनि के साक्ष्य पर यह कहा कि पूर्वरङ्ग के अङ्गों में रङ्गद्वार से पहले जिस नान्दी का उल्लेख किया गया वह नटों द्वारा सम्पादित होती है। अतः एव नाटककार के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है, इसलिए कालिदास आदि की नाट्यकृतियो में जो नान्दी है उसमें पूर्वरङ्ग के अङ्गभूत नान्दी का लक्षण घटित नहीं होता क्योंकि नान्दी नाटककार रचित व नाटक से सम्बन्धित है। नाटक की पूर्वरङ्गविधि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी नान्दी के संदर्भ में भरत ने कवि को अपने नाट्य का आरम्भ रङ्गद्वार से करने का निर्देश दिया है। अतः एव रंगद्वार से पूर्व नान्दी नटों की रचना व रंगद्वार रूप नान्दी नाटककार की रचना है।

इस प्रकार इस स्तुति को नान्दी न कहकर रंगद्वार कहने का कारण यह है कि नान्दी नटों के स्वरूपरचना किये बिना मङ्गल पाठ को कहा जाता है और रंगद्वार में नाटक के विषय का सूक्ष्म सङ्केत मिल जाता है जैसे मुद्राराक्षस की नान्दी में छल की, भवभूति के मालतीमाधव की नान्दी में शृंगाररस की सूचना इस प्रकार रंगद्वार तो नान्दीपाठ के अनन्तर विहित क्रिया है। अतः एव यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नाटककारों ने इससे पूर्व रङ्गमंच के पीछे से नान्दी पाठ को भी सम्पादित कराया होगा या समयाचक्र में रङ्गद्वार ही नान्दी के रूप में प्रतिष्ठित हो गया हो।

संस्कृत-साहित्य में नान्दी का प्रस्तुतीकरण भी परिवर्तित रूप में दो प्रकार से दिखाई देता है जिनमें अधिकांश रूपकों में अर्थात् कालिदास आदि के नाटक की प्राचीन प्रतिलिपियों में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य है कि नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश। इस रूप में नान्दी की व्याख्या की जा सकती है, इस 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' के पश्चात् नाटककार रचित नान्दी (रंगद्वार) का उल्लेख किया गया

किन्तु कालान्तर में नाटकों की प्रतिलिपियों में नाटककार रचित नान्दी रूप मङ्गल सूचक व देवस्तुतिपरक पद्यों के बाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का निर्देश है, इसका आशय यह है कि पूर्वरङ्ग के नान्दी के पश्चात् नाटककार रचित नान्दी गायक सूत्रधार का कार्य है जिसके पश्चात् नाटक का आरम्भ होता है। नान्दी के प्रस्तुतीकरण के द्वितीय रूप में भासके नाटकों को दृष्टिगत किया जा सकता है क्योंकि भास ने अपने नाटको में 'नान्द्यन्ते ततःप्रविशति सूत्रधारः' का निर्देश दिया है तथा परवर्ती नाटककार भी नान्द्यन्ते शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका सीधा तात्पर्य है कि नान्दी के पश्चात् रंगद्वार का आरम्भ हो जाता है और तब सूत्रधार प्रवेश कर नाट्य या निर्देशन प्रारम्भ करता है। कुछ आचार्यों ने भरत कालीन अनेक पात्रों का उल्लेख करते हुए एक अभिनेता को नन्दी या नान्दी की संज्ञा दी और नान्दी का तात्पर्य नान्दी नामक अभिनेता के द्वारा गेय पद्य से जोड़ने का प्रयत्न किया है। फलतः यह कहा जा सकता है कि नाट्य के प्रारम्भ में नान्दी क्रिया अन्य पात्र के द्वारा गाई जाती रही होगी और उसके पश्चात् सूत्रधार मञ्च पर प्रवेश करता रहा होगा, या यह भी सम्भव है कि सूत्रधार जवनिका के पृष्ठभाग में नान्दी गाकर रङ्गमञ्च पर उपस्थित होता हो। इस संदर्भ में भरत का मत कुछ भिन्न है जो इन सब की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, इसके अनुसार क्योंकि नान्दी पाठ करने वाले अभिनेतागण रङ्गभूमि में प्रयोग का उत्थापन करते हैं इसलिए रङ्गभूमि में पहले उत्थापन माना गया है।[1]

यहाँ नान्दी पाठ से सम्बन्धित अभिनेतागण एक विशिष्ट अर्थ रखता है क्योंकि यह बहुवचन में है तब कैसे सम्भव है कि नान्दी केवल सूत्रधार द्वारा गाई जाती होगी? साथ ही पूर्वरङ्ग में गीत, वाद्य नृत्य, नृत्त का प्रयोग होता है जो अकेले सूत्रधार द्वारा सम्पादित होना असम्भव प्रतीत होता है इसमें कई सम्भावनाओं परविचार किया जा सकता है। जिसमें प्रथम यह है कि सूत्रधार रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर अन्य अभिनेतागणों के साथ नान्दीपाठ करते होंगे, किन्तु सूत्रधार के साथ अन्य अभिनेतागण

---

[1] नाट्यशास्त्र भरतमुनि ५/२२

की उपस्थिति की व्याख्या भरत द्वारा नहीं की गई है। भरत ने तो नान्दी सूत्रधार द्वारा ही करणीय माना है। अत एव यह भी सम्भव है कि सूत्रधार मञ्च पर अकेले ही प्रवेश करता होगा और अन्य अभिनेता जवनिका के पृष्ठभाग से उसे नान्दीपाठ में साथ देते रहे होंगे। नान्दीपाठ के पश्चात् सूत्रधार के पार्श्वभाग में अभिनेतागण, नटी, पारिपाश्विक ऐसा ही हो आर्य कहते हैं जो यह सिद्ध करता है कि सूत्रधार मञ्च पर अकेले ही नान्दी करता है और अन्य पात्र उसके गायन में सहयोग देते हैं। इस प्रकार भरत ने जिस नान्दी को सूत्रधार द्वारा करणीय माना उस तथ्य की पुष्टि आधुनिक नाट्यों से नहीं होती।

इस प्राचीन परम्परा का निर्वाह तत्कालीन परवर्ती नाटककारों ने भी किया, वे सूत्रधारके प्रवेश की सूचना के विषय में निर्देश देते रहे हैं। फलतः हम यह कह सकते हैं कि जहाँ नाट्य में 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' शब्द प्रयुक्त हो वहाँ इसका तात्पर्य है कि सूत्रधार ही नान्दी करता है और जहाँ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः का निर्देशन हो वहाँ कोई अन्य पात्र जवनिका के पीछे से नान्दी पाठ करता होगा या कहीं-कहीं सूत्रधार ही नान्दी पाठकर मञ्च पर प्रवेश करता होगा, किन्तु प्रत्येक रूपक में प्रथम माङ्गलिक श्लोक अवश्य पढ़ा जाता है।

इस प्रकार संस्कृत नाट्यों में प्रयुक्त नान्दी पाठ एवं उसके कर्ता के सम्बन्ध में विश्लेषण प्रस्तुत कर उसे भरत के दृष्टिकोण के आधार पर विश्लेषित करें तो आदि नाट्यरचनाकार भास के नाटकों में प्रायः नान्दी का शब्दतः उल्लेख नहीं किया गया तथापि 'नान्द्यन्ते ततः' कहने के पश्चात् सूत्रधार मञ्च परप्रवेश करते समय सर्वप्रथम देवानुशंसा पाठ करता है और अपने इष्टादि की स्तुति करते हुए पात्रों की भी सूचना मुद्रालंकार की सहायता से दे देता है।

इसके विपरीत कालिदास ने समस्त नाटकों में अपने इष्ट शिव की स्तुति की है। कालिदास ने नाटकीय प्रयोग हेतु शास्त्रीय नियमों का पूर्णतया पालन किया है तथा नान्दी प्रयोग द्वारा नाटकीय कथावस्तु की व्यञ्जना भी नाट्यकार का एक चमत्कारी

प्रयोग रहा है। इस नान्दी श्लोक में अष्टमूर्तियों के व्याख्यान के साथ सम्पूर्ण नाटक के प्रमुख पात्रों व उनके प्रमुख वृत्तों की व्यञ्जना कराने वाले अर्थों का स्फोरण भी अनेक टीकाकारों द्वारा किया गया है। भट्टनारायण के वेणीसंहार में भी नान्दी के द्वारा इतिवृत्त की सूचना दी गई है। इन सभी रचनाकारों की नान्दी सम्बन्धी मान्यता भरत से भिन्न है क्योंकि भरत ने नान्दी को मुख्यतः मङ्गलविधायिनी विधि माना है जबकि उत्तरवर्ती रचनाकारों ने काव्यार्थ सूचना का दायित्व भी इसी पर डाल दिया। आचार्य भरत ने काव्यार्थ सूचना के लिए त्रिगत व प्ररोचना नामक पूर्वरङ्ग के अङ्गों का विधान किया है। रचनाकारों की इन मान्यताओ का कारण है जटिल विधियाँ। इन विधियों को शिथिल बनाने के लिए ही पूर्वरङ्ग के कुछ अङ्गों का प्रयोग शेष बचा तथा दूसरे अङ्गों का कार्य अन्य अङ्गों में समाहित कर दिया गया तथा कुछ अङ्गों का परित्याग कर दिया गया।

इसप्रकार समस्त नाट्यकारों ने अपने इष्ट की स्तुति की, क्योंकि नाट्यशास्त्र में ऐसा कोई निर्देश नहीं है कि किसी देव विशेष की ही प्रार्थना की जाय। अत एव रचनाकारों ने देवप्रार्थना में देवचयन स्वेच्छापूर्ण स्वतन्त्र रूप से किया। इसप्रकार नान्दी जहाँ एक ओर कवियों द्वारा गाई गई इष्ट स्तुति है वहीं वह अनेकशः नाट्य के एक गुरुतर विधान का सम्पादन भी करती है। इसलिए नान्दी अपने आप में विशिष्ट नाट्यधर्म है।

पूर्वरङ्ग के अपरिहार्य अङ्ग नान्दी के विषय में अनेकानेक प्रश्न उलझे हुए प्रतीत होते हैं। जब हम भरत को दृष्टिगत रखते हुए सोचते हैं तो उनकी व्याख्या कुछ अलग अर्थ रखते हुए दृष्टिगोचर होती है, किन्तु अभिजात संस्कृत नाटको व आधुनिक संस्कृत नाटकों के सर्जनकारों द्वारा नान्दी का प्रायोगिक पक्ष भिन्न-भिन्न है। अधिकतर नाट्यों में नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश होता है जबकि भरत सूत्रधार से ही नान्दी पाठ कराने की अपेक्षा रखते हैं। इसके विपरीत भास के समस्त नाटकों में, कालिदास के विक्रमोर्वशीय, हर्ष के नागानन्द, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस आदि नाटकों में नान्दी के अन्त में 'नान्द्यन्ते' शब्द का प्रयोग करके सूत्रधार का प्रवेश स्पष्ट रूप से

मिलता है। जो रस का आश्रय हो वह नाट्य है'"रसाश्रयं नाट्यम्'। नृत्त, नृत्य, गीत, वाद्य आदि नाट्य के उपकारक हैं। इस नृत्य गीत वाद्य आदि का नाट्य के अन्य स्थलों पर भी प्रयोग देखा जाता है परन्तु उसका प्रयोग एकाकी होता है। अत एव ऐसे प्रयोग को नान्दी नहीं कहा जा सकता। नान्दी का आदि में होना आवश्यक है और उसी को पूर्वरङ्ग भी कहना उचित है क्योंकि वह पूर्व प्रयोग है और वाद्य गीत आदि से प्रारम्भ किया जाता है। आधुनिक नान्दी प्रयोगों के आधार पर ज्ञात होता है कि उसमें सूत्रधार का अभाव है। वस्तुतः नान्दी का प्रयोग हो जाने पर सूत्रधार आता है और वह प्रस्तावना अथवा आमुख की प्रस्थापत्ति करता है। वस्तुतः इसमें नान्दी के समान यदि कहीं गीत अथवा किसी की प्रशंसा है तो उसे प्ररोचना मानना ही युक्त है पूर्वरङ्ग नहीं। नाट्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि नान्दी में बहुत सी बातें नहीं कही जा सकती तथा उसकी शेष बातें प्ररोचना में कह दी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भिक एवं आधुनिक सभी नाटककारों ने अपने इष्ट की उपासना हेतु ही नान्दी की रचना की जो उनकी विशुद्ध धार्मिक एवं व्यक्तिगत चेतना का परिणाम होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि का समादर करती है। इस तर्क के समर्थन में हम अभिनवगुप्त के मत का भी समर्थन कर सकते हैं क्योंकि अभिनव ने नान्दी की अनेकरूपता स्वीकार की है। विश्वनाथ नान्दी को पूर्वरङ्ग का एक अङ्ग मानते हैं। जैसा भी हो नान्दी ने कालक्रम की बदलती परिस्थितिवश अपनी अवस्था में परिवर्तन आत्मसात् कर लिया और वह सुमनस सामाजिकों के मङ्गल कामना हेतु ही प्ररोचना की भांति संस्कृत नाटकों में आबद्ध की जाने लगी। नान्दी का परम उद्देश्य, देव, द्विज, आदि इष्ट जनों का आशीर्वाद प्राप्त करना ही है। जो परम शुभ व कल्याण जैसी आदर्शवादी विचारधारा से ओत-प्रोत है।

साथ ही सहृदय सामाजिकों को दर्शयिष्यमाण नाटक के वृत्तों का सङ्केत व सामाजिकों के प्रति शुभासंसा नान्दी का ही गुण है। परोक्ष रुप में नान्दी गायन द्वारा

---

१ दशरूपक- साहित्यभण्डार मेरठ, पृष्ठ- २११ पाद टिप्पणी (१)

सहृदय की चित्तवृत्ति का नाटक की ओर अभिमुखीकरण, नाटक दर्शन हेतु चित्त का सरलीकरण व एकाग्रीकरण तो है ही।

अत एव नान्दी की नाट्यधर्मता का आकलन करने पर तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक अपरिहार्य अङ्ग है और इसका स्पष्ट प्रमाण तो सभी नाटकों में प्रतिबिम्बित होता है क्योंकि सभी रूपककारों ने नान्दी के प्रायोगिक पक्ष को भले ही भिन्न-भिन्न रूप में रखा है किन्तु इसका अस्तित्व प्राचीनकाल से आज तक की कृतियों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है जो इसके चिर स्थायित्व रूप को व्यक्त करता है।

इसप्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नान्दी को ही पूर्वरङ्ग माना जाय तथा आधुनिक संस्कृत-नाट्यों के अनुसार नान्दी (पूर्वरङ्ग) में सूत्रधार का अभाव मानना चाहिए। यह पूर्वरङ्ग एक मण्डली या किसी पात्र द्वारा सम्पादित माना जाय जो नृत्त, नृत्य, गीत, वाद्य में निपुण, सूत्रधार हो सकता है परन्तु इसे सामाजिको के सामने नहीं आना चाहिए। इसी में 'नान्द्यन्ते' की सार्थकता है। भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थ के आदि में नान्दी का प्रयोग होना चाहिए। ऐसा ज्ञात होता है कि नाट्यकारों ने अन्य साहित्यिक-विधाओं से अन्तर रखने के लिए नाट्य में नान्दी को पूर्वरङ्ग माना है। जहाँ नाट्यशास्त्र में प्ररोचना को पूर्वरङ्ग का अङ्ग कहा गया है वही नाटकलक्षणरत्नकोश में इसे एक सुव्यवस्थित विचार माना गया है कि प्ररोचना पूर्वरङ्ग का अङ्ग है।

पूर्वरङ्ग के बहिर्जवनिकासंस्थ अङ्गों में नान्दी के पश्चात् उल्लिखित प्रायः किसी भी अङ्ग का रूपकों में प्रयोग नहीं दिखाई देता किन्तु जहाँ तक प्ररोचना का विषय है वह भी सभी नाटकों में प्रयोग के लिए दिखाई नहीं देती। इस संदर्भ में भास के नाटकों का उल्लेख करते हुए पाश्चात्य विद्वान कीथ का मत है कि 'यह अनुमान किया जा सकता है कि प्ररोचना की वस्तु को पूर्वरङ्ग से हटाकर कवि निर्मित प्रस्तावना मे निबद्ध करने की परिपाटी भास के बाद से ही चली। यह वर्तमान समय में भी सत्य प्रतीत होती है। पूर्वरङ्ग की समाप्ति होने के बाद आमुख का मंचन किया जाता है जिसे प्रस्तावना भी कहते हैं। यह प्रस्तावना प्राचीनकाल से वर्तमानयुग तक नाट्य का अभिन्न

एवं अत्याज्य अङ्ग है क्योंकि प्रायः सभी नाटकों में इसका प्रतिपादन किया गया है किन्तु प्रस्तावना के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है कि इसका प्रारम्भ सूत्रधार करे या उसके समकक्ष कोई अन्य व्यक्ति करे। इसके लिए आचार्यों में मतभेद है, किन्तु आचार्य भरत ने भारतीवृत्ति के विवेचन प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया है कि स्थापक सूत्रधार से भिन्न नहीं होता है अर्थात् वे दोनो एक ही व्यक्ति है अभिनव ने भी 'सूत्रधार एव स्थापक' कहा है। इसी विचार को स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा कि एक ही सूत्रधार नान्दी का प्रयोग करने के पश्चात् स्थापक का रूप ग्रहण कर लेता है जो सूत्रधार के तुल्य गुण आकृति होने से स्थापक कहा जाता है क्योंकि वह प्रस्तावना या स्थापना का कार्य भी करता है किन्तु दशरूपककार ने इस मन्तव्य को न स्वीकारते हुए सूत्रधार से भिन्न स्थापक को प्रस्तावना का प्रयोक्ता बताया, परन्तु इस मत पर अधिक समय तक स्थित न रहे, और बाद मे उसे सूत्रधार कह दिया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि विश्वनाथ के समय में नाट्यशास्त्र द्वारा कहा गया सूत्रधार, स्थापक के लिए निर्धारित विधियों का प्रयोग भी करता था, परन्तु यह कहना कठिन है कि इसका आरम्भ कब से हुआ। इस विषय में यह कह सकते हैं कि अति प्राचीन काल से धार्मिक अनुष्ठान के सम्पन्न करने पर सूत्रधार का प्रयोजन पूर्ण हो जाता था तथा प्रदर्शन की पूर्वपीठिका बन जाती थी। बाद में होने वाले नाट्य प्रदर्शन का कार्य अन्य सहायक व्यक्ति देखते थे, जिनमें एक स्थापक भी होता था परन्तु यह व्यवस्था आगे नहीं चली तब सूत्रधार या स्थापक में से किसी एक के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होने लगा।

अनुमान किया जा सकता है कि नान्दी पाठ व प्ररोचना हेतु रङ्गमञ्च पर सूत्रधार आता होगा एवं नाट्य के आरम्भिक भाग आमुख को वह स्वयं ही प्रस्तुत करता होगा। इसका आधार यह है कि विश्वनाथ के समय में पूर्वरङ्ग की विधियों का प्रयोग नहीं होता था इसलिए सूत्रधार ही दोनों कार्य सम्पादित करता था तथा यह भी निर्देश है कि पूर्वरङ्ग को चाहे जितना संक्षिप्त कर दिया जाय किन्तु उसको बनाये रखना अति आवश्यक है, प्रस्तावना भी पहले बहुत संक्षिप्त थी उसमें बहुत की बातें निर्दिष्ट नहीं

की जाती थी। इस संदर्भ में भास के नाटकों का विश्लेषण करें तो प्रतीत होता है कि इन्होंने अपने नाटकों में प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु स्थापक के स्थान पर सूत्रधार के द्वारा ही नाट्यारम्भ करवाया है ऐसा आशय बाणभट्ट के कथन से भी स्पष्ट होता है। पिशेल का अनुमान है कि स्थापक का वहिष्कार भास ने ही किया अतः ऐसा सम्भव है कि भास के समय तक कवि और नाटक वृत्त के उल्लेख भी पूर्वरङ्ग की क्रिया के साथ ही सम्पन्न हो जाते रहें हों और कालान्तर में नान्दी और प्रस्तावना को भी आवश्यक मानकर नाटक में सम्मिलित कर लिया गया हो। वस्तुतः भास के समय से ही पूर्वरङ्ग के विषय मे स्वतन्त्र प्रवृत्ति पनपने लगी थी और बाद में इस प्रक्रिया को अधिकाधिक रचनाकार छोड़ते चले गये।

प्रस्तावना की यह विशेषता है कि इसमें नाटककार की ख्याति वंशावली आदि की ओर संक्षेप में सङ्केत तथा विषय का प्रतिपादन व आने वाले पात्र का नाम लिया जाता है किन्तु भास ने केवल नाटक के नाम की ओर सङ्केत किया। प्रस्तावना के प्रस्तुतकर्ता के विषय में इतना मतभेद है कि इस विषय में कुछ भी ठीक प्रकार से कहा नहीं जा सकता क्योंकि प्रायः उपलब्ध सभी नाटकों में सूत्रधार का ही उल्लेख मिलता है किन्तु इस विषय में कुछ अपवाद को छोड़कर जैसे- कर्पूरमञ्जरी, व माधवकृत-सुभद्राहरण, पार्थपराक्रम वत्सराज के किरातर्जुनीयम् 'समुद्रमंथन' व *'रूक्मिणीहरण'* के प्रसङ्ग में स्थापक दृष्टिगोचर होता है तथा इस संदर्भ में नागानन्द पर शिवराम की टीका से भी यह विदित होता है उस समय पूर्वरङ्ग सूत्रधार व स्थापक के स्वरूप के विषय में अनिश्चितता थी। सामान्य रूप से भास के पश्चात् किसी ने भी स्थापक का उल्लेख नहीं किया। यहाँ एक प्रश्न और भी उठता है कि अधिकांशतः नाटकों में नान्दी के बाद ये शब्द लिखे रहते हैं वहाँ सूत्रधार से स्थापक का आशय होता है, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि हम यह नहीं कह सकते है कि भास के नाटकों का आरम्भ सूत्रधार करता है व अन्य नाटकों का प्रारम्भ स्थापक करता है यह बात प्रमाणप्रतिपत्र भी नहीं है। कालिदास के तीनों नाटकों में सूत्रधार ही स्थापक के रूप में कार्य करते हुए 'भारतीवृत्ति' के द्वारा संस्कृत भाषा का प्रयोग करते दिखाई देता है

क्योंकि प्रायः रूपकों में सूत्रधार के पश्चात् स्थापक का प्रयोग प्रस्तावना के अनन्तर नहीं देखा जाता है जिससे यह कहा जा सके कि सूत्रधार के चले जाने पर स्थापक आता है और वह काव्य की स्थापना करता है। यदि थोड़ी देर के लिए स्थापक का अस्तित्व सूत्रधार से भिन्न मान भी लिया जाय तो उसे एक ऐसे पात्र को मानना होगा, जो सूत्रधार के साथ ही रहता है परन्तु उसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय सूत्रधार द्वारा प्रतिपादित विषय से भिन्न नहीं होगा। अत एव साहित्यदर्पण[1] के कथनानुसार नाट्य में सर्वप्रथम प्रस्तावना होती है जिसका मुख्य पात्र सूत्रधार होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल, रत्नावली आदि से यह सुस्पष्ट हो जाता है।

इस प्रस्तावना के विषय में कुछ लोगों का विचार है कि आमुख में ही नान्दी होती है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि किन्हीं रूपकों में नान्दी है तो प्रस्तावना नहीं और जब प्रस्तावना है तो नान्दी नहीं है। वस्तुतः इन दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। प्रस्तावना में (कथानक) वृत्त का बीज निहित होता है और नान्दी में स्तुति होती है। इसके विपरीत कभी-कभी नान्दी में ही रूपक का बीज दृष्टिगोचर होता है। इस तथ्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आमुख एवं नान्दी दोनों एक है परन्तु प्रस्तावना में सदैव नान्दी हो यह अनिवार्य रूप से नहीं देखा जाता। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि प्रस्तावना में बीज की स्थापत्ति करते समय इतिवृत्त के प्रधान नेता के गुण का सूक्ष्म वर्णन कर दिया जाता है परन्तु यहाँ नान्दी का पूर्ण लक्षण नहीं घटाया जा सकता। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि नान्दी व प्रस्तावना दोनों भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि पूर्वरङ्ग स्वतन्त्र होता है जबकि प्रस्तावना का कथानक की वस्तु से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अत एव इन दोनों अङ्गों को एक साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। पूर्वरङ्ग के समाप्त होने पर भारती वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। इससे नितान्त स्पष्ट है कि प्ररोचना व आमुख पूर्वरङ्ग से सर्वथा भिन्न हैं। अत एव पूर्वरङ्ग का क्षेत्र आमुख तक

---

१ साहित्यदर्पण- विश्वनाथ ६/३१-३२

नहीं है आमुख तो भारती वृत्ति का अङ्ग है। भारती वृत्ति प्रायः पुरुष पात्रों द्वारा प्रयुक्त होती है तथा संवादात्मक होती है। तदनुसार आमुख का भी यही स्वरूप हुआ।

प्रस्तावना के प्रसङ्ग में विवेचित इस व्याख्या से यह आशय निकाला जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी नाटकों में नान्दी के प्रयोग के बाद सूत्रधार मञ्च से चला जाता है और पुनः वही सूत्रधार आमुख की प्रस्तुति के लिए स्थापक की वेश-भूषा व तुल्य होकर नटी, पारिपाश्विक आदि के साथ प्रस्तुत होकर नटी आदि के साथ संवाद करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से नाटक के विषय में सङ्केत करता है किन्तु भास व उनके परवर्ती नाट्य समीक्षक व नाट्यकारों ने भी स्थापक एवं पूर्वरङ्ग सम्बन्धी निर्देशों का यथोचित पालन नहीं किया है। आमुख में भी कभी-कभी स्त्री पात्रों का भी प्रयोग होता है, वह स्त्री पात्र प्राकृत बोलती है, परन्तु पूर्वरङ्ग में केवल संस्कृत का प्रयोग होता है और वह संवादात्मक भी नहीं होता है। वस्तुतः यह स्तुतिपरक पूजापरक, प्रशंसापरक आदि होता है। अत¯एव इन दोनों (पूर्वरङ्ग एवं आमुख) का समन्वय नहीं हो सकता।

पूर्वरङ्ग के पश्चात् जिस भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है उसके चार प्रमुख अङ्ग होते हैं- प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख। इन चारों का पूर्वरङ्ग के साथ कोई समन्वय नहीं है इसलिए ये सभी पूर्वरङ्ग से भिन्न ही हैं। इन तत्त्वों के अतिरिक्त इस नाट्य सिद्धान्त के आधार पर भी पूर्वरङ्ग का क्षेत्र व स्थान निश्चित किया जा सकता है कि पूर्वरङ्ग दृश्य तो है परन्तु वस्तु से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है तथा कभी-कभी उसमें वस्तु की सूचना अप्रत्यक्ष रूप से दे दी जाती है। इसप्रकार आमुख, नान्दी, प्ररोचना, वीथी, प्रहसन सभी से पूर्वरङ्ग की एक पृथक सत्ता है तथा पूर्वरङ्ग रूपक का प्रथम दृश्य है और ये सभी तो सामान्य रूप से पूर्वरङ्ग के अङ्गों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। अत¯एव प्राचीनकाल से चली आ रही प्रस्तावना की प्रक्रिया भले ही आज अपने प्राचीन स्वरूप से कुछ भिन्न हो गई हो किन्तु अपनी स्थिति को दृढ़ करते हुए प्रयोग हेतु तत्पर है, तथा सभी रूपककार भास, भवभूति, कालिदास, विशाखदत्त,

भट्टनारायण एवं उपरूपककारों व लोकनाट्यों ने इसे पर्याप्त स्थान प्रदान किया। जिस कारण वर्तमान समय में यह नाट्यशास्त्र एवं पूर्वरङ्ग के अनिवार्य प्रयोज्य अङ्गों में परिलक्षित होती है। वस्तुतः नान्दी और प्रस्तावना रूढ़ि पालन हेतु नाटकों के अनिवार्य अङ्ग इस प्रकार बन गये हैं कि अधिकांशतः नाटकों में प्रस्तावना के संवाद, क्रम व प्रसङ्ग एक ही समान हैं। संस्कृत नाटकों के विषय मे उपलब्ध सामग्री इतनी अल्प है कि उसके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि नान्दी व प्रस्तावना के विषय में किस प्रकार की पद्धति प्रचलित थी।

संस्कृत नाटकों की जिस प्रकार रङ्गमञ्च पर किसी उत्सव में अभिनय की प्रस्तुति अनिवार्य रही है उसीप्रकार से गीतों की योजना की थी पुष्ट परम्परा रही है। पूर्वरङ्ग का प्रारम्भ गीत व नृत्य के साथ ही होता है क्योंकि वाद्य-वादन भी गीतों के साथ सन्तुलन करके रस परिपाक में सहायता देते हैं और गीतों का प्रयोग रसप्रकाशन हेतु होता है किन्तु अतिशय गीत नाट्यप्रयोग में रागजनक न होकर खेदजनक हो जाता है। इसीलिए भरत ने गीत-वाद्य को 'नाट्य की शय्या' कहा है। गीतों के संदर्भ मे संस्कृत नाटकों पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि इनमें भी गीतो का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। कालिदास के तीनों नाटकों में गीत का विधान है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रारम्भ में नटी ग्रीष्म ऋतु का गीत गाती है तथा हंसपादिका के भी गायन का सङ्केत है। इसीप्रकार मालविकाग्निमित्रम् में मालविका छलिका का प्रयोग गीत के माध्यम से करती है। हर्ष की रत्नावली[1] नाटिका में द्विपदिका का गायन दो स्त्रियों द्वारा होता है यह गीत नाटिका के मध्य में होता है। मध्ययुगीन 'परिजातहरण' में उमापति ने अनेक माधुर्य पूर्ण गीतों की योजना की तथा राजशेखर ने अनेक ध्रुवाओं का प्रयोग किया मेघदूत विक्रमोर्वशीय में भी गीतों की योजना है। इसीप्रकार लोकनाट्यों व यूनानी नाटकों में भी गीत-संगीत की प्रधानता व सहगान का विशेष प्रचलन दिखाई देता है।

---

१ रत्नावली नाटिका- श्री हर्ष- १/१३-१५

अत¯एव नाटक को रसान्वित बनाने एवं दर्शकों में रससञ्चार के लिए प्रायः नाटकों में गीत-संगीत आदि की योजना सम्यक् दृष्टि से नाट्यकारों ने की है। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन व नवीन सभी प्रकार के रूपकों में पूर्वरङ्ग की आरम्भिक अवस्था रूप गीत-संगीत की योजना पर्याप्त रूप से दिखाई देती है जो इसकी उपादेयता को भी प्रदर्शित करती है।

नाट्यशास्त्रकार प्रतिपादित पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों के सम्पादन की प्रक्रिया में सूत्रधार एक प्रमुख पात्र के रूप में जाना जाता है। नाट्यशास्त्र में सूत्रधार के लिए अनेक कार्यों को सम्पादित करने का निर्देश है जिसमें एक विशेष कार्य यह है कि कर्मकाण्डीय विधि-विधान में विघ्न उपस्थिति करने वालो के लिए सूत्रधार इस जर्जर को लेकर उपस्थित हो, किन्तु पूर्वरङ्गीय बहिर्जवनिकासंस्थ इन क्रियाओं का भी सम्पादन संस्कृत नाटकों में दिखाई नहीं देता अर्थात् नाट्यकारों ने कहीं भी जर्जर का प्रयोग उल्लिखित नहीं किया। साथ ही यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्जवनिका संस्थ पूर्वरङ्गीय अङ्गों के साथ बहिर्जवनिकासंस्थ चारी, महाचारी, त्रिगत, प्ररोचना आदि किसी भी अङ्ग का सम्यक् प्रयोग संस्कृत नाटकों में दिखाई नहीं देता किन्तु दर्शकों के लिए दृश्य, नान्दी व प्रस्तावना को अवश्य ही जीवित रखा गया है। अत¯एव प्राचीन समय में जिस परिणाम में पूर्वरङ्ग का प्रयोग होता था उसमें समय-समय पर अन्तर आता गया और एकाध अंश ही प्रयुक्त होकर पूर्वरङ्ग के नाम को सजोये हुए उनके अस्तित्व का स्मरण कराते हैं- जिनमें नान्दी व प्रस्तावना ही मुख्य हैं, किन्तु इनकी प्रस्तुति के विषय में पर्याप्त मतभेद होने के कारण ये भी क्षीण होते प्रतीत हो रहे हैं। जो प्राचीन समय में 'यज्ञविधान' की उपमा से विभूषित थे।

संस्कृत नाट्यशैली का हिन्दी नाटकों की शैली पर प्रभाव देखने के लिए हम नाट्यशास्त्र में विहित पूर्वरङ्गीय व्यवस्था का यदि हिन्दी नाटकों के संदर्भ में अवलोकन करें तो यह प्रतीत होता है कि यह परम्परा एक ओर तो संस्कृत साहित्य के रूपकों में अवसान की ओर उन्मुख है वहीं दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के रचनाकारों ने अपनी

रचनाओं में इन अङ्गों को समाहित करते हुए नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। प्राचीन काल से ही मातृभाषा संस्कृत का हिन्दी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है तथा हिन्दी नाटकों ने सदैव संस्कृत से कुछ न कुछ अवश्य सीखा है जिसके कारण उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया।

पूर्वरङ्ग की विधियों में नान्दी एवं प्रस्तावना की ही प्रधानता सदैव से रही है जिसमें संस्कृत के भासोत्तर प्रायः सभी नाटकों में नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना का प्रयोग हुआ तथा हिन्दी नाटकों में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' एवं 'जयशंकर प्रसाद' आदि के आरम्भिक नाटकों में भी नान्दी व प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है। 'कल्याणी परिणय' नामक एकांकी में नान्दी पाठ का स्पष्ट विधान है यही नाटक आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का आधार बना किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य में मङ्गलाचरण की परम्परा लुप्त प्राय प्रतीत होती है। इसप्रकार यह परम्परा संस्कृत साहित्य की भांति बाध्यता और बन्धन के रूप में दिखाई न देकर स्वच्छन्दता एवं स्वतन्त्रता के रूप में दिखाई देती है।

संस्कृत साहित्य में १८०० से १८७० तक जहाँ कथावृत्तों के आधार पर नाटकों की रचनायें हुई वहीं १८७० से १९५० तक राष्ट्रियता की भावना से ओत-प्रोत नाटकों का प्रणयन हुआ किन्तु १९ वीं २० वीं शताब्दी में संस्कृत नाटकों का शिल्प विधान हिन्दी नाटकों जैसा हो गया। संस्कृत के नाटकों ने हिन्दी नाट्य परम्परा का अनुसरण किया। अत एव भास के नाटकों से प्रारम्भ संस्कृत साहित्य का तिरोभाव हिन्दी नाट्य साहित्य ने अपने एक आलोक में कर दिया। पूर्वरङ्ग विधि तो प्राचीन काल से भारतीय नाटकों के लिए उपयोगी रही ही है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में में यूरोपीय नाट्यकला से प्रभावित हिन्दी के नाटक भी इससे प्रेरणा ग्रहण करते हुए भारतीय संस्कृत नाटकों की शैली को अपना कर प्रतिष्ठित हो गये।

इसप्रकार संस्कृत नाट्य शैली की पाश्चात्य नाट्य शैली से तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार हमारे यहाँ भारतीय नाटकों में नाट्यारम्भ के पूर्व पूर्वरङ्ग, प्रस्तावना व भरतवाक्य का विधान है उसी प्रकार ग्रीक, रोमन, अंग्रेजी एवं यूनानी

नाटकों में भी 'पूर्वकथन' (प्रोलोग), भरतवाक्य (एपीलोग) का विधान रहा है, अर्थात् नाट्यारम्भ में कवि व नाटक वस्तु की परिचय रूप स्थापना व प्रस्तावना होती है। वस्तुत उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रोलोग व एपीलोग पश्चिमी रङ्गमञ्च में प्रचलित थे।

'प्रोलोग' में भारतीय नाटकों की नान्दी व मङ्गलाचरण के समान ही व्यवस्था होती थी क्योंकि यूनानी नाटक का भी प्रारम्भ एक धार्मिक क्रिया से होता था। जिसमें 'डोयोनिसस' देवता के अर्चना, स्वरूप नृत्य व सहगायन 'कोरस' में होता था। नाटककार का उद्देश्य होता है कि प्रेक्षकों को सारी सूचनाये दें जिसे नाटक को ठीक से समझा जा सके, यूनानी नाट्यकार भी सुपरिचित कथाओं को प्रारम्भ में रख देते थे, अथवा 'प्रोलोग' में सारी कथा का सारांश दे देते थे।

यहाँ यूनानी व भारतीय नाटकों में यह अन्तर है कि यूनानी नाटको में (कोरस में) सब पात्र भाग लेते हैं और नीजि सम्बन्ध स्थापित करना उनका उद्देश्य होता है किन्तु भारतीय नाटकों की नान्दी में सब पात्र भाग नहीं लेते केवल सूत्रधार या अन्य कोई पात्र ही नान्दी में भाग ले सकता है।

अत एव नान्दी के पश्चात् जिस प्रकार हमारे यहाँ प्रस्तावना का क्रम है उसी प्रकार नृत्य व सामूहिक गीतों के पश्चात् पाश्चात्य नाटकों में भी 'यूरोपीडोस' और 'प्लाउट्स' के नाटकों में ऐसी प्रस्तावना देखने को मिलती है जो भारतीय प्रस्तावना के समकक्ष होते हुए उसी की विशेषता प्रतिपादित करती है। प्रस्तावना बातचीत के रूप में होती है तथा वास्तविक घटनायेंइतनी सम्बद्ध होती है कि दर्शक स्वाभाविक रूप से यह अनुभव नहीं कर पाता कि ये सूचनायें जानबूझ कर दी जा रही हैं किन्तु नाट्यशाला के विषय में भारतीय व यूनानी की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि भारतीय नाट्यशाला स्थाई नहीं होती थी। इस प्रकार पाश्चात्य रूपकों में भी प्रतिपादित नान्दी व प्रस्तावना अपने चरम स्थायित्व को व्यक्त करते हैं।

जहाँ तक संस्कृत नाट्य साहित्य की विशिष्टता का प्रश्न है, उसकी विशिष्टता के प्रतीक रूप में अनादि काल से सतत् अवछिन्न अनेकानेक आयाम हैं जो उसकी

परिचयात्मक पृष्ठभूमि का मापदण्ड देने के लिए उपयुक्त हैं। जिसमें सर्वाधिक उपादेय संस्कृत की नाट्य शैली है। इसीलिए भले ही आज संस्कृत रूपकों में पूर्वरङ्ग कुछ ही अंशों में अवशिष्ट हो किन्तु अपनी अद्भुत शैली के कारण ये आज भी लोकप्रिय है और यदि इनकी तुलना पाश्चात्य साहित्य एवं अन्य साहित्य से की जाय तो भी इनकी ही उत्कृष्टता दिखाई देती है। सामान्य रूप से प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अत एव संस्कृत रूपकों की उत्कृष्टता के कई कारणों में प्रमुख कारण 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना है इसके साथ ही इसमें त्रासदी का अभाव भी एक मुख्य पक्ष है, अर्थात् क्योंकि संस्कृत नाटक सदैव सुखान्त होते हैं और रचनाकार की दृष्टि सापेक्ष एवं परिपक्व होती है, इसी कारण दर्शक व प्रयोजक दोनों को ही उत्कण्ठा बनी रहती है। जिसमें दर्शक को कुछ नया देखने व अनुभूति करने की तथा प्रयोजक को कुछ नवीन जोड़कर प्रस्तुत करने की उत्कण्ठा मुख्य है इसीलिए संस्कृत नाटक सदैव ही लोकानुरञ्जक व लोकोपकारक बनकर श्रद्धेय बना रहता है इसी श्रद्धा के कारण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्राचीन मान्यताओं की परम्परा को निभाते हुए समत्व, एकत्व रूप में प्रतिफलित होती है। अत एव प्राचीन कथानकों व राष्ट्रियता को आधार बना कर लिखे गये संस्कृत नाटक शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करते हुए एवं स्वेच्छावृत्ति से रचनाविधान करते हुए भी आज उच्च शिखर की ओर अग्रसर हैं।

नाट्यशास्त्र में जिस पूर्वरङ्ग का उल्लेख भरत ने किया है उसके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि चिर अतीत मे पूर्वरङ्ग ही एकमात्र नाट्य प्रक्रिया थी और उसका सम्बन्ध धर्म सेथा। आगे चलकर जब एतिहासिक व पौराणिक कथानकों की नाटकीयता प्रारम्भ हुई तब गीत, नृत्य आदि को सम्मिलित किया गया। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पूर्वरङ्ग की स्वतन्त्र सत्ता थी किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल भरत के द्वारा ही इसका विधिवत् उल्लेख किया गया है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि यह धार्मिक कृत्य रूप है और नाट्य में अवश्यमेव करणीय है किन्तु भरत के एकमात्र इस वाक्य ने इसके स्वरूप को बिगाड़ दिया कि पूर्वरङ्ग का विस्तृत या लघुरूप भी हो सकता है, तथा यह भी कहा कि इसका साङ्गोपाङ्ग निर्वाह क्रम

प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें कई कठिनाई आ जाती हैं। अतः सभी सामाजिक व दर्शक नाट्यारम्भ में नहीं आ पाते तो लम्बे पूर्वरङ्ग करें अन्यथा लघु पूर्वरङ्ग से ही काम चलाकर मनोरञ्जनार्थ नाटक प्रस्तुत कर दिये जायें इग्लैण्ड का कर्टेन रेजर्स ऐसी ही व्यवस्था का प्रतीक है।

इस प्रकार भरत ने तो पूर्वरङ्ग के अङ्गों को विस्तार से बताया परन्तु बाद में इन सभी अङ्गों का परम्परागत व्यापार एक रूढ़ि बनकर तथैव नहीं चल पाया। धीरे-धीरे अधिक विस्तार के कारण उबाने वाले प्रयोग अपना अस्तित्व खोने लगे तथा वर्तमान समयमें ये पूर्णरूपेण अपना अस्तित्व खो चुके हैं।

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित पूर्वरङ्ग विधान का जिस प्रकार विस्तृत व क्रमबद्ध वर्णन किया गया है, उस विधि का लोप रूपककारों के रूपकों में कब हो गया यह उपलब्ध साहित्य के आधार पर तो कहना कठिन है, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि इस दिशामें रूढ़िबद्धता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। अत एव पूर्वरङ्ग अपनी प्रतिष्ठा अधिक दिनों तक नहीं बना सका। यद्यपि आचार्यों ने इसे नियन्त्रित व मर्यादित रूप से प्रस्तुत करने का आदेश दिया था जिससे दर्शकों को वितृष्णा उत्पन्न न हो और वे ऊब का अनुभव न करें। फिर भी कितना ही नियन्त्रण रखाजाय यह ऐसी विधि है कि मुख्य नाटक का आस्वादन कुछ न कुछ व्याहृत अवश्य हो जाता है। इसी कारण धीरे-धीरे संक्षिप्तिकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूर्वरङ्ग विधि दृष्टि से ओझल हो गई, और आज जितना भी प्राचीनतम नाट्य साहित्य मिलता है उसमें सम्भवतः पूर्वरङ्ग का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता किन्तु परम्परा निर्वाह हेतु नान्दी व प्रस्तावना का प्रयोग मिल जाता है। यदि अपवाद रूप में देखें तो प्रत्यक्ष रूप से पूर्वरङ्ग का प्रयोग संस्कृत रूपकों में दिखाई नहीं देता किन्तु नवीं शताब्दी के दामोदरगुप्त रचित 'कुट्टनीमतम्' में इसका पूर्णरूपेण उल्लेख मिलताहै अर्थात् परोक्ष रूप से पूर्वरङ्ग के भरतानुसार प्रयोग का प्रमाण यहीं पर मिलता है। तात्पर्य यह है कि नवीं शताब्दी तक पूर्वरङ्ग का प्रयोग होताथा, तत्पश्चात् ही यह परम्परा लुप्त हुई।

इस प्रकार प्राचीन रूपकों में कुछ ही अंशों में शेष नान्दी व प्रस्तावना को भी आजकल अर्थात् वर्तमान रूपकों में नाट्यकारों की स्वेच्छावृत्ति ने लगभग समाप्त कर दिया है। फिर भी ध्वंसावशेष कहीं-कहीं शेष है, क्योंकि कतिपय लोक नाट्यों और नौटकियों में वास्तविक नाट्य प्रारम्भ करने के पहले पूजन आदि किया जाता है और प्रसाद वितरण होता है। यही विधि शुभ फलदायी मानी जाती है और जिनमें यह क्रिया अर्थात् धूप, दीप इत्यादि नहीं किया जाता उसमें भी पर्दा उठते ही समूहगान या एकाकीगान के द्वारा भगवान की स्तुति की जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य अपनी सीमित शक्ति के कारण कुछ धार्मिक प्रवृत्ति वाला होता है और अपने क्रिया कलाप की सफलता के लिए किसी लोकातीत कल्पित शक्ति की ओर आकृष्ट होता रहता है तथा अपनी समस्त असफलताओं का कारण दैवीरोष मानता है। इसीलिए आज के बुद्धिवादी युग में जब पुरानी थकान लाने वाली पूर्वरङ्ग की परम्परा समाप्त हो चुकी है फिर भी उस लोकोत्तर शक्ति की कृपा के उपार्जनार्थ मानव बुद्धि सदैव जागरूक रहती है।

इस प्रकार पूर्वरङ्ग-विधि आज यद्यपि अपने पारिभाषिक व प्रायोगिक रूप में समाप्त हो चुकी है किन्तु यह भावना आज भी विद्यमान है और किसी न किसी रूप मे निभाई जा रही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस पूर्वरङ्ग विधान का पालन प्राचीन रूपक भेदों में किया गया उसका उत्तरोत्तर विवेचन व विधान न्यून हो रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे प्रख्यात एवं अल्पप्रख्यात नाट्यविधाओं के शास्त्रीय स्वरूप को स्पष्ट कर यथा सम्भव उपलब्ध रूपकों में पूर्वरङ्ग के विवेचन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, किन्तु संस्कृत रूपक एवं रूपककारो की संख्या की असीमितता के कारण यहाँ सभी को प्रस्तुत करना सम्भव नही है इसलिए कुछ प्रमुख उपलब्ध प्राचीन एवं आधुनिक रूपकों एवं उपरूपकों के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि पूर्वरङ्गविधान संस्कृत साहित्य में अपने पारिभाषिक अर्थ में भले ही समाप्त हो चुका हो किन्तु आज भी यह संस्कृत साहित्य को गौरवान्वित कराते हुए

स्वयं पर्याप्त लोकप्रिय है क्योकि रमणीयकल्पना, सुखान्तता, हृदयग्राहिता, आकर्षकता, हितोपदेशता सुखप्रदता, मनोरंजकता, स्वस्थ नैतिकता व उच्च आदर्शों का जनमानस में सञ्चार कराने वाला रूपक पूर्वरङ्ग से रहित उसी प्रकार हो जायेगा जिस प्रकार मकरन्द हीन पुष्प व कान्ति क्षीण चन्द्रमा होता है।

अत एव संस्कृत-साहित्य के रूपकों की समीक्षा करते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पूर्वरङ्ग रहित नाट्य निष्प्राण, निष्पन्द व आकर्षण हीन हो जायेगा। अतः भावाभिव्यक्ति व रसाभिव्यक्ति हेतु संस्कृत रूपकों में पूर्वरङ्गविधान अवश्यमेव प्रयोजनीय है।

प्रबन्धोप्रयुक्त ग्रन्थावली एवं सङ्केत सूची

१.	अभिनवभारती टीका भाग-१	अभिनवगुप्त, व्याख्या- डॉ० नगेन्द्र, एक्सडीन फैकेल्टी, ऑफ दी ओरिएण्टल लर्निंग काशीहिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, संस्करण- १९६१ एवं गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा
२.	अभिनव नाट्यशास्त्र प्रथम खण्ड	सीताराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण- १९६० संवत (२००८) प्रकाशक- अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी
३.	अभिनयदर्पण	नन्दिकेश्वर, व्याख्या- देवदत्तशास्त्री, प्रथम संस्करण- १९५६
४.	अभिनयदर्पण	नन्दिकेश्वर, के० एल० मुखोपाध्याय कलकत्ता- १९५७
५.	अग्निपुराण	श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान बरेली एवं बलदेव उपाध्याय, काशी संस्कृत सीरीज, १९६६
६.	आधुनिक संस्कृत साहित्य	हीरालाल शुक्ल
७.	आधुनिक संस्कृत नाटक भाग १, २	राम जी उपाध्याय, प्रथम संस्करण- १९७७
८.	उपरूपकों का उद्भव और विकास	डॉ० इन्द्रा चक्रवाल
९.	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र, सं० रसिक लाल पारिख, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९३८
१०.	काव्यालङ्कार	भामह, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना

११.	काव्यालङ्कार	रूद्रट, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली- १९६५
१२.	कालिदास का नाट्यकल्प	श्यामारमण पाण्डेय, प्रथम संस्करण-१९८४
१३.	कालिदास व भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	सुरेन्द्रदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण- १९६९
१४.	दशरूपक	(१) धनञ्जय तथा धनिक, अवलोक टीका सहित, बहुरूप मिश्र, गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल मेन्यस्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास,
		(२) एवं श्री निवास शास्त्री, टीका-साहित्य भण्डार प्रकाशन, मेरठ, १९९४
		(३) हिन्दी दशरूपक- भोला शङ्कर व्यास, साहित्य निकेतन कानपुर, १९६६
		(४) नान्दी टीका सहित- राम जी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान इलाहाबाद १९७७
		(५) अवलोक टीका सहित निर्णय सागर प्रेस, संस्करण-५, १९४१
१५.	नाट्यशास्त्र रघुवंश भाग-१	भरत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१, १९६३
१६.	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा
१७.	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि, काशी संस्कृत सीरीज बलदेव उपाध्याय वटुकनाथ शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन १९२९
१८.	नाट्यशास्त्र भाग-१	(अनुवाद व्याख्या सहित) मोतीलाल

		बनारसीदास दिल्ली, १९६३
१९.	नाट्यशास्त्र	(हिन्दी प्रदीप व्याख्या) बाबूलाल शुक्ल, चौखम्भा, वाराणसी द्वितीय संस्करण, वि०सं० २०४०
२०.	नाट्यदर्पण	१. रामचन्द्र गुणचन्द्र (हिन्दी व्याख्या) डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१,
		२. विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय १९६०
२१.	नाटकलक्षणरत्नकोश	सागरनन्दी-बाबू लाल शुक्ल, प्रथम संस्करण-१९७२
२२.	नाटकचन्द्रिका	रूपगोस्वामी, बाबू लाल शुक्ल, प्रथम संस्करण- १९६४
२३.	नाट्यसर्वस्वदीपिका	आदि भरतकृत सं० आ० रूद्रदेव त्रिपाठी, प्राच्य निकेतन, उज्जैन, १९८८
२४.	नाट्य शिल्प और रङ्गमञ्च	रामचन्द्र सरोज, राका प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- १९९२
२५.	नाट्यकला मीमांसा	डॉ० गोविन्द दास, १९६१
२६.	नाट्यकला	रघुवंश, प्रथम संस्करण- १९६१
२७.	नाट्यदर्शन	शान्ति गोपाल पुरोहित, प्रथम संस्करण-१९७०
२८.	नाटक और रङ्गमञ्च	ललित कुमार शर्मा, प्रथम संस्करण- १९८५
२९.	नाट्यनिर्णय	रमाशङ्कर शुक्ल रसाल, प्रथम संस्करण, १९३०
३०.	नाट्यशास्त्रविश्वकोश भाग-१,२,३,४	राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, १९९९

३१.	नाट्य परिवेश	कन्हैया लाल नन्दन
३२.	नाट्य विमर्श	नरनारायण राय
३३.	नाट्य रचना विधान और आलोचना के नये प्रतिमान	नर नारायण दास
३४.	नाट्य प्रदीप	सुन्दरमिश्र
३५.	नाट्यसमीक्षा	दशरथ ओझा, द्वितीय संस्करण
३६.	नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० शशि शेखर नैथानी
३७.	नृत्तरत्नावली	जायसेनापति, मद्रास गवर्नमेंट ओरिएण्टल सीरीज, १९६५
३८.	नाटिका विमर्श	जय श्री सिन्हा, प्रकाशक कैपिटल पब्लिशिंग हाउस, १९८६
३९.	भावप्रकाश	शारदातनय
		१. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन (वाराणसी) संस्करण द्वितीय १९८३
		२. ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, १९३०
४०.	भारतीय नाट्यस्वरूप और परम्परा	राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रथम संस्करण १९८८
४१.	भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य	शान्तिमलिक, प्रथम संस्करण, १९९३
४२.	भरत और भारतीय नाट्यकला	सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, प्रथम संस्करण, १९७०
४३.	भारतीय नाट्यशास्त्र और	रामसागर त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, १९७१

रङ्गमञ्च

४४.	भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण	वाचस्पति गैरोला, द्वितीय संस्करण, १९७१
४५.	भाण साहित्य की समीक्षा	डॉ० श्री निवास मिश्र
४६.	भरतार्णव नन्दिकेश्वर	(हिन्दी अनुवाद) वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा अमर भारती वाराणसी, १९७८
४७.	भास की भाषा सम्बन्धी तथा नाटकीय विशेषतायें	डॉ० जगदीश चन्द्र दीक्षित, प्रकाशन आर्य बुक डिपो नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७
४८.	भारतीय काव्यशास्त्र	निशा अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९६६
४९.	भारतीयनाट्यशास्त्र व रङ्गमञ्च	गोविन्द वल्लभपन्त, संस्करण १९५१
५०.	मध्यकालीन संस्कृत नाटक भाग १,२	राम जी उपाध्याय, प्रथम संस्करण- १९७४
५१.	रङ्गभूमि भरतीय नाट्यसौन्दर्य	लक्ष्मी नारायण लाल, प्रथम संस्करण- १९८९
५२.	रङ्गमञ्च नया पदृिश्य	रीता रानी पालीवाल, प्रथम संस्करण- १९८०
५३.	रूपक रहस्य	श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण स० २००६
५४.	रसार्णवसुधाकर	शिङ्गभूपाल त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९७६
५५.	व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस
५६.	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ १. विमलाटीका मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९६१

		२. चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९५७
५७.	सङ्गीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव, आड्यार लाइब्रेरी, १९४४
५८.	संस्कृत नाटक	(उद्भव और विकास सिद्धान्त और प्रयोग) डॉ० उदयभानु सिंह, प्रथम संस्करण १९६५
५९.	संस्कृत नाटकालोचन	चुन्नी लाल शुक्ल, प्रथम संस्करण १९७२
६०.	संस्कृत के एतिहासिक नाटक	डॉ० श्याम शर्मा, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, शोध-प्रबन्ध
६१.	संस्कृत नाटक समीक्षा	प्रो० इन्द्रपाल सिंह, प्रथम संस्करण- १९६०
६२.	संस्कृत नाट्य साहित्य	जयकिशन प्रसाद खण्डेवाल, प्रथम संस्करण- १९६४
६३.	संस्कृत साहित्य मेंप्रहसन	राधा बल्लभ त्रिपाठी, नमिता अग्रवाल, प्रथम संस्करण १९८५
६४.	संस्कृत नाट्य सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष	मुहम्मद इसराइल खॉ, प्रथम संस्करण- १९९९
६५.	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	कपिलदेव द्विवेदी
६६.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला, १९९९
६७.	संस्कृत वाङ्मय का वृहत् इतिहास	बलदेव उपाध्याय, सम्पादक जगन्नाथ पाठक, सप्तम खण्ड, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, प्रथम संस्करण- वि० सं० २०५६ (२००० ई०)
६८.	शृंगार प्रकाश	भोजराज
६९.	हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण

संस्कृत रूपक ग्रन्थ

१.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास
		१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, संस्करण १९७८, इलाहाबाद
		२. साहित्य भण्डार, मेरठ
२.	अनर्घराघव	मुरारि
३.	इन्दुमती परिणय	नाटक, शिवाजी महाराज
४.	उरूभंग	भास, धरानन्द शास्त्री कृत संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास
५.	उत्तररामचरितम्	भवभूति, आनन्द स्वरूप, पं० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, द्वितीय संस्करण १९७७ मोती लाल बनारसी दास
६.	उषारागोदया नाटिका	रूद्रचन्द्र देव
७.	कर्णभार	भास, धरानन्द शास्त्रीकृत सं० हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास
८.	कुन्दमाला	दिङ्नाथ
९.	कर्पूरचरित (भाण)	वत्सराज
१०.	किरातार्जुनीयम् (व्यायोग)	वत्सराज
११.	कैलाशमाथविजय (व्यायोग)	जीवन्यायतीर्थ
१२.	कर्णसुन्दरी (नाटिका)	विल्हण

१३.	कर्पूरमञ्जरी (सट्टक)	राजशेखर गंगासागर राय कृत, हिन्दी संस्कृत व्याख्या, प्रथम संस्करण १९७९, मोतीलाल बनारसीदास
१४.	चन्द्रकला नाटिका	विश्वनाथ
१५.	दूतवाक्यम्	भास धरानन्द शास्त्रीकृत, हिन्दी संस्कृत व्याख्या मोतीलाल बनारसी दास
१६.	दूतघटोत्कच	भास, धरानन्द शास्त्रीकृत, हिन्दी संस्कृत व्याख्या मोतीलाल, बनारसीदास
१७.	नवग्रहचरित सट्टक	घनश्याम
१८.	प्रतिमानाटकम्	भास, धरानन्द शास्त्रीकृत, हिन्दी संस्कृत व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास
१९.	पञ्चरात्रम्	भास, धरानन्द शास्त्री कृत हिन्दी संस्कृत व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
२०.	प्रबोधचन्द्रोदय	(प्रतीकात्मक नाटक) कृष्ण मिश्र
२१.	प्रियदर्शिका नाटिका	श्रीहर्ष
२२.	पञ्चामृतम्	राजेन्द्र मिश्र
२३.	बालभारत	कर्पूरमञ्जरी सहित, निर्णय सागर, बम्बई १९४७
२४.	मध्यमव्यायोग	भास, धरानन्द शास्त्रीकृत, हिन्दी संस्कृत व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
२५.	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास, संस्कृत हिन्दी व्याख्या डॉ० रमा शङ्कर पाण्डेय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
२६.	मालती माधव	भवभूति, निर्णय सागर, १९३६
२७.	महावीरचरितम्	भवभूति, चौखम्भा विद्याभवन, वनारस १९५५

२८.	मुद्राराक्षस	विशाख दत्त रमाशङ्कर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी १९७१
२९.	मृच्छकटिकम् (शूद्रक)	१. श्री निवास शास्त्री, अष्टम संस्करण १९६६
		२. साहित्य भण्डार मेरठ १९६८
३०.	मृच्छकटिकम्	(शास्त्रीय सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन) शालग्रामद्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, १९९८
३१.	मुकुन्दानन्द भाण	काशीपति
३२.	रससदन भाण	कवियुवराज
३३.	रत्नावली नाटिका	श्री हर्ष, साहित्य भण्डार, मेरठ
३४.	ललितमाधव	रूपगोस्वामी
३५.	वेणीसंहार	भट्टनारायण, हरिदास संस्कृत सीरीज १२१, वाराणसी १९६५
३६.	विदग्ध माधव	रूपगोस्वामी
३७.	विक्रमोर्वशीय	कालिदास, हिन्दी संस्कृत व्याख्या, विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र, कृष्णदास संस्कृत सीरीज चौखम्भा १९८४
३८.	वसुलक्ष्मी कल्याण नाटक	सदाशिव दीक्षित
३९.	शृंगारभूषण	(भाण) वामनभट्ट वाण
४०.	शृंगारतिलक	(भाण) रामभद्र दीक्षित
४१.	सौगन्धिकाहरण	व्यायोग विश्वनाथ
४२.	स्यमन्तकोद्वार व्यायोग	कालीपद

४३. स्वप्नवासवदत्ता — भास, धरानन्द शास्त्रीकृत, संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसी दास

English Books and writer

१.	Sanskrit Drama	A.B. Keith, Translator Mangal Dev Shastri, publisher Moti lal Banarasi das Delhi IInd eadi, 1965
२.	History of Sanskrit Poetics (H.S.P)	P.V. Kande, Moti lal Banarasi das Delhi
३.	Sanskrit Poetics	S.K Dey, K.L Mukhopadhyay Calcutta eadiation-1960
४.	The Types of Sanskrit Drama	Mankad
५.	Sanskrit English Dictionery and History of Sanskrit liteeture	Monier villiams, Webar
६.	Dramas of Dramatic Dances of non Euoropean Races	Prof. Ridgeway
७.	Sten Konow Dance and drama	Barlin- eadiation-1920
८.	Drama in Sanskrit liteatrue	R.V Jagirdar- eadiation-1947

पत्र-पत्रिकायें

१.	संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक का स्वरूप भेद-प्रभेद	डॉ० त्रिगुणायत का लेख
२.	नाट्य-१४ में प्रकाशित	इन्दुजा अवस्थी के लेख, प्रकाशन दिल्ली १९७९
३.	नाट्यम पत्रिका ४८ वी. प्रस्तुति	संम्पादक राधाबल्लभ त्रिपाठी, नाट्य परिषद संस्कृत विभाग, सागर (म०प्र०)
४.	नाट्यम् पत्रिका ४२ वी० प्रस्तुति	सं० राधाबल्लभ त्रिपाठी, नाट्यपरिषद संस्कृत विभाग, सागर (म०प्र०)
५.	शोध प्रभापत्रिका	प्रधान सं० प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, सं० प्रो० रमेश कुमार पाण्डेय, प्रकाशन श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-११००१६